॥ श्री ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला

५७

यास्कप्रणीतं

निरुक्तम्

[प्रथमद्वितीयतृतीयचतुर्थसप्तमाध्यायात्मकं राष्ट्रभाषानुवादटिप्पणीविशिष्टभूमिकादिभिर्वलितं च]

सम्पादक —

प्रो० उमाशंकरशर्मा 'ऋषिः'

एम्० ए०, साहित्यरत्नम्

(लब्धस्वर्णपदक)

संस्कृतविभाग, पटना-कालेज



चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी-१

१९६६

प्रकाशक : चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी
संस्करण : द्वितीय, संवत् २०२२ वि०
मूल्य : ७–५०



Phone : 3076

THE

VIDYABHAWAN SANSKRIT SERIES

57.

THE

NIRUKTA OF YĀSKA

(Critically edited with a Comprehensive Introduction, Hindi Translation, explanatory notes etc.)

CHAPTERS-1, 2, 3, 4 & 7 ONLY.

By

Prof. Uma Shankar Sharma 'Rishi'

Sāhityaratna, M. A. (Gold Medallist)

Lecturer in Sanskrit,

Patna College, Patna.

THE

CHOWKHAMBA VIDYA BHAWAN

Post Box 69, Varanasi-1 (India)

Second Edition
1966
Price : 7-50

मङ्गलाचरणम्

प्रणम्य पितरौ पूर्वं सर्वानाचारवद्गुरून् ।
निरुक्तार्थप्रकाशाय वाङ् मया व्यवसीयते ॥ १ ॥

उपकाराय साधूनामपकाराय चासताम् ।
सुव्याख्याबोधितो विद्वान्द्विविधां वृत्तिमीहते ॥ २ ॥

क्व निरुक्तसमो ग्रन्थः क्व बालो वयसा धिया ।
केवलं सच्चिदानन्दमाश्रयेऽहं सनातनम् ॥ ३ ॥

जम्बूमार्गाश्रमनिवसता दुर्गसिंहस्य वृत्तिं
दर्शं दर्शं मनसि निखिला शान्तिरुत्पद्यते मे ।
प्राप्तं किञ्चिन्नवलविदुषां शोधकार्यादपीह
ग्रन्थेऽस्मिंस्तद्ग्रथितमिदमालोक्यतामादरेण ॥ ४ ॥

'ऋषि.'

FOREWORD

Dr Tarapada Chowdhury,
M A Ph D (Lond)
Head of the Department of Sanskrit,
Patna University

It is a Pleasure for me to write a few words regarding Shri Uma Shankar Sharma's Hindi translation of the Nirukta of Yaska It is a word for word translation and is therefore, expected to inspire the general reader and to be helpful to a research Scholar in understanding the linguistic problems of the then mind There are certain references to social and cultural matters as well Moreover Yaska is the first interpreter of Vedic hymns

Shri Sharma is a serious student of the Vedic literature reconciling both the eastern and the western methods of its study I hope that his translation if completed will faithfully bring in his own Vernacular ample material for a study of several aspects of the Vedic Age I have also seen the outlines of his Introduction to the Nirukta which if carefully written, will also be a treasure of the Nirukta literature

Patna }
3-10-51 }

T Chowdhury

विषय सूची



आत्म-निवेदन

जिसके निश्वासोपम ये, श्रुतियाँ समस्त भूतल में,
मधुमय अनन्त आमोद, भरती रहतीं प्रतिपल में।
वह जगदीश्वर, मायावी, नूतन प्रकाश का दाता,
करुणामय, दीन अकिंचन, जन का सदैव हो त्राता॥

और हिन्दी निरुक्त? नाम कुछ बेढंगा-सा लगता है जरूर, पर क्या करेंगे, आजकल की हवा ही ऐसी बह चली है। लीजिए, हिन्दी ऋग्वेद, जिसका अर्थ है हिन्दी में ऋग्वेद, न कि हिन्दी का ऋग्वेद! सो भलेमानस, अगर आपको हिन्दी का निरुक्त देखना है तो पं० किशोरीदास वाजपेयी की कलम की करामात देखिए। यह है हिन्दी में निरुक्त—उसके पढ़ने का नया ढंग, नई बातें और नया लेखक! बस, बन गई नई बात!

टीका का अर्थ? 'सर्वस्व हर सर्वस्व च भवच्छेदतत्पर'—सबों का सब कुछ हरण कर लो, चोरी करने (Plagiarism) में मत चूको और काट छाँट (अर्थात् छेद) भी करते चलो। इसमें भी सारी दुनिया की बातें जहाँ-तहाँ से लाकर भर दी हैं, कुछ टिप्पणियाँ जोड़ दीं, थोड़ी भूमिका, और बन गई पुस्तक! यही है इतिहास, प्रेरणा, विषय-वस्तु विस्तार!

निरुक्त मेरे जीवन का संगी? छात्रावस्था में इसके अनुवाद का बीजारोपण, नालंदा में गवेषणा करते हुए (घबराये नहीं, गवेषणा का विषय बौद्ध-न्याय था, निर्देशक थे डा० सातकड़ी मुखोपाध्याय, जिन्होंने ठोंक-पीट कर मुझे विकसित करने का पूरा प्रयास किया) विस्तार तथा अब अध्यापन-काल में फल-फूल! ज्ञान का क्रमशः विकास, स्थान और परिवर्तनों के साथ साथ कार्य में प्रगति!!

अनुवाद का कार्य कितना कठिन है, इसे भुक्तभोगी ही जान सकता है। कहाँ विक्रम पूर्व सप्तम शती की भाषा और कहाँ आज का युग—यही कारण है कि स्पष्टीकरण के लिए जहाँ तहाँ ब्रैकेटों कोष्ठकों का प्रयोग करना पड़ा। मूल-पाठ में वैदिक-उद्धरणों के स्थान संकेत न देकर अनुवाद में ही उसे दिया है। मेरा लक्ष्य है कि केवल अनुवाद पढ़कर ही पाठक यास्क के विचारों से परिचित हो जायँ। समूची पुस्तक में सामान्य वर्ग के पाठकों पर ही विशेष ध्यान रहा है। पाण्डित्यपूर्ण टीकायें तो बहुत-सी हैं। उनकी ओर भी जागरूकता उत्पन्न करने की चेष्टा की गयी है।

जी हाँ, हिन्दी की ही चीज हो गई। हमारे गौरवोद्धारी गुरु बेतरह नाराज हैं। मूल पाठ में सन्धियाँ को तोड़ दिया है, विराम चिह्नों का अत्यधिक प्रयोग किया है—निरुक्त का पाठ ही आधुनिक वेश भूषा में सुसज्जित हो गया है। आप की इच्छा है तो सन्धि मिलाकर ही पढ़ें, समझें और समझायें !! यह काम आसान है अपेक्षाकृत उसके कि सुश्लिष्ट, सन्धियुक्त पदों को तोड़ा जाय (आप 'दमा-दमन' और 'दमाद-मन' की कथा जान ही रहे होंगे)।

जहाँ तहाँ टिप्पणियाँ दी हैं जिनमें बहुत धृष्टता दिखाकर कितने लोगों के विचारों का खण्डन किया है। उनमें मूल की व्याख्या कम ही पायेंगे। उसके लिए भूमिका का तृतीय परिच्छेद अवलोकनीय है। भूमिका नालन्दा में लिखी गई थी, वहाँ के पुस्तकालय में प्राप्त सारी सामग्रियों का उपयोग किया गया है—इसमें सन्देह नहीं। उसके बाद सबसे बड़ पुस्तकालय डा० सातकड़ी मुखोपाध्याय (डिरेक्टर, नवनालन्दा महाविहार) के अप्रतिम ज्ञान का मैं ऐसा ऋणी हूँ कि कई जन्मों तक भी उनसे उऋण होने को नहीं।

निघण्टु का मूल पाठ एवं वैदिक-मंत्रों का पद्यानुवाद भी साथ में लगा दिया है। पद्यानुवाद तो सीमित अक्षरों में होता है, उसकी कठिनाई क्या कहें, भाषा की रक्षा होती नहीं, वहीं समझ लें कि अनुवाद भर हो जाता है। इससे भी अच्छा अनुवाद हो सकता था पर किशोरावस्था में किये गये अनुवादों पर कलम चलाने का साहस नहीं हुआ, ज्यों का त्यों दे दिया।

'वन्दों प्रथम अमञ्जन चरना'—यद्यपि पद-पद पर असज्जन मिलते रहते हैं, किन्तु इस कार्य में व्याघात डालनेवालों का क्या कहना ? उन्हें दूर से ही प्रणाम कर विराम लेता हूँ।

इसमें प्रोत्साहन देनेवालों की भी कमी नहीं। सर्वप्रथम मैं सुगृहीतनामधेय, हिन्दी के मूर्धन्य आलोचक आचार्य नलिनविलोचन शर्मा जी का नाम लूँ जिन्होंने मेरी कृतियों पर मुझे बधाई दी है तथा निरुक्त के कार्य में भी आशीर्वचन व्यक्त किये हैं। डा० वचन झा का भी मैं कम कृतज्ञ नहीं जो जहाँ-तहाँ मेरा परिचय देते समय मेरे निरुक्त एवं विशेषतया इसकी भूमिका-सम्पत्ति की चर्चा कर दिया करते हैं।

यदि पाठकों ने इसे पसन्द किया तथा प्रकाशक बन्धुद्वय (आदरणीय श्री मोहनदास तथा विट्ठलदास जी गुप्त) का वरद कर साथ रहा तो शीघ्रातिशीघ्र संस्कृत की अन्यान्य कृतियों का भी हिन्दी रूपान्तर (व्याख्या के साथ) उपस्थित करने में कुछ भी कसर नहीं रहेगी।

पोन्दिल (गया)
वैशाखीपूर्णिमा, २०१८

—'ऋषि'

भूमिका की विस्तृत-सूची

परिच्छेद १— भारतीय-वाङ्मय और वैदिक-साहित्य

वेद, संसार का प्रथम-साहित्य—उनकी महत्ता—विभाजन—संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्—संहिताओं का संक्षिप्त-वर्णन—उनसे सम्बद्ध ब्राह्मणादि की गणना—वेदाङ्ग—शिक्षा—कल्प—व्याकरण—छन्द—ज्योतिष—निरुक्त—अन्य वेदाङ्गों से भिन्नता।

परिच्छेद २—निघण्टु तथा निरुक्त

निघण्टु, वैदिक शब्दों का संग्रह—निरुक्त, इसी का भाष्य—निघण्टु और निरुक्त का विभाजन—नैघण्टुक-काण्ड—पर्याय शब्दों का संग्रह—नैगम काण्ड—कठिन-शब्दों का संग्रह—दैवत-काण्ड—देवताओं के नामों का संग्रह—निरुक्त का परिचय—शैली—विचित्र-शब्दों का प्रयोग—निघण्टु अनेक थे—उनका लक्षण—वर्तमान-निघण्टु का रचयिता—निघण्टु और निरुक्त के रचयिता एक ही व्यक्ति नहीं थे—विरोधी तर्क और खण्डन—निष्कर्ष।

परिच्छेद ३—निरुक्त की विषय-वस्तु

[क] प्रथम-अध्याय—इसकी तुलना—निघण्टु की रूपरेखा, आन्तरिक तथा बाह्य—पद-भेद—नाम और आख्यात—उपसर्ग—निपात और उनके भेद—शब्द नित्य हैं या अनित्य? पतञ्जलि—स्फोटवाद—मीमांसकों की युक्ति—प्लेटो—भाषा में मनुष्यों और देवताओं का ऐक्य—भावविकार—शब्दों का धातुज-सिद्धान्त—शाकटायन और गार्ग्य—गार्ग्य का पूर्वपक्ष—यास्क के उत्तर—सभी शब्दों को धातुज मानने के कुफल—सिद्धान्त की विशेषता—निरुक्त की उपयोगिता—मन्त्र निरर्थक हैं या सार्थक?—कौत्स का पूर्वपक्ष और यास्क का उत्तर।

[ख] द्वितीय-अध्याय—क्या द्वितीय-अध्याय से ही निरुक्त आरम्भ हुआ है?—निर्वचन के सिद्धान्त—शब्दों में परिवर्तन—स्कोल्ड का विचार—वैदिक और लौकिक शब्दों का सम्बन्ध—उपभाषायें—अनुबन्ध-चतुष्टय और अधिकारी की जाँच—निघण्टु के शब्दों की व्याख्या—ऋचाओं के उद्धरण—'गो' के अर्थ—इतिहास—वृत्र का रूपक।

[ग] तृतीय अध्याय—निघण्टु के द्वितीय तृतीय अध्यायों के शब्दों की व्याख्या—स्वपरता—औरस पुत्र की श्रेष्ठता—वशिष्ठ का उपाख्यान—पुत्र का उत्तराधिकार—पुत्री का उत्तराधिकार—तर्क—भ्रातृहीन नारी का उत्तराधिकार-गर्तारुक् शब्द—पुत्री का उत्तराधिकार-निषेध—पचनन—कतिपय प्रातिपदिक हीन शब्द—उपमा—लक्षण—उसके कर्म तथा प्रकार—रूपमूला उपमा—शब्दानुकृति—नैघण्टुक काण्ड की समाप्ति।

[घ] चतुर्थ अध्याय—नैगम या ऐकपदिक-काण्ड, इसकी विशेषता—जहा, निधा, दमूना, मूष—कुरुतन—तितउ—भाष्य में उद्धरण—शुन्ध्यु के विभिन्न अर्थ—निपात—नूचिन्, नूच—कच्छप—च्यवन और इनका इतिहास—रन और हर—यम-यमी संवाद—अदिति और सर्वश्वरवाद—उदात्त और उसका प्रयोग—प्रहेलिका मन्त्र—इनकी उत्पत्ति की कल्पना।

[ङ] सप्तम अध्याय—देवता-विज्ञान—ऋचाओं के भेद—विषय—मन्त्र में देवता की पहचान—देवताओं के तीन भाग—विभाजन की अन्य रीतियाँ—देवताओं से सम्बद्ध वस्तुएं—एकदेववाद—बहुदेववाद—सर्वेश्वरवाद—हैनोथिज्म—स्वरूप विचार—मानवीकरण—उसकी विशेषतायें—अग्नि, जातवेदस, वैश्वानर—प्रारम्भिक विज्ञान।

परिच्छेद ४—यास्क का निर्वचन

निर्वचन का अर्थ—आधुनिक निर्वचन—इसकी कठिनाइयाँ—व्यापक अध्ययन की आवश्यकता—यास्क की विशेषता—यास्क के ध्वनि नियम—यास्क के निर्वचन की विशेषतायें—यास्क के निर्वचनों के स्वरूप—निर्वचनों की दुर्बोधता और उसके कारण—निष्कर्ष।

परिच्छेद ५—निरुक्त और वैदिक वाङ्मय

निरुक्त का किसी वैदिक शाखा से सम्बन्ध—विभिन्न संहिताओं के उद्धरण—निरुक्त किसी एक वेद से सम्बद्ध नहीं है—यास्क की बहुज्ञता—डा० सरूप—अथर्ववेद—डा० स्कोल्ड—उद्धरणों की सारणी—निरुक्त और वेदार्थ—वैदिक अर्थ करने के विभिन्न-सम्प्रदाय—सायण—दयानन्द—अरविन्द—भाषाविज्ञान—धारणा के अनुसार व्याख्या—निरुक्त की व्याख्या शैली।

परिच्छेद ६—निरुक्त और व्याकरण

निरुक्त और व्याकरण में सम्बन्ध—व्याकरण की प्राचीनता—व्याकरण का

भूमिका

प्रथम-परिच्छेद

भारतीय-वाङ्मय और वैदिक-साहित्य

[वेद, संसार का प्रथम साहित्य—उनकी महत्ता—विभाजन—संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्—संहिताओं का संक्षिप्त-वर्णन—उनसे सम्बद्ध ब्राह्मणादि की गणना—वेदाङ्ग—शिक्षा—कल्प-व्याकरण-छन्द—ज्योतिष—निरुक्त—अन्य वेदाङ्गों से भिन्नता ।]

किसी देश की संस्कृति का पूरा ज्ञान हम उसके साहित्य से ही कर सकते हैं । जिस देश का साहित्य जितना प्रौढ़, गम्भीर और विस्तृत होता है उसकी संस्कृति भी उतनी ही उच्च मानी जाती है । साहित्य को समाज का दर्पण कहा गया है अर्थात् साहित्य द्वारा हम किसी जाति की सभ्यता, संस्कृति, सम्पत्ति, उदारता आदि का सम्यक् ज्ञान पा सकते हैं । भारतवर्ष की जो प्रतिष्ठा आज विश्व मे है अधिकांशतः वह उसके प्राचीन-साहित्य पर ही अवलम्बित है । प्रायः सभों ने यह स्पष्ट-रूप से स्वीकार कर लिया है कि संसार का सर्वप्रथम साहित्य भारत में ही वेदों के रूप में अवतीर्ण हुआ ।[1]

वेदों पर भारतवर्ष को गौरव है और उनकी प्रतिष्ठा अक्षुण्ण रखने के लिए उनसे सैकड़ों वर्ष तक उन्हें मौखिक-रूप में रखा, प्रत्येक कर्म में उनका पाठ अनिवार्य हो गया, तथा 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' का स्वरोद्‌घोष भी किया गया । पीछे का समस्त भारतीय वाङ्मय किसी-न-किसी रूप में वैदिक-साहित्य का ऋणी है । धर्म, दर्शन, विज्ञान आदि विभिन्न विषयों की उत्पत्ति के लिए हमें वैदिक-साहित्य का ही आलोडन करते है । वेदों का अर्थ ही है ज्ञान का समूह (√विद् = ज्ञान) । आज वेदों का अध्ययन विद्वान् लोग न केवल धर्म-कर्म

१. मोहन-जो-दारो की अपठित शिलालिपि (सिन्ध, ४५०० ई० पू०) तथा बोगाज कोई की हित्ताइत शिलालिपि (तुर्की, १४०० ई० पू०) को लोग वेदों से पूर्व मानते हैं । वेदों का काल—१२०० ई० पू० (मैक्समूलर), २००० ई० पू० (विन्टरनित्स), ४५०० ई० पू० (तिलक तथा जैकोबी), और २५००० ई० पू० (अविनाश चन्द्र दास) तक मानते हैं ।

आदि के ज्ञान के लिए करते हैं प्रत्युत उनके आधार पर प्राचीन-सभ्यता, आर्यों की मूल-भाषा, मानव का इतिहास आदि विषयों का भी पता लगाते हैं।

यद्यपि वेदों से 'मन्त्रब्राह्मणात्मक. शब्दराशिर्वेद' (आप० परि० ३१) के अनुसार केवल मन्त्रभाग और ब्राह्मण-भाग का ही ग्रहण प्राचीन-आचार्यों ने किया है किन्तु उनका यह लक्षण केवल कर्मकाण्ड तक ही सीमित था, अतएव पाश्चात्य-गवेषकों ने भाषा के आधार पर वैदिक और लौकिक संस्कृत का भेद देखकर वैदिक-भाषा में लिखे गये समस्त साहित्य को 'वैदिक' नाम से अभिहित किया है। इस प्रकार वे वैदिक-साहित्य को चार खण्डों में (भाषा के अनुसार कालों में) बाँटते हैं—संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्। संहिता-भाग में मन्त्रों का संग्रहमात्र है और ये सबसे अधिक प्राचीन हैं। ब्राह्मण-भाग मन्त्रों का याज्ञिक उपयोग बतलाता है, यह अधिकांशतः गद्य में है। आरण्यकों और उपनिषदों में दार्शनिक-भावना उद्भूत हुई है; इनमें ऋषियों के ईश्वर, संसार और जीव-सम्बन्धी आध्यात्मिक विचारों का गद्य-पद्यात्मक वर्णन है।

संहिता-भाग के भी चार खण्ड हैं—ऋक्, यजु:, साम और अथर्व जिनमें प्रत्येक से सम्बद्ध ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषद् अलग-अलग हैं। उस समय तक लेखन-कला का आविष्कार न होने के कारण इन्हें कण्ठस्थ ही रखा गया और विभिन्न-कुलों में भिन्न-भिन्न रूप से पाठ होने के कारण इनकी कई शाखायें हो गई। फिर भी प्रत्येक शाखा के अपने-अपने ब्राह्मणादि निश्चित थे। कालान्तर में बहुत-सी शाखायें लुप्त हो गई। पतञ्जलि ने ऋग्वेद की २१, सामवेद की १०००, यजुर्वेद की १०१ और अथर्ववेद की ९ शाखाओं का उल्लेख किया है।[१] इनमें प्रत्येक शाखा स्वतन्त्र-रूप से वेद है।

ऋग्वेद—में ऋचाओं का संग्रह है तथा समस्त वैदिक-साहित्य में यह सबसे बड़ा है। इसकी केवल एक शाकल-शाखा ही इस समय उपलब्ध है। अन्य सभी वेदों में इसके मन्त्र संगृहीत हैं। ऋग्वेद के विभाजन की दो प्रणाली हैं—अष्टक-अध्याय-वर्ग तथा मण्डल-सूक्त-अनुवाक। तदनुसार यह आठ अष्टकों या दस मण्डलों में विभक्त है। पिछला विभाजन ऐतिहासिक है अतएव सभी आधुनिक-विद्वान् ऋग्वेद के उद्धरण देते समय इसी प्रणाली का आश्रय लेते हैं। ऋग्वेद के प्रथम तथा दशम मण्डल अर्वाचीन हैं जिसे भाषा, देवता आदि के आधार पर सिद्ध किया जाता है। केवल ७५ मन्त्रों को छोड़कर सामवेद—

१. महाभाष्य—पृष्ठ ७१ (बम्बई)—एकशतमध्वर्युशाखाः सहस्रवर्त्मा सामवेदः, एकविंशतिधा बाह्वृच्यं नवधाऽऽथर्वणो वेदः।

संहिता के सभी मन्त्र ऋग्वेद से लिये गये हैं जिनमें अधिकांश नवम-मण्डल (सोमविषयक) के हैं। सामवेद के पूर्वार्चिक और उत्तरार्चिक दो भाग हैं जिनमें सभी मन्त्र संगीत के योग्य हैं। साम-गान में सात स्वरों का उपयोग होता है। यजुर्वेद के दो भेद हैं—शुक्ल एवं कृष्ण। शुक्ल-यजुर्वेद में केवल मन्त्रों का संग्रह है विनियोग-वाक्यों का नहीं। इसकी संहिता वाजसनेयी-संहिता कहलाती है (४० अध्याय) जिसकी दो प्रधान शाखायें—माध्यन्दिन (उत्तर भारत) और काण्व (दक्षिण) हैं। कृष्ण-यजुर्वेद में मन्त्रों के साथ-साथ विनियोग-वाक्य भी हैं। इसकी चार शाखायें प्राप्त हैं—तैत्तिरीय (अष्टक-प्रश्न-अनुवाक में विभक्त), मैत्रायणी, काठक तथा कठ-कापिष्ठल संहितायें। दोनों यजुर्वेद प्रायः गद्य में हैं जो वैदिक-साहित्य का प्रथम गद्य है। अथर्ववेद में अभिचार-मन्त्र (मारण, मोहन आदि) संगृहीत हैं तथा यह बीस काण्डों में विभक्त हैं जिनके भीतर क्रमशः प्रपाठक, अनुवाक, सूक्त और मन्त्र सन्निविष्ट हैं। इसके बारह सौ मन्त्र ऋग्वेद से लिये हुए हैं।

इनमें प्रत्येक वेद के अपने-अपने ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् हैं जिनकी गणना करा दी जाती है[१]—

संहिता	ब्राह्मण	आरण्यक	उपनिषद्
१. ऋग्वेद	१ ऐतरेय २ कौषीतकि	१ ऐतरेय २ शाङ्खायन	१ ऐतरेय २ कौषीतकि
२. सामवेद	१ ताण्ड्य (पञ्चविंश) २ तलवकार ३ आर्षेय आदि	१ तलवकार २ छान्दोग्य	१ केन २ छान्दोग्य
३. शुक्ल यजुर्वेद	१ शतपथ (१०० अध्याय)	१ बृहदारण्यक	१ बृहदारण्यक २ ईश (संहिता में)
४. कृष्ण यजुर्वेद	१ तैत्तिरीय २–३ मैत्रायणी और काठक (संहिता में)	१ तैत्तिरीय २ मैत्रायणी या	१ तैत्तिरीय २ मैत्री ३ श्वेताश्वतर ४ कठ
५. अथर्ववेद	१. गोपथ		१ प्रश्न (पैप्प.शाखा) २ मुण्डक (शौ. „) ३ माण्डूक्य

१. इन सब ग्रन्थों के विस्तृत विवेचन के लिए देखें—प्रो० बलदेव उपाध्याय, वैदिक साहित्य और संस्कृति अथवा भगवद्दत्त, वैदिक-वाङ्मय का इतिहास। इस स्थान पर तो सभी ग्रन्थों की गणना भी असम्भव है।

अभी तक ये सभी ग्रन्थ पूर्णतया उपलब्ध नहीं हुए हैं तथापि इस विपुलकाय साहित्य को देखकर हमें उस समय के ज्ञान एवं परिश्रम पर आश्चर्य करना पड़ता है। इन सबों को ठीक ठीक समझने एवं तदनुसार कार्यकलाप का संचालन करने के लिए वेदाङ्ग ग्रन्थों की आवश्यकता होती है जो शरीर के अङ्गों के समान ही वेद के अनिवार्य भाग हैं। ये अङ्ग हैं—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, ज्योतिष और निरुक्त। इन सबों का विभाजन पाणिनि शिक्षा (४१–४२) में इस प्रकार है—

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते॥ ४१॥
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात्साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते॥ ४२॥

(१) शिक्षा—स्वर, वर्ण आदि के उच्चारण का नियम बतलाने वाली विद्या ही शिक्षा है। उदात्त अनुदात्त तथा स्वरित इन तीनों स्वरों के उच्चारण किस प्रकार से हों, इसे बतलाना ही शिक्षा का प्रधान कार्य है। स्वरों के अल्प भेद से ही बड़े बड़े अनर्थ हो जाते हैं जैसा कि हम इन्द्रशत्रु के वृत्तान्त से जानते हैं।[1] शिक्षा का अध्ययन एक प्रकार [redacted] आधुनिक ध्वनिविज्ञान (Phonology) का अध्ययन है जिसमें उच्चारण के स्थान, वर्ण, स्वर, मात्रा (ह्रस्व दीर्घ प्लुत) शुद्ध उच्चारण के नियम तथा संधि का अध्ययन होता है। उच्चारण के लिए पाणिनि शिक्षा कहती है कि जिस प्रकार बिल्ली अपने बच्चों को दाँत से पकड़ती है, न तो दाँत ही गड़ते हैं और न गिरने का ही डर है—सन्तुलन से उसी प्रकार अक्षरों का उच्चारण करें।[2] उस काल में ध्वनि विज्ञान की इस प्रकार की उन्नति किसे चकित नहीं करती?

---

१ मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥ (पा० शि० ५२)

पुराकाल में वृत्रासुर को इन्द्र नाश के लिए यज्ञ करा रहे थे। उन्होंने मन्त्र पढ़ा—इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व स्वाहा। उनका अभिप्राय था कि हे इन्द्र के नाशक (शत्रु)! तुम उत्पन्न हो, बढ़ो। ऐसी दशा में तत्पुरुष समास (अन्त का स्वर उदात्त) होना, किन्तु भ्रमवश उन्होंने पूर्व पद के अनुसार स्वर रख दिया जो बहुव्रीहि समास में होता है। फलतः अर्थ हुआ—इन्द्र शत्रु (नाशक) है जिसके इस तरह वृत्र ही मारा गया। स्वर के लिए देखें—पा० सू० समासस्य (६।१।२२३), बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (६।२।१)।

२ व्याघ्री यथा हरेत्पुत्रान् दंष्ट्राभ्यां न च पीडयेत्।
भीता पतनभेदाभ्यां तद्वद्वर्णान् प्रयोजयेत्॥ २५॥

शिक्षा के प्राचीनतम ग्रन्थ प्रातिशाख्य के रूप में मिलते हैं, जो सभी वेदों के भिन्न-भिन्न हैं जैसे—शौनक का ऋक्प्रातिशाख्य, कात्यायन का शुक्लयजुः-प्रातिशाख्य, सामवेद का पुष्पसूत्र, तैत्तिरीय-प्रातिशाख्य तथा अथर्व-प्रातिशाख्य आदि। इन सबों में सूत्र के रूप में उपर्युक्त विषय समझाये गये हैं। शिक्षा-ग्रन्थों में पाणिनि तथा याज्ञवल्क्य की शिक्षायें बहुत प्रसिद्ध हैं जो श्लोकबद्ध हैं।[1]

(२) कल्प—वैदिक-कर्मकाण्ड का विस्तार देखकर उसे सूत्रबद्ध करने की इच्छा से ही कल्प का आविर्भाव हुआ जिन्हें हम कल्पसूत्र कहते हैं। इसका अर्थ है—वेद में विहित कर्मों की क्रमशः व्यवस्थित कल्पना करनेवाला शास्त्र।[2] शिक्षा की भाँति ही ये प्रत्येक वेद और शाखा के लिए अलग-अलग हैं। ये तीन प्रकार के है—(क) श्रौत सूत्र जिनमें श्रुति-प्रतिपादित दर्श-पूर्णमास आदि विविध यज्ञों का विधान किया गया है। वस्तुतः कल्पसूत्रों के ये ही पुष्ट अंग है। (ख) गृह्य-सूत्र जिनमें गृह्याग्नि में होनेवाले यज्ञों तथा विवाह, श्राद्ध आदि संस्कारों का वर्णन है। (ग) धर्मसूत्र जिनमें चारों वर्णों तथा आश्रमों के कर्त्तव्य निर्दिष्ट हैं। मनु आदि की स्मृतियों के ये ही स्रोत हैं तथा हिन्दुओं के कानून भी ये ही हैं। ऋग्वेद के दो श्रौत और गृह्य-सूत्र हैं—आश्वलायन तथा शाङ्खायन। एक कौषीतक गृह्य-सूत्र भी प्रकाशित है किन्तु श्रौतसूत्र प्राप्त नहीं हुआ है। शुक्ल यजुर्वेद के कात्यायन-श्रौतसूत्र तथा पारस्कर-गृह्यसूत्र प्रसिद्ध हैं। कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध कल्पसूत्र हैं—बौधायन, आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी, वैखानस, भारद्वाज तथा मानव। इनमें अधिकांश प्राप्त हैं। सामवेद के कल्पसूत्र हैं—आर्षेय-कल्पसूत्र; लाट्यायन, द्राह्यायण तथा जैमिनीय-श्रौतसूत्र; गोभिल, खदिर तथा जैमिनीय-गृह्यसूत्र। अथर्ववेद के वैतान-श्रौतसूत्र तथा कौशिक-गृह्यसूत्र मिले हैं। धर्मसूत्रों में

---

१. उच्चारण का विश्लेषण करने के लिए आधुनिक-युग में यन्त्र बन गये हैं किन्तु उस युग में इनके अभाव में भी शिक्षाकारों ने वर्णों के स्थान और यत्न जान लिये थे जो आज भी प्रायः मान्य हैं। देखें—Dr. Siddheswar Varma, *Phonetic Observation of Ancient Hindus*—या Allen, *Phonetics in Ancient India* (Oxford University Press).

२. विष्णुमित्र—ऋक्प्रातिशाख्य की वर्गद्वयवृत्ति, पृ० १३—कल्पो वेदविहितानां कर्मणामानुपूर्व्येण कल्पनाशास्त्रम्।

गौतम (साम), बौधायन, आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी (कृष्ण यजु), वसिष्ठ और विष्णु (ऋग्) उल्लेखनीय हैं। कल्प का एक चौथा प्रकार शुल्वसूत्र हैं जिसमे यज्ञवेदिका का निर्माण-प्रकार वर्णित है जिसे रेखागणित से पूरा सम्बन्ध है।[1]

(३) व्याकरण—वैदिक साहित्य मे आनेवाले शब्दो का निर्माण, उनकी शुद्धता आदि का अध्ययन प्रकृति और प्रत्यय के सम्बन्ध द्वारा व्याकरण ही करता है। व्याकरण का निर्देश तो ऋग्वद काल से ही मिलने लगता है किन्तु तैत्तिरीय-संहिता (६।४।७।३) मे व्याकरण की उत्पत्ति की कथा दी हुई है। इन्द्र के द्वारा वाणी व्याकृत (प्रकृति-प्रत्यय विच्छिन्न) हुई, अतएव इन्द्र ही आदि वैयाकरण हैं। किन्तु सम्प्रति इन्द्रगोमी नामक एक बौद्धाचार्य का ग्रन्थ ऐन्द्र व्याकरण के नाम से प्राप्त है, प्राचीनतम इन्द्र का नही। व्याकरण के कई पारिभाषिक शब्द हमे गोपथ ब्राह्मण (१।२४) मे भी मिलते हैं। इस प्रकार के छिटपुट व्याकरण यास्क के निरुक्तकाल तक लिखे गये। व्याकरण के प्रथम परिपूर्ण आचार्य पाणिनि ने ही दस प्राचीन आचार्यों के नाम गिनाये हैं जिनमे कितने तो यास्क से भी प्राचीन हैं। पाणिनि (समय ५०० ई० पू०) ने अपनी अष्टाध्यायी के द्वारा तात्कालिक-भाषा को संयत किया। स्थान-स्थान पर वैदिक व्याकरण के विषय मे भी कुछ संकेत किया किन्तु वह संकेतमात्र था। वस्तुत वैदिक व्याकरण का सर्वांगीण व्याकरण अभी तक उपलब्ध नही हुआ। पाणिनि के अलावे दूसरे प्रकार के कई वैयाकरण हुए हैं किन्तु इनके नियमो से आगे बढकर लिखनेवाला कोई नही हुआ। पाणिनि (अष्टाध्यायी), कात्यायन (वार्तिक) तथा पतञ्जलि (महाभाष्य)—इन तीनो को मिलाकर 'त्रिमुनि'-व्याकरण कहते हैं और इन आचार्यों की प्रामाणिकता भी उत्तरोत्तर अधिक है। इन्हें ही लेकर काशिका, कौमुदी आदि पीछे के ग्रन्थ लिखे गये।[2]

(४) छन्द—वेद के मन्त्रो के उच्चारण के लिए छन्दो का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि वैदिक-संहिताओ का अधिकांश भाग छन्दोबद्ध है। मुख्य

---

१ धर्मसूत्रों के वर्णन के लिए देखें—Prof P V Kane *History of Dharma Sastra* Vol I, Pp 12-79 सूत्र साहित्य का अध्ययन सन्तोषजनक नहीं हुआ है। लेखक इसका विस्तृत इतिहास लिख रहा है जो शीघ्र ही प्रकाशित होगा।

२ व्याकरण शास्त्र के विभिन्न आचार्यों तथा ग्रन्थों से परिचय के लिये देखें—Dr S K Belvalkar, *Systems of Sanskrit Grammar* तथा युधिष्ठिर मीमांसक, व्याकरण शास्त्र का इतिहास।

छन्दों के नाम तो हमें संहिताओं और ब्राह्मणों में ही मिलने लगते हैं जिससे इस अंग की प्राचीनता सिद्ध होती है किन्तु इसका प्रतिनिधि ग्रन्थ है पिङ्गलाचार्यकृत छन्दसूत्र जिसके प्रथम चार अध्यायों में वैदिक छन्दों का वर्णन है। छन्द का अर्थ है आवरण अर्थात् जो शब्दों का आवरण हो। पीछे सामान्य रूप से वेदों के लिए 'छन्द' शब्द का प्रयोग होने लगा जैसा कि पाणिनि अपनी अष्टाध्यायी में 'बहुलं छन्दसि' का प्रयोग करते हैं। चूँकि वैदिक छन्दों में सामान्य नियम का अभाव है इसलिए व्याकरण के अनियमित तथा असंगत प्रयोगों को छान्दस अथवा आर्ष प्रयोग कहते हैं। गुरु लघु की गणना से रहित, केवल अक्षरों की गणना पर ही वैदिक छन्द आधारित हैं। यास्क ने सप्तम अध्याय में छन्दों का निर्वचन किया है जिसे हम देखेंगे। प्रधान वैदिक छन्द हैं—गायत्री (८+८+८ अक्षर) उष्णिक् (८+८+१२), अनुष्टुप् (८ अक्षरों के चार चरण), बृहती (८+८+१२+८), पंक्ति (८ अक्षरों के पाँच पाद), त्रिष्टुप् (११ अक्षरों के चार पाद) तथा जगती (१२ अक्षरों के चार पाद)। इन छन्दों से ही लौकिक छन्दों का विकास हुआ है।[1]

(५) ज्योतिष—यज्ञ के सम्पादन करने का विशिष्ट समय जानने के लिए ज्योतिष की नितान्त आवश्यकता है। दिन, रात, ऋतु, मास, नक्षत्र, वर्ष आदि का ज्ञान बिना ज्योतिष के हो ही नहीं सकता। यह जीवन से इतना सम्बद्ध है कि अनजाने ही हम 'रात' 'दिन'—जैसे ज्योतिष के ही शब्दों का प्रयोग करते हैं। वैदिक संहिताओं में ही काल के अनेक विभागों का वर्णन उपलब्ध होता है।[2] ऋतुओं के नाम से वर्ष का बोध होता था जैसे—शरदः शतम्=सौ शरद् तक (सौ वर्ष तक)। यहाँ तक कि हमारा सुपरिचित 'वर्ष' भी वर्षा ऋतु के नाम पर ही बना है। वेदाङ्ग ज्योतिष नामका ग्रन्थ ही इसका प्रतिनिधित्व करता है जो ऋग्वेद और यजुर्वेद से सम्बद्ध है। इसमें श्लोकों में तात्कालिक ज्योतिर्विद्या का वर्णन है। पीछे के ग्रन्थ भी ज्योतिर्विद्या

---

१ अभी तक छन्द शास्त्र के ग्रन्थ बहुत कम मिले हैं तथा अध्ययन भी नहीं। केवल आर्नल्ड ने 'वैदिक छन्द' (Vedic Metre) नामक ग्रन्थ लिखा है।

२ तुलना करें—'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीत, ग्रीष्मे राजन्य आदधीत, शरदि वैश्य आदधीत' (तै० ब्रा० १।१।२) तथा 'प्रातः जुहोति, सायं जुहोति' (२।१।२)।

वे अमूल्य रत्न हैं जैसे—आर्यभटीय, सूर्यसिद्धान्त आदि। ज्योतिष का ही एक अंग गणित है जिसे पूर्वकाल में बहुत ही समृद्ध किया गया था।[1]

(६) निरुक्त—वेदाङ्गों में चौथा स्थान पाने पर भी निरुक्त अपनी कई विशेषतायें रखता है। इसमें मुख्यतया वैदिक शब्दों के अर्थ जानने की प्रक्रिया बतलाई जाती है जैसा कि सायण ने इसका लक्षण अपने ऋग्वेद-भाष्य की भूमिका में किया है—'अर्थज्ञान के लिए स्वतंत्र रूप से जहाँ पदों का समूह कहा गया है वही निरुक्त है।'[2] अर्थ चूँकि शब्द के अन्तरङ्ग से सम्बन्ध रखता है अतएव यह कहना कदाचित् अनुचित न होगा कि अन्य वेदाङ्ग जहाँ वेद के बहिरङ्ग से ही सम्बन्ध रखते हैं, निरुक्त उसके अन्तरङ्ग से सम्बद्ध है। अन्य वेदाङ्ग प्रायः सूत्रों में हैं, किन्तु निरुक्त भाष्य-शैली के गद्य में है जिससे अर्थावगम में बड़ी सहायता मिलती है। निरुक्त स्वयं निघण्टु नामक वैदिक कोश का भाष्य है तथा यास्क का लिखा हुआ है। निघण्टु में शब्द केवल गिना दिये गये हैं जो प्रायः अमरकोश की शैली में है। इन्हीं शब्दों पर यास्क ने अपना विशेष ध्यान रखा है तथा उनके अर्थ तक पहुँचने की चेष्टा की है। अर्थज्ञान के लिए वे उस शब्द से सम्बद्ध धातु तथा उसके अर्थ का आश्रय लेते हैं। यही निरुक्त की आधार-शिला है। निघण्टु के पाँच अध्यायों की व्याख्या यास्क ने बारह अध्यायों में की है तथा पीछे दो अध्याय परिशिष्ट के रूप में जोड़े गये हैं। अन्य वेदाङ्ग जिस प्रकार प्रत्येक वैदिक शाखा के अलग-अलग हैं उसी प्रकार यह अनुमान किया जाता है कि निरुक्त भी अलग अलग होंगे। प्रस्तुत-निरुक्त किस वेद का है—इस प्रश्न की विवेचना हम यथास्थान करेंगे।

---

१. विशेष अनुशीलन के लिए देखें—नेमिचन्द्र शास्त्री, 'भारतीय-ज्योतिष', भूमिका तथा 'भारतीय ज्योतिष शास्त्र का इतिहास'—उत्तर प्रदेश सरकार का प्रकाशन।

२. अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्रोक्तं तन्निरुक्तम्।

द्वितीय-परिच्छेद

निघण्टु तथा निरुक्त

[निघण्टु, वैदिक-शब्दों का संग्रह—निरुक्त उसी का भाष्य—निघण्टु और निरुक्त का विभाजन—नैघण्टुक काण्ड—पर्याय शब्दों का संग्रह—नैगम-काण्ड—कठिन शब्दों का संग्रह—दैवत काण्ड—देवताओं के नामों का संग्रह—निरुक्त का परिचय—शैली—विचित्र-शब्दों का प्रयोग—निघण्टु अनेक थे—उनका लक्षण—वर्तमान निघण्टु का रचयिता—निघण्टु और निरुक्त के रचयिता एक ही व्यक्ति नहीं थे—विरोधी तर्क और खण्डन—निष्कर्ष।]

ऊपर कहा जा चुका है कि निरुक्त में यास्क ने निघण्टु में गिनाये गये वैदिक शब्दों की व्याख्या की है। इस दृष्टि से निघण्टु बहुत महत्वपूर्ण है। डा० लक्ष्मण सरूप निघण्टु के विषय में कहते हैं कि 'निघण्टु की रचना कोश रचना के अभी तक के सभी ज्ञात प्रयासों में प्रथम है, भारत में तो यह कोश-साहित्य के आरम्भ का ही द्योतक है।'[1] साहित्य में जितने बिखरे हुए शब्द हैं उन्हें एकत्र करके एक नियम से सजा देना उस प्राचीन-काल में निये नई ही वस्तु थी। यह सत्य है कि निघण्टु वैदिक शब्दों का पूर्ण कोश नहीं—इसमें किसी भी वेद के सारे शब्द गिनाये नहीं गये, तथापि कोश-रचना के तात्कालिक सिद्धान्त को देखने पर उसे पूर्ण ही कहना पड़ेगा।

जिस निघण्टु पर यास्क ने भाष्य की रचना की है वह पाँच अध्यायों में बँटा है। प्रथम तीन अध्याय नैघण्टुक काण्ड कहलाते हैं और इनके शब्दों की व्याख्या यास्क ने निरुक्त के द्वितीय तथा तृतीय अध्यायों में की है। निघण्टु के इन अध्यायों में कुल १३४१ शब्द परिगणित हैं जिनमें केवल २३० शब्दों की ही व्याख्या यास्क ने इन अध्यायों में की है। इन १३४१ शब्दों में पर्यायवाची शब्द संगृहीत हैं जैसे—पृथिवी के २१ पर्याय शब्द, ११ 'जलना' अर्थवाली क्रियायें, १२ 'बहुत' के पर्याय आदि। इसकी रचना ठीक अमर कोश की शैली में ही हुई है। यद्यपि इनमें कई शब्द वैदिक-

---

१ *The Nighantu and the Nirukta*, p 14.

साहित्य भर मे नही आये हैं किन्तु वैदिक-वाङ्मय का अधिकांश विनष्ट हो जाने के कारण हम ऐसा नही कह सकते। तथापि यह कहने मे कोई आपत्ति नही कि कितने शब्द ऐसे भी हैं जो निघण्टु मे जिस अर्थ मे गिनाये गये हैं, वेदो मे उसी अर्थ मे प्रयुक्त नही हुए हैं। यही कारण है कि अब कट्टर पण्डितो को भी निघण्टु की प्रामाणिकता मे सन्देह होने लगा है। प्रो० राजवाडे[1] ने आलोचनात्मक दृष्टि से निघण्टु पर विचार करते हुए लिखा है कि तीनो अध्यायों मे कई उत्तर-वैदिक शब्द हैं। इनकी गणना भी उन्होने करा दी है। इन अध्यायों मे सुबन्त-शब्द प्रथमा एकवचन मे तथा क्रिया-पद वर्तमान-काल के प्रथमपुरुष एकवचन मे निर्दिष्ट हैं।

निघण्टु के चतुर्थ-अध्याय मे तीन खण्ड हैं जिनमे क्रमशः ६२, ८४ तथा १३२ पद—अर्थात् कुल २७८ पद हैं। ये किसी के पर्याय नही, सभी शब्द स्वतन्त्र हैं। तीनो खण्डों की व्याख्या यास्क ने निरुक्त के चतुर्थ, पचम तथा षष्ठ अध्यायो मे की है। इस अध्याय को नैगम या ऐकपदिक-काण्ड भी कहते हैं। इस काण्ड के शब्द प्राय सन्दिग्ध और कठिन हैं। डा० वेलवलकर कहते हैं—'निघण्टु नामक वैदिक-शब्दो की सूची के चतुर्थ अध्याय को, जिस पर यास्क ने निरुक्त नाम की व्याख्या लिखी है, ऐकपदिक कहते हैं क्योकि इसमें अज्ञात या सन्दिग्ध मूलवाले २७८ शब्द गिनाये गये हैं।'[2] इस काण्ड की व्याख्या आरम्भ करते हुए यास्क भी कहते हैं—'अथ यानि अनेकार्थानि एकशब्दानि तानि अतोऽनुक्रमिष्याम। अनवगतसंस्कारांश्च निगमान्। तद् ऐकपदिकम्' इत्याचक्षते' (नि० ४।१)। इससे निष्कर्ष निकलता है कि ये नाम स्वतन्त्र हैं तथा अनेक अर्थ धारण करते हैं, स्वय किसी के पर्याय नहीं। किन्तु साथ ही साथ इनकी बनावट का पता लगाना भी कठिन है इसलिये इन्हे ऐकपदिक निगम (उदाहरण या प्रयोग) कहते हैं। इस काण्ड के शब्द भिन्न भिन्न रूपों और विभक्तियों में हैं। राजवाडे के अनुसार एक 'पुरु' को छोड़कर इस अध्याय के सभी शब्द वैदिक हैं।

निघण्टु का पञ्चम या अन्तिम अध्याय दैवत-काण्ड के नाम से विख्यात है। इसके छः खण्डों मे क्रमशः ३, १३, ३६, ३२, ३६ तथा ३१ पद हैं जो भिन्न भिन्न देवताओं के नाम हैं। ये भी पर्याय नही, स्वतन्त्र हैं, किन्तु इनमे

---

१. *Yaska's Nirukta*, p. 23.

२. गुरु मण्डल ग्रन्थमाला में प्रकाशित निरुक्त भाग १, पृ० १७ पर उद्धृत अंग्रेजी सन्दर्भ का हिन्दी-अनुवाद।

विशेषता यही है कि इन नामों के द्वारा देवताओं की स्तुति प्रधानतया की जाती है।[1] इन खण्डों के शब्दों की व्याख्या यास्क ने निरुक्त के सातवें अध्याय से बारहवें अध्याय तक का है। एक एक खण्ड की व्याख्या एक एक अध्याय मे हुई है। चूंकि इन अध्यायों मे यास्क को पर्याप्त स्थान मिला है अतएव देवताओं के विषय में यास्क ने पूर्ण प्रकाश डाला है। निघण्टु की व्याख्या यद्यपि बारहवें अध्याय मे समाप्त हो जाती है किन्तु बाद के किसी लेखक ने इसमे दो अध्याय परिशिष्ट के रूप मे जोडकर कुल चौदह अध्याय बना दिये हैं। दैवत-काण्ड के इस परिशिष्ट मे देवताओं और यज्ञो के विषय मे लिखा है तथा प्रसगत कतिपय दार्शनिक विषयो का भी विवेचन है। इसकी शैली भी निरुक्त से बिलकुल मिलती-जुलती है। इस दैवत-काण्ड पर ही वैदिक धर्म और सस्कृति का इतिहास अवलम्बित है क्योंकि वैदिक देवतावाद पर आलोचनात्मक-दृष्टि से विचार करने वाला कोई भी ग्रन्थ निरुक्त से प्राचीन नही। यही हम किसी जाति का अपने धर्म के विषय मे चिन्तन की प्रथम किरणें पाते हैं।

यास्क ने निरुक्त मे निघण्टु के सभी शब्दो की व्याख्या नही की है—यह ऊपर की उक्ति से स्पष्ट है। पर्यायवाची शब्दों वाले अध्यायो मे तो पूरे पर्याय के समूह (जैसे 'उदक' के १०० नामो) मे से केवल किसी एक (जैसे 'उदक') शब्द की व्याख्या करके ही आगे बढ जाते हैं। फिर भी यह सत्य है कि केवल निघण्टु के शब्दो का ही निर्वचन उन्होने नही किया, प्रसगत आये हुए कितने ही अन्य शब्दो का भी निर्वचन किया है जिनमे बहुत से संस्कृत-भाषा (वैदिक नही) के भी शब्द हैं। डा० सिद्धेश्वर वर्मा[2] की गणना के अनुसार निरुक्त मे कुल १२९८ निर्वचन हैं। जहाँ से निघण्टु के शब्दो की व्याख्या आरम्भ होती है उसके पूर्व यास्क ने अपने शास्त्र मे प्रवेश करनेवालो के लिये बहुत ही विस्तृत भूमिका लिखी है। निघण्टु के प्रथम शब्द 'गो' की व्याख्या निरुक्त मे द्वितीय अध्याय के द्वितीय-पाद से आरम्भ होती है। *तब तक का अश अर्थात् पूरा प्रथम अध्याय और द्वितीय* अध्याय का प्रथम पाद केवल भूमिका ही है जिसमे पद के भेद, शब्दो का धातुज-सिद्धान्त, निरुक्त की उपयोगिता, निर्वचन के नियम आदि विभिन्न उपयुक्त विषयो पर विचार किया गया है। यही दशा दैवत-काण्ड के आरम्भ

१. तुल० तद् यानि नामानि प्राधान्यस्तुतीना देवताना तद्दैवतमित्याचक्षते (नि० ७।१)
२. Dr. Siddheswar Varma, *Etymologies of Yāska* Preface

में भी है। वैदिक देवताओं के नामों का निर्वचन करने के पूर्व यास्क सप्तम अध्याय में भूमिका के रूप में देवताओं के स्वरूप, भेद, स्वभाव आदि का विश्लेषण कर लेते हैं। भाष्य की भूमिका लिखने की इसी प्रणाली का अनुसरण पतञ्जलि ने महाभाष्य में किया है (देखें—पस्पशाह्निक)।

हम यहाँ संक्षेप में निरुक्त की शैली पर विचार करें। निघण्टु के किसी शब्द को लेकर यास्क तुरन्त उसकी निरुक्ति करते हैं जैसे—'नद्यः कस्मात्? नदना: भवन्ति=शब्दवत्य।' 'नदी' किस धातु से बना और क्यों उसे नदी ही कहते हैं? उत्तर है—'नद्' धातु से, जिसका अर्थ है 'शब्द करना', 'नदी' बना है क्योंकि नदियाँ जोरों की आवाज करती हैं।[1] अब यास्क ऐसे शब्दों का प्रयोग दिखलाने के लिए या तो सीधे ही किसी का उद्धरण दे देंगे अथवा उसकी भूमिका बाँधते हुए इतिहास आदि का आश्रय लेंगे तब ऋचा का उद्धरण देंगे। कभी कभी उस शब्द का केवल निर्वचन करके भी आगे बढ़ जाते हैं। अस्तु, ऋचा का उद्धरण देने के बाद उसका अन्वय किये ही बिना एक एक शब्द का प्रतिशब्द सरल संस्कृत में देते हैं। बीच-बीच में शब्दों का निर्वचन करने के लिए रुक भी जाते हैं। प्रतिशब्द-व्याख्या करने में वे पदपूरण करनेवाले शब्दों को (हि, तु, नु आदि) को छोड़ देते हैं। कभी कभी सन्देहास्पद या विवादास्पद स्थानों में (जैसे—वेदमन्त्रों की सार्थकता, धातुज सिद्धान्त आदि विषयों पर) प्रबल शास्त्रार्थों की भाँति डटकर भारतीय दार्शनिक परम्परा[2] के अनुसार, पूर्वपक्ष की स्थापना करते हुए, उसका तीव्र युक्तियों से खण्डन करके अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। अपने सिद्धान्तों के उल्लेख के समय भिन्न-भिन्न विचारोंवाले विद्वानों के मत भी उद्धृत करते जाते हैं[3] जिससे मालूम पड़ता है कि यास्क में सच्चे वैज्ञानिक की आत्मा निवास करती है। इसी प्रणाली से सम्पूर्ण निरुक्त की रचना हुई है।

महाभाष्य की शैली निरुक्त की शैली से बहुत कुछ मिलती है। दोनों में ही छोटे छोटे वाक्यों का तथा समासरहित शब्दों का प्रयोग हुआ है। किन्तु

---

१ निरुक्त २।२४।

२ Cf. Chatterjee and Datta, *Introduction to Indian Philosophy*, I.

३ जैसे—२।२ में 'दण्ड' की निरुक्ति—'ददते धारयतिकर्मणः, दमनादित्यौपमन्यवः।'

यास्क के शब्द बहुत स्थानों पर सन्देहास्पद तथा आधुनिक संस्कृतज्ञ के लिए क्लिष्ट हैं। कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग है जिन्हें पीछे दूसरे अर्थ में लिया गया। कर्म शब्द का मतलब है अर्थ जैसे 'गतिकर्मा धातु = 'गति अर्थवाला धातु। इसी तरह उपमा का अर्थ है—समीप जाकर परीक्षा करना (दुर्गाचार्य) देखना आदि। पीछे चलकर इसका अर्थ तिरस्कार हो गया। सप्तम अध्याय में 'आशीर्वाद' का अर्थ है कामना। इस प्रकार कितने ही शब्द अज्ञात और अप्रत्याशित अर्थों में प्रयुक्त हैं इस दृष्टि से यास्क का अध्ययन अर्थविज्ञान (Semantics) के लिए बड़ा ही उपयोगी है। इस पर हम आगे विशेष विचार करेंगे। कहीं कहीं वे भिन्न रूपवाली क्रियाओं का प्रयोग किसी दूसरे ही अर्थ में करते हैं जैसे—अप्रथयिष्यत् = अप्रथयत्, उपपिपाद यिषेत्' व्यर्थ की इतनी बड़ी क्रिया केवल 'उपपादयेत्' अर्थ के लिए दी गई है (सन् प्रत्यय का प्रयोग निश्चय ही व्यर्थ है।) बहुत स्थानों पर ऐसे प्रयोग हैं जो यास्क की असावधानी के परिचायक हैं।

इस प्रकार की व्याख्या द्वारा यास्क ने निघण्टु की महत्ता प्राय घटा दी है क्योंकि यास्क के द्वारा प्रदर्शित मौलिकता होने पर भी निरुक्त की पृष्ठभूमि तो निघण्टु ही है। इस स्थान पर इन दोनों के ऐतिहासिक-पक्ष का विश्लेषण करना आवश्यक है।

यह बात निर्विवाद सत्य है कि निघण्टु अनेक थे। प्रत्येक में वैदिक शब्दों का कोश था जो संकलन करनेवाले की इच्छा के अनुसार अपनी विशेषता लिये हुए था। वर्तमान निघण्टु के अलावे यास्क ने स्वयं एक अन्य निघण्टु का संकेत किया है। यास्क के १।२० के उद्धरण से सिद्ध होता है कि निघण्टु व्यक्तिवाचक शब्द नहीं किन्तु जातिवाचक है। वे कहते हैं कि जिसमें निम्नलिखित चार बातें हों वही निघण्टु है—(१) समानार्थक धातुओं का संग्रह (एतावन्त समानकर्माणो धातव) (२) एक ही अर्थवाले भिन्न-शब्दों का संग्रह (एतावन्ति अस्य सत्त्वस्य नामधेयानि) (३) कई अर्थों वाले शब्दों का संग्रह (एतावतामर्थानाम् इदमभिधानम्) और (४) देवताओं के प्रधान तथा गौण नामों का संग्रह (नैघण्टुकमिदं देवतानाम, प्राधान्येन इदम्, तदन्यस्मिन्ने मन्त्र निपतति नैघण्टुकं तत्)। प्रो० राजवाड़े तीसरे लक्षण को वर्तमान निघण्टु से भिन्न हुए न पाकर अनुमान करते हैं कि इन लक्षणों से युक्त भी एक निघण्टु था। परन्तु ऐरपदिक काण्ड में ऐसे शब्दों का संग्रह है जो कई अर्थवाले भी हैं तथा कुछ व्याकरण की दृष्टि से अज्ञात

सस्कारवाले भी हैं—दोनो का मिश्रण निघण्टु में उचित नहीं। वर्तमान-निघण्टु के केवल तीन ही खण्ड हैं जिनका इन चारों से मेल दिखाने का प्रयास दुर्गाचार्य ने अपनी निरुक्त वृत्ति मे किया है। ऐकपदिक-काण्ड के 'अनवगत सस्कार' वाले शब्द इस चतुर्लक्षणी मे नही आते। अवश्य ही इन्ही लक्षणो मे युक्त अन्य निघण्टु भी रहे होंगे[१] जिनमे लक्षण के अव्याप्ति और अतिव्याप्ति-दोष नही होंगे। पुन:, 'तान्यपि एके समामनन्ति' (७।१५) कितने आचार्य देवताओ के ऐसे नामो की भी गणना (अपने निघण्टु मे) कर लेते है। यह भी सिद्ध करता है कि निघण्टु कई थे।

यास्क ने निरुक्त के आरम्भ मे ही निघण्टु का बहुवचन मे प्रयोग करके सम्भवत इसी तथ्य की ओर निर्देश किया है। वे शब्दो के चार भाग करते हैं—नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। वर्तमान निघण्टु मे तो केवल नाम और आख्यात ही हैं, क्या उपसर्ग और निपातो का सग्रह रखनेवाला भी निघण्टु था ? आचार्य भगवद्दत्त ने भी कई प्रमाणो से सिद्ध किया है[२] कि निघण्टु अनेक थे। निरुक्त मे जिन प्राचीन आचार्यों (निरुक्तकारों) का नाम आया है वे सब निघण्टु की भी रचना करनेवाले थे। अथर्वपरिशिष्ट का ४८ वाँ परिशिष्ट भी निघण्टु ही है जिसे वे कौत्सव्य कृत मानते हैं। बृहद्देवता में यास्क के नाम के साथ-साथ शाकपूणि का भी उल्लेख कई बार हुआ है, इससे निश्चय ही उनका निघण्टु और निरुक्त रहा होगा। पूना से उन्होंने शाकपूणि के निघण्टु को प्रकाशित भी कराया है।[३] इस प्रकार वे १५-२० निघण्टुओ के होने का अनुमान करते हैं।

डा० लक्ष्मण सरूप निघण्टु को एक व्यक्ति की रचना नहीं मानते,[४] किन्तु राजवाडे ने इसका सप्रमाण खण्डन किया है। डा० स्कोल्ड ने हस्त-लिखित ग्रथो का आधार लेकर यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि निरुक्त का पूर्वषट्क (१-६ अध्याय) और उत्तरषट्क (७-१२) दो ग्रथ हैं, दोनों की शैली भी भिन्न है अतएव निघण्टु मे भी पहले दैवत-काण्ड नही रहा

---

१ प्रो० राजवाडे—Yaska's Nirukta, 1-11
२. वैदिक-वाङ्मय का इतिहास, भाग १, खण्ड २।
३. प० रामगोविन्द त्रिवेदी, वैदिक साहित्य, पृ० २२०।
४. 'Nighantu is probably not the production of a single individual, but the result of the united efforts of a whole generation or perhaps of several generations." Nigh. and Nir. (14/32-34)

होगा। यास्क ने स्वयं भी 'साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभवु' (१।२०) वाले सन्दर्भ के द्वारा भी निघण्टु के पारम्परिक रचयिताओं की ओर संकेत किया है।[1] इसमे तो कोई सन्देह नही कि प्रस्तुत निघण्टु-जैसा कोश ग्रंथ परम्परा से प्राप्त होकर एक बार किसी व्यक्ति के द्वारा सकलित हुआ है। जिस प्रकार पाणिनि की अष्टाध्यायी परम्परा से प्राप्त कुछ नियमो, शब्दो और परिभाषाओ को ग्रहण करने पर भी पाणिनि की मौलिकता प्रदर्शित करती है उसी प्रकार निघण्टु के शब्दो का सकलन भी परम्परा से ही प्राप्त है किन्तु कोई एक व्यक्ति ही इसे वर्तमान-रूप देने मे समर्थ है। महाभारत (मोक्षधर्म-पर्व, अध्याय ३४२, श्लोक ८६-८७) के अनुसार प्रजापति कश्यप इस निघण्टु के रचयिता हैं।

कई विद्वान् महाभारत के उपर्युक्त श्लोकों को प्रमाण-कोटि मे नही लाते तथा कहते हैं कि निरुक्त और निघण्टु दोनों के रचयिता यास्क ही हैं। स्वामी दयानन्द ने इस मत का प्रतिपादन किया और आचार्य-भगवद्दत्त जी ने इसके लिए कई प्रमाण दिये हैं। इनका कथन है कि जितने निरुक्तकार हैं व निघण्टु के भी प्रणेता हैं। यास्क को लगाकर कुल चौदह निरुक्तकार हैं— औपमन्यव, औदुम्बरायण, वार्ष्यायणि, गार्ग्य, आग्रायण, शाकपूणि, और्णवाभ, तैटिकि, गालव, स्थौलाष्ठीवि, क्रौष्टुकि, कात्थक्य, १३ वाँ स्वय यास्क और १४वाँ शाकपूणि का पुत्र कौत्सव्य। इन सबो ने अपने-अपने निघण्टु बनाये और उसपर ही भाष्य लिखा। महर्षि-यास्क सबसे अन्त मे हुए इसलिए इन्हे सबों से पर्याप्त सहायता मिली। निघण्टु को यास्क-रचित मानने के लिए निम्न-लिखित प्रमाण हैं[2]—

(१) मधुसूदन सरस्वती अपने महिम्न-स्तोत्र की व्याख्या[3] मे लिखते हैं—'एवं निघण्ट्वादयोऽपि वैदिकद्रव्यदेवतात्मकपदार्थपर्यायशब्दात्मका निरुक्तान्तर्भूता एव। तत्रापि निघण्टुसञ्ज्ञक. पञ्चाध्यायात्मको ग्रन्थो भगवता यास्केनैव कृत.।' अर्थात् पाँच अध्यायों वाला निघण्टु यास्क का ही बनाया हुआ है।

(२) सायणाचार्य ऋग्वेद-भाष्य की भूमिका मे कहते हैं—'पञ्चाध्याय-

---

१. Shold—*The Nirukta*, p. 6.

२. इनमें से कुछ प्रमाणों के लिए मैं गुरुमण्डल-ग्रन्थमाला से प्रकाशित निरुक्त भाग १ के भूमिका लेखक के प्रति कृतज्ञ हूँ।

३. श्लोक ७—त्रयी साङ्ख्य योगः०, इस पर उन्होंने बड़ी विस्तृत टीका लिखी है।

तृतीय-परिच्छेद

निरुक्त की विषय-वस्तु

[क] प्रथम अध्याय

[प्रथम अध्याय—इसकी तुलना—निघण्टु की रूपरेखा, आन्तरिक तथा बाह्य—पद भेद—नाम और आख्यात—उपसर्ग—निपात और उनके भेद—शब्द नित्य हैं या अनित्य ?—पतञ्जलि—स्फोटवाद—मीमांसकों की युक्ति—प्लेटो—भाषा में मनुष्यों और देवताओं का ऐक्य—भाव विकार—शब्दों का धातुज सिद्धान्त—शाकटायन और गार्ग्य—गार्ग्य का पूर्वपक्ष—यास्क के उत्तर—सभी शब्दों को धातुज मानने के कुफल—सिद्धान्त की विशेषता—निरुक्त की उपयोगिता—मन्त्र निरर्थक हैं या सार्थक ?—कौत्स का पूर्वपक्ष और यास्क का उत्तर।]

इस परिच्छेद में हम निरुक्त के अन्तरङ्ग भाग का अर्थात् उसकी विषय वस्तु का आलोचनात्मक अध्ययन करेंगे। सुविधा के लिए प्रस्तुत संस्करण के अध्यायों (प्रथम चतुर्थ सप्तम) को ही हम अपने अध्ययन क्रम में रखेंगे। आगे चल कर हम पायेंगे कि सम्पूर्ण निरुक्त का परिचय पाने के लिए इन अध्यायों का ही अध्ययन पर्याप्त है।

चूंकि निरुक्त के द्वितीय अध्याय के द्वितीय पाद से निघण्टु के शब्दों का व्याख्यान आरम्भ हुआ है अतएव तब तक निरुक्त की भूमिका ही वर्णित है—यह हम ऊपर देख आए हैं। निरुक्त के लिए आवश्यक वस्तुओं का संकलन करके यास्क ने अपने भूमिका-खण्ड में पर्याप्त प्रकाश डाला है और वह भी इस प्रकार कि कुछ और जानने को बचता ही नहीं। निरुक्त का सारांश भी उसका आधार आदि सभी भूमिका में ही वर्णित है। निरुक्त के प्रथम अध्याय की तुलना संस्कृत-साहित्य के उत्तरकालिक भाष्यों की भूमिका से की जा सकती है। ये भूमिकायें हैं—महाभाष्य की पस्पशाह्निक भूमिका, शङ्कराचार्य की शारीरक मीमांसा भाष्य-भूमिका, रामानुज की ब्रह्मसूत्र-भाष्य भूमिका (ब्र० सू० १।१।१) और सायण की वेदभाष्य भूमिकायें।[1] जिस प्रकार

[1] द्रष्टव्य—सायण का 'वेदभाष्यभूमिकासंग्रह', सम्पादक पं० बलदेव उपाध्याय।

इन सबों में अपने ग्रंथ का महत्त्व, विरोधियों का खंडन, सारभूत-सिद्धान्त आदि का प्रतिपादन है उसी प्रकार निरुक्त का प्रथम अध्याय भी इन सब बातों पर विचार करता है। यही नहीं 'लिरिकल बैलेड्स्' की भूमिका की तरह यह अपने युग की निरुक्त विषयक मान्यताओं पर भी प्रकाश डालता है।[१]

अस्तु, प्रथम अध्याय में जिन बातों का वर्णन है वे ये हैं—(१) निघण्टु का लक्षण (२) पदों के भेद, (३) भाव के विकार, (४) शब्दों का धातुज सिद्धान्त और (५) निरुक्त की उपयोगिता। अब हम क्रमशः इन पर विचार करें।

निरुक्त का आरम्भ यास्क ने 'समाम्नायः समाम्नातः' से किया है। समाम्नाय का साधारण अर्थ है संग्रह। पतञ्जलि अपने महाभाष्य में 'अइउण्' आदि १४ शिव-सूत्रों को अक्षर समाम्नाय कहते हैं। वैदिक संहिताओं को आम्नाय कहते हैं, इस प्रकार 'सम्' उपसर्ग के प्रयोग से अर्थ होगा वैदिक-संहिताओं (या साहित्य) से लेकर किया गया संग्रह, चाहे वह अक्षरों का हो या शब्दों का हो। यही वाक्य निघण्टु और निरुक्त की अविच्छिन्नता का द्योतक है किन्तु इससे हम यह निष्कर्ष नहीं निकाल सकते कि दोनों यास्क के ही बनाये हैं, क्योंकि आगे यास्क कहते हैं—'इमं समाम्नायं 'निघण्टव' आचक्षते' अर्थात् इस समाम्नाय को लोग 'निघण्टु' कहकर पुकारते हैं। इससे पता लगता है कि निघण्टु उस समय तक प्रचलित शब्द था। 'निघण्टु' का व्युत्पत्ति जनित अर्थ है 'अर्थ का द्योतक', 'वेदों से चुनकर जमा किया हुआ', या एक साथ कहा गया।'

निघण्टु की आन्तरिक रूप रेखा बतलाकर यास्क इसकी बाह्य रूप रेखा अध्याय के अन्त में (१।२०) देते हैं। यह लक्षण तर्कशास्त्र की कसौटी पर कसा जाने लायक नहीं किन्तु निघण्टु के विभागों का वर्णन इसमें अत्यन्त स्पष्टता से किया गया है। निघण्टु में पाँच विभाग होने चाहिये—(१) समानार्थक धातुओं का संग्रह (२) एक ही अर्थवाले भिन्न भिन्न शब्दों का संग्रह, (३) कई अर्थों वाले शब्दों का संग्रह, (४) देवताओं के मुख्य-नामों

---

१ 'लिरिकल बैलेड्स्' (Lyrical Ballads) में कोलरिज और वर्ड्सवर्थ की कवितायें संगृहीत हैं। इसकी भूमिका वर्ड्सवर्थ ने लिखी था जो रोमांटिक-साहित्य की प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालता है अतः समालोचक इसे रोमांटिक-युग की बाइबिल (Lible of the Romantic Age) कहते हैं। प्रकाशनकाल १७९८ ई०।

का संग्रह तथा (५) देवताओ के गौण नामो का संग्रह। जिसमे केवल देवताओ के मुख्य नामो का सग्रह हो उसे 'दैवत' कहते हैं।

इसके बाद पद-भेदो का वर्णन होता है। पद चार प्रकार के हैं—नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। इन्ही चारो भेदो को वैयाकरणो ने भी स्वीकार किया है भले ही पद के नाम पर पाणिनि ने दो ही भेद—सुबन्त और तिङन्त—माने हैं। निरुक्त के वाक्यो से मालूम पडता है कि ये भेद यास्क के समय काफी प्रचलित थे। नाम और आख्यात के लक्षणो मे यास्क ने क्रमश सत्त्व और भाव की चर्चा की है। दोनो शब्दो की उत्पत्ति समानार्थक धातुओं (अस् और भू) से हुई है, अतएव यह दिखलाने की चेष्टा हुई है कि नाम और आख्यात में मौलिक-अन्तर नही, केवल अवस्था (degree) का अन्तर है। जब तक क्रिया का क्रम चल रहा है तब तक उसे 'भाव' ही कहते हैं किन्तु पूर्ण हो जाने पर क्रिया 'सत्त्व' नाम से पुकारी जाती है। पढने का काम होते समय तो हम 'पठति' कहते हैं किन्तु काम के अन्त मे 'पाठ' नाम रखते हैं। पाणिनि के व्याकरण मे क्रिया की दोनो ही अवस्थाओ को 'भाव' कहते हैं जिसके स्वतः दो भेद हो जाते है—साध्यावस्थापन्न-भाव जिसे निरुक्तकार 'भाव' कहते हैं, तथा सिद्धावस्थापन्न-भाव जिसे निरुक्तकार 'सत्त्व' कहते हैं। साहित्य-शास्त्र मे केवल अन्तिम-अवस्था को ही भाव कहते हैं—भाव. अन्तिमः विकार.। यास्क के अनुसार आख्यात और नाम के उदाहरण क्रमश —'गच्छति' और 'गति.' हैं।

उपसर्गों और निपातो का निश्चित लक्षण न तो यास्क ही दे पाये हैं और न पाणिनि ही। दोनों ने ही 'प्रतिपद-पाठ' करना ही सुलभ समझा है। उपसर्ग पाणिनि के मत से २२ और यास्क के मत से २० हैं क्योंकि पाणिनि ने निस्, निर् और दुस्, दुर् को अलग-अलग माना है। पाणिनि के मत से उपसर्ग द्योतक ही हैं अकेले उनका कोई अर्थ नही।[1] यास्क ने शाकटायन का मत उल्लेख करके इतना अवश्य किया है कि उपसर्गों के लगने से नाम और आख्यात मे अर्थ का क्या परिवर्तन होता है[2]—इससे स्पष्ट कर दिया है। यह सन्दर्भ उपसर्गों के अर्थ और इतिहास की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है।

---

१. तुलना करें—'उपसर्गाः क्रियायोगे' (पा० सू० १।४।५९) तथा 'न निर्बद्धा: उपसर्गा अर्थान् निराहुरिति शाकटायनः ...... तद् य एषु पदार्थः प्राहुरिमे, तन्नामाख्यातयोरर्थविकरणम्' (नि० १।५)। ऋग्वेद प्रातिशाख्य में भी २० ही उपसर्ग गिनाये गये हैं (१२।६)।

२. देखें—भूमिका का षष्ठ परिच्छेद।

निपातो के तीन भेद माने गये हैं।—उपमार्थक, कर्मोपसंग्रह और पदपूरण। इन सबो के उदाहरण वैदिक-साहित्य से, विशेषतया ऋग्वेद से, दिये गये हैं। इन भेदो का कोई नियमित विभाग नही, उपमार्थक निपात पद पूरण भी हो सकते हैं, कर्मोपसग्रह भी, अथवा किसी अन्य अर्थ मे ही प्रयुक्त हो सकते हैं। उनका मुख्य अर्थ देखकर ही निर्धारण किया जाता है कि अमुक शब्द क्या है।[1] कर्मोपसग्रह का लक्षण बहुत कुछ अस्पष्ट है। मेरा विचार है कि किसी लिपिकार के प्रमादवश कुछ शब्द इसमे बढा दिये गये हैं जिसे मैंने मूल निरुक्त की टीका मे स्पष्ट भी किया है। डा० गुणे इसका अनुवाद करते हैं—'जिसके आगमन (अर्थात् प्रयोग) से अर्थों (विचारो) की पृथक्ता सचमुच जानी जाय, किन्तु जो पृथक् स्थान या स्वतन्त्र उल्लेख के कारण साधारण गणना की तरह न हो, वही कर्मोपसग्रह, अर्थात् अर्थों या विचारो का योग करना या एकत्रीकरण, कहलाता है।'[2] गुणे की आलोचना डा० लक्ष्मण स्वरूप और प्रो० राजवाडे ने की है। सम्भवत डा० सरूप तथ्य के अधिक निकट पहुँच सके हैं—'जिसके योग से विचारो का वस्तुत पार्थक्य जानें किन्तु गणना के समान का (पार्थक्य) नही (अर्थात् अलग-अलग कर देने से होनेवाला पार्थक्य) वही कर्मोपसग्रह (Conjunction) है।'[3] यास्क ने कुल चौदह निपात गिनाये हैं और प्रत्येक की पुष्टि प्रयोग द्वारा की है। पदपूरण का अर्थ है निरर्थक शब्द जो छन्द की पूर्ति के लिए आते हैं। इस स्थान पर यास्क ने गद्य को अमिताक्षर और पद्य को मिताक्षर ग्रन्थ कहा है। गद्य मे यदि पदपूरण के शब्द आयें तो उन्हे वाक्यपूरण कहा जाता है।

---

१. तुल० प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति = किसी वस्तु का नाम उसके प्रधान कर्म को देखकर देते हैं। वैसे ही, प्रधान शब्द या अर्थ देख कर ही किसी शब्द का निर्धारण होता है।

२. 'Owing to whose advent (i e, use) separateness of the अर्थ (senses or ideas) is indeed known, but not as in simple enumeration owing to separate position or independent mention, that is कर्मोपसग्रह, i e, adding or putting together of the senses or ideas.' *Indian Antiquary*, Vol xlv p 159

३ 'That by whose addition separateness of notions is indeed recognized, but not as an enumerative one, i. e on account of a separateness by isolation, is a Conjunction.' *The Nirukta, English Translation by Dr. Sarup*

ब्राह्मण-ग्रन्थों में ये अधिकता से पाये जाते हैं। निपातों के विषय में पाणिनि के सूत्र हैं—प्राग्रीश्वरान्निपाताः, चादयोऽसत्त्वे, प्रादयः (१।४।५६–५८)।

पद-भेद के सम्बन्ध में यास्क एक विवाद उठाते हैं कि शब्द नित्य हैं या अनित्य। यह विवाद केवल निरुक्त में ही नहीं, व्याकरण, न्याय तथा पूर्व-मीमांसा के ग्रन्थों में भी उठाया गया है। किन्तु इनमें से प्रत्येक अपने सिद्धान्त पर अटल है। भिन्न-भिन्न तर्क देने पर भी वैयाकरण और मीमांसक शब्द को नित्य मानते हैं, निरुक्तकार (औदुम्बरायण) और नैयायिक शब्द को अनित्य मानते हैं। औदुम्बरायण का कहना है कि शब्दों की सत्ता केवल इन्द्रियों तक ही है अर्थात् ये अनित्य (अस्थायी) हैं। ऐसा मानने पर पदों का भेद या प्रकृति-प्रत्यय का संयोग भी असिद्ध हो जायगा क्योंकि भिन्न-भिन्न कालों में उत्पन्न अक्षरों का योग असम्भव है। पतञ्जलि भी ऐसी ही युक्ति से कार्य-शब्द की व्याख्या करते हैं[1]—शब्द अलग-अलग ध्वनियों से ही बनता है। हम दो ध्वनियाँ एक साथ उत्पन्न नहीं कर सकते। 'गौ' शब्द में गकार, औकार और विसर्ग के उच्चारण भिन्न-भिन्न कालों में होते हैं। इसलिए ध्वनियाँ निश्चित-रूप से नाशवान् हैं।

अनित्य होने पर भी शब्दों से ही वस्तुओं का नामकरण होता है क्योंकि ये व्यापक हैं तथा वस्तु-बोध कराने के अन्य सभी साधनों की अपेक्षा सरलतर हैं। यदि हम वस्तुओं को दिखाकर या हाथ-पैर से इशारा करके उन वस्तुओं का बोध करावें तो कठिनाई होगी किन्तु शब्दों के द्वारा बोध कराने में कोई भी कठिनाई नहीं। लौकिक-व्यवहार के लिए ही शब्दों का आश्रय लिया जाता है। पतञ्जलि ने 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' वार्तिक पर विचार करते हुए कहा है कि शब्द और उसके द्वारा निर्दिष्ट वस्तु का सम्बन्ध नित्य है। शब्दों की वस्तुबोधक-शक्ति तो स्वाभाविक है किसी की उत्पन्न की हुई नहीं।[2] वस्तुएँ भी नित्य ही हैं, संक्षेप में यह कहें कि शब्द, अर्थ और उन दोनों का सम्बन्ध—ये सभी सिद्ध (नित्य) हैं। यह नित्यता हमें लौकिक-व्यवहार से ज्ञात होती है। वस्तुओं को देखकर लोग उनके बोध के लिए शब्द का प्रयोग करते हैं, शब्द-रचना में परिश्रम नहीं करना पड़ता। परिश्रम तो केवल अनित्य वस्तुओं की ही रचना में करना पड़ता है, जैसे घड़े की जरूरत होने पर हमें कुम्भकार के घर जाकर कहना पड़ता है—'घड़ा बनाओ, मुझे जरूरत है।' शब्द का प्रयोग करने के लिए हम वैयाकरण के पास जाकर

१. महाभाष्य १।४।१। २. तुलनीय—जै० सू० १।१।५।

कभी नहीं कहते हैं कि शब्द बनाइये, हमें प्रयोग करना है। लोग वस्तुओं को देखते हैं तथा उनका बोध कराने के लिए शब्द का प्रयोग आरम्भ कर देते हैं। यही भाषा की उत्पत्ति का सिद्धान्त है।[1]

वैयाकरण लोग अर्थबोध कराने के लिए 'स्फोट' स्वीकार करते हैं। कोई शब्द कई अक्षरों से बनता है जो क्षणिक होने के कारण न तो मिलकर ही अर्थबोध करा सकते हैं और न अलग अलग ही। इसलिए उन्हें अर्थ का स्फोटक (प्रकाशक) स्फोट स्वीकार करना पड़ता है।[2] इसे ही भर्तृहरि ने नित्य शब्द ब्रह्म कहा है जिसका विवर्त[3] रूप ही संसार के समस्त व्यवहार हैं।[4] इस स्फोट (नित्य शब्द) का ही प्रतिनिधित्व करनेवाला एक कार्य—(कामचलाऊ) शब्द होता है जिसकी सत्ता केवल व्यावहारिक दशा (Practical world) में है, पारमार्थिक या वास्तविक दशा (World of Reality या Transcendental world) में नहीं। इसे ही यास्क भी स्वीकार करते हैं। सारांश यह है कि शब्द परमार्थतः नित्य है किन्तु व्यवहारतः कार्य। पाली में लिखे बौद्ध ग्रन्थों में भी 'सद्द (शब्द) के स्वभाव का विचार किया गया है जो स्फोट से मिलता जुलता है। इससे निष्कर्ष निकलता है कि स्फोटवाद का सिद्धान्त यास्क और बुद्ध के समय प्रचलित था।[5]

मीमांसा दर्शन में दूसरी युक्तियों से शब्द की नित्यता स्वीकार की गई

---

१ Bhandarkar, *Wilson Philological Lectures* p 291

२ तुलनीय—किं वर्णाः समस्ता व्यस्ता वाऽर्थप्रत्ययं जनयन्ति ? नाद्य, वर्णानां क्षणिकानां समूहासम्भवात्। नान्त्य, व्यस्तवर्णेभ्योऽर्थप्रत्ययासम्भवात्। न च व्यासमासाभ्यामन्य प्रकार सम्भवतीति। तस्माद्वर्णानां वाचकत्वानुपपत्तौ यद्बलादर्थप्रतिपत्ति स स्फोट। सर्वदर्शनसंग्रह (अभ्यङ्कर-संस्करण), १३।१३७।

३ अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदाहृत (वेदान्तसार)—अपरा ज्ञान जो वस्तुओं के तत्त्व न बदलने पर भी उनके परिवर्तन की प्रतीति कराये वह विवर्त है।

४ देखिये वाक्यपदीय १।१—अनादिनिधन ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यत ॥

५ स्फोटवाद के विवेचन निम्नलिखित ग्रन्थों में हुए हैं—पतञ्जलि का महाभाष्य, भर्तृहरि का वाक्यपदीय (काण्ड १), माधवाचार्य का सर्वदर्शनसंग्रह (पाणिनि-दर्शन), कौण्डभट्ट का वैयाकरणभूषण, नागेश का लघुमञ्जूषा और स्फोटवाद, P C Chakravarty—*Philosophy of Sanskrit Grammar* तथा डॉ० कपिलदेव द्विवेदी का प्रबन्ध (Thesis)—'अर्थविज्ञान और व्याकरणदर्शन'।

है।[1] शब्दो का उच्चारण शब्दमात्र के लिए नही, प्रत्युत अर्थबोध के लिए होता है। यदि शब्द नश्वर हो तो अर्थबोध हो ही नही सकता। शब्दो का सार्वजनिक अनुभव होता है। एक ही शब्द का कई बार प्रयोग होने पर उसकी समानता या स्थिरता का भी अनुभव हम करते हैं। इसलिए शब्द नित्य हैं। डा० लक्ष्मण स्वरूप ने औदुम्बरायण के मत की तुलना प्लेटो के शब्द-क्षणिकवाद से की है। प्लेटो ने अपनी पुस्तक क्रेटिलस (Cratylus) मे कहा है—'क्रेटिलस! हम तर्कपूर्वक यह भी नही कह सकते कि वस्तुत ज्ञान है, जब कि सभी वस्तुएँ परिवर्तन की दशा मे हैं और कोई भी चीज स्थिर नही है।'[2] साराश यही है कि औदुम्बरायण शब्द को नित्य नहीं मानते जब कि यास्क कार्य (व्यवहार) के लिए शब्द की नित्यता स्वीकार करते हैं जो स्फोटवाद की ओर का सकेत है।

इस विचार के ही प्रसग मे यास्क एक आश्चर्यजनक बात बतलाते हैं कि किसी वस्तु का बोध जिस नाम से मनुष्यो मे होता है उसी नाम से देवता लोग भी उन्हें समझते हैं। इन वाक्यों में मनुष्य की प्रधानता दिखलाई गई है; इससे पता लगता है कि यास्क भाषा की उत्पत्ति को दैवी नही मानते।[3] ऊपर पतञ्जलि का भी मत हम देख चुके हैं। इसके विपरीत प्लेटो कहते हैं कि देवताओ के द्वारा दिया गया नाम ही उचित और स्वाभाविक है। देवताओ और मनुष्यो के बीच शब्द साम्य होने पर भी मनुष्यो का ज्ञान अनित्य है इसीलिए कर्म का सम्पादन करनेवाले मन्त्र वेदों में उल्लिखित हैं। यास्क ने जिस शैली मे—'पुरुषविद्यानित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे' लिखा है उसे सूत्र-शैली कह सकते हैं। यास्क के समय सूत्रात्मक-शैली का प्रचलन आरम्भ हो गया था।

इसके बाद यास्क ने 'भाव' का दार्शनिक विश्लेषण किया है। क्रिया की उत्पत्ति से लेकर फलप्राप्ति तक जो अवस्थायें (Stages) आती हैं उन्हे भाव का विकार कहा जाता है। ये छः है—उत्पत्ति, सत्ता, परिणाम, वृद्धि,

१. जै० सू० १।१।१२-२३, Radhakrishnan, *Indian Philosophy*, Vol. II, p. 390

२. 'Nor can we reasonably say, Cratylus, that there is knowledge at all, if everything is in a state of transition and there is nothing abiding' Jowett *Dialogues of Plato*, Vol I, pp 387-8.

३. देखिये—भूमिका का सप्तम परिच्छेद।

अपक्षय और विनाश।[1] इन सबों को अच्छी तरह स्पष्ट किया गया है। भाव के विकारों का यह आत्यन्तिक विश्लेषण है क्योंकि दूसरे स्थानों में केवल तीन ही विकार माने गये हैं जैसे—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' (तै० उ० ३।१)। शङ्कराचार्य ने ब्रह्मसूत्र के *'जन्माद्यस्य यतः'* (१।१।२) सूत्र पर भाष्य लिखते हुए जन्म, स्थिति और नाश के अन्तर्गत ही सबों का अन्तर्भाव किया है। बल्कि इन छः विकारों को तो वे संसार की स्थिति में ही समझते हैं।[2]

चतुर्थ-पाद में एक ऐसे विषय पर विवाद उठाया गया है जो निरुक्त की और आधुनिक भाषा-विज्ञान की भी आधार-शिला है। वह है—शब्दों का धातुज-सिद्धान्त। इसका अभिप्राय है कि क्या सभी नाम धातुओं से बने होते हैं या स्वतः निष्पन्न होते हैं। यास्क इस मत के पोषक हैं कि सभी शब्द आख्यातज हैं, जिसे सिद्ध करने के लिए ही सम्पूर्ण निरुक्त की रचना हुई है। अस्तु, इस विवाद में दो पक्ष हैं—एक पक्ष कहता है कि सभी नाम आख्यातों से उत्पन्न हैं। इस सिद्धान्त के प्रतिपादक हैं शाकटायन नामक वैयाकरण और सभी निरुक्तकार। दूसरी ओर गार्ग्य तथा कुछ वैयाकरण कहते हुए हैं कि सभी नाम आख्यातज नहीं हैं।[3]

शाकटायन बहुत पुराने और प्रसिद्ध वैयाकरण हैं क्योंकि इनका उल्लेख ऋग्वेद-प्रातिशाख्य, वाजसनेयि-प्रातिशाख्य, अथर्व-प्रातिशाख्य तथा पाणिनि-सूत्रों में भी हुआ है। इनके सिद्धान्त के अनुसार ही उणादि-सूत्रों की रचना हुई है जिसकी मूलभित्ति यही है कि सभी शब्दों की व्युत्पत्ति हो सकती है। सम्भव है कि शाकटायन ने उणादि सूत्रों की रचना प्रारम्भ कर दी हो जिसका

---

१. उत्पत्तिसत्तापरिणामवृद्धिक्षया विनाशश्च इति प्रकाराः।
भावस्य जन्मस्थितिसन्नतीनां विकासहेतौ खलु षट् वदन्ति॥

२ तुल० शां० भा० १।१।२—यास्कपरिपठितानां तु 'जायतेऽस्ति' इत्यादीनां ग्रहणे तेषां जगतः स्थितिकाले सम्भाव्यमानत्वात् मूलकारणात् उत्पत्तिस्थितिनाशाः जगतो न गृहीताः स्युरित्याशङ्क्येत।

३. तुल० महाभाष्य ३।३।१ पर,

'बाहुलकं प्रकृतेस्तनुदृष्टेः प्रायसमुच्चयनादपि तेषाम्।
कार्यसशेषविधेश्च तदुक्तं नैगमरूढिभवं हि सुसाधु॥ १॥
नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम्।
यन्न विशेषपदार्थसमुत्थं प्रत्ययतः प्रकृतेश्च तदूह्यम्॥ २॥'

आधुनिक-रूप बहुत पीछे दिया गया।[१] डा० बेलवलकर[२] उणादि-सूत्रों को पाणिनि की ही कृति मानते हैं किन्तु यह भ्रान्त-धारणा है। उनका यह तर्क कि पाणिनि की शब्दावली (जैसे ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, उदात्त, लोप, सम्प्रसारण और अभ्यास) का प्रयोग उणादि-सूत्र में है, यह निष्कर्ष नहीं निकलने देता है क्योंकि इन संज्ञाओं का प्रयोग बहुत पहले से ही होने लगा था, स्वयं यास्क ने ही इनमें से कुछ का प्रयोग किया है। गार्ग्य भी प्राचीन वैयाकरण ही हैं जिनका उल्लेख यास्क और पाणिनि करते हैं। इनके मत से सहमति रखनेवाले पाणिनि और पतञ्जलि हैं जो उणादि को अव्युत्पन्न मानते हैं। दुर्गाचार्य ने गार्ग्य को सामवेद का पद-पाठकार माना है।

गार्ग्य का कहना है कि जिन शब्दों की व्युत्पत्ति हम व्याकरण की आज्ञा मानकर कर सकें, अर्थात् जब शब्द में विद्यमान धातु का अर्थ शब्द के अर्थ से सामञ्जस्य रखता हो, उसकी रचना भी हम व्याकरण के द्वारा सिद्ध कर सकें तभी किसी शब्द को व्युत्पन्न मानने का हमें अधिकार है, अन्यथा शब्द अव्युत्पन्न हैं, जैसे—गो, अश्व, पुरुष, हस्ती। इस प्रकार वे व्युत्पन्न और अव्युत्पन्न शब्दों की विभाजन-रेखा बनाकर अपने पक्ष की पुष्टि के लिए निम्नलिखित प्रमाण देते हैं।[३]

(१) यदि सभी नाम आख्यात से उत्पन्न होते तो नाम में विद्यमान आख्यात से जिन-जिन वस्तुओं का सम्बन्ध होता उन सबों का एक ही तरह का नाम होता, जैसे 'अश्व' में अश्-धातु है जिसका अर्थ है तय करना; तो जो-जो चीजें (सवारियाँ) रास्ता तय करतीं उन सभी को 'अश्व' ही कहा जाता! इसके उत्तर में यास्क कहते हैं कि यह देखने में आता है कि एक क्रिया से सम्बद्ध सभी चीजों या व्यक्तियों में से कुछ को तो क्रिया से सम्बन्ध बताने वाला नाम दे देते हैं, कुछ को नहीं। √तक्ष् का अर्थ है लकड़ी काटना, अब सभी लकड़ी काटनेवालों को 'तक्षा' न कहकर बढ़ई को ही कहते हैं, उसी

---

१. उणादि के कुछ सूत्र निश्चित रूप से पाणिनि के पूर्व लिखे जा चुके थे। पाणिनि ने अपने 'तितुत्रतथसिसुसरकसेषु च' (७।२।९) सूत्र में उणादि के कुछ प्रत्ययों का उल्लेख किया है। यह सिद्ध करता है कि कम से कम ये सूत्र तो पाणिनि के पूर्व हो से थे। फिर भी पाणिनि की दृष्टि में विशेष पदार्थ से निकले न होने के कारण ये अव्युत्पन्न हैं। वस्तुतः उणादि सूत्र पाणिनि के सिद्धान्त के विरुद्ध हैं। पूर्वोक्त सूचना के लिये मैं अपने अनुसन्धान-गुरु डा० सातकड़ी मुकर्जी का बहुत कृतज्ञ हूँ।

२. *Systems of Sanskrit Grammar*, p. 25

३. निरुक्त १।१२–१४।

में यह शब्द रूढ हो गया। सभी घूमनेवालों को 'परिव्राजक' न कहकर केवल सन्यासियों को ही परिव्राजक कहते हैं। लौकिक-परम्परा ही इसका निर्णय करती है।

(२) यदि सभी नाम आख्यात से उत्पन्न होने तो जिन जिन क्रियाओं में किसी वस्तु का सम्बन्ध होता, उन सभी के आधार पर उसका नाम पड़ता जैसे खम्भे को 'दरशया' कहते क्योंकि यह छेद में सोती है, वहतीर धारण करने के कारण उसे 'आसञ्जनी' भी कह देते। इसके उत्तर में भी यास्क यही कहेंगे कि वस्तु से सम्बन्ध रखनेवाली अनेक क्रियाओं में से कुछ को ही ऐसा सौभाग्य मिलता देखा जाता है कि उसके आधार पर ही वस्तु का नामकरण हो। सबों के आधार पर नामकरण न तो सम्भव ही है और न उचित ही। किसी प्रधान कर्म के आधार पर नाम रखते हैं (प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति)।

(३) यदि नाम में आख्यात मिल ही रहा है तो उसे ऐसा क्यों नहीं रहना चाहिये था कि वह व्याकरण की दृष्टि से भी शुद्ध होता और उसका अर्थ भी तुरत मालूम हो जाता, जैसे—'पुरुष' में यदि पुर + √शी पाते हैं तो इससे अच्छा तो शुद्ध नाम होता 'पुरिशय', 'तृण' की अपेक्षा अधिक शुद्ध होता 'तर्दन' कहना। परन्तु चूँकि ऐसे नाम नहीं हैं इसलिए ये सब अव्युत्पन्न एवं रूढ हैं। उत्तर यही है कि ऐकपदिक-काण्ड में (जिसे अव्युत्पन्न शब्दों का संग्रह कहते हैं) कुछ कृदन्त प्रत्ययों से बने शब्द हैं किन्तु प्रयोग में कम आते हैं। ये आपकी कल्पना के अनुसार ही बने हैं जैसे—व्रतति, जागरूक इत्यादि।

(४) सभी नामों में आख्यात मानने से किसी शब्द का व्यवहार चल पड़ने पर उसके मूल के विषय में व्यर्थ का विचार करना पड़ता है। मान लिया कि 'पृथिवी' को प्रथ् धातु (फैलाना) से निकला मानते हैं। अब बैठकर सोचते रहिये कि पृथ्वी को किसने और कहाँ बैठकर फैलाया ? इस परिहास को यास्क आड़े हाथों लेते हैं और कहते हैं कि पृथ्वी देखने में तो पृथु (फैली हुई) लगती है न ? भले ही किसी ने उसे नहीं फैलाया हो। सभी चीजों का नाम देखकर ही देते हैं।

(५) गार्ग्य फिर कहते हैं कि आपके शाकटायन तो एक तमाशा लगा देते हैं। वे जब देखते हैं कि एक धातु से व्युत्पत्ति करने में अर्थ असंगत हो रहा है, बनावट व्याकरण-सम्मत नहीं है तब वे शब्द के टुकड़ों में भी धातु की

कल्पना करने लगते हैं जैसे 'सत्य' शब्द की व्युत्पत्ति मे इ-धातु और अस् धातु-दोनो को ही नियुक्त कर लेते हैं। यास्क जवाब देते हैं कि यदि शाकटायन ऐसा करें और असगत अर्थ मे करें तो बुरा है, किन्तु यदि वे सगत अर्थ मे ही कर रहे हो तो कोई आपत्ति नही। सिद्धान्त का कोई दोष नही होना, व्यक्ति भले ही दोषी हो।

(६) आप लोग यह भी मानते हैं कि क्रिया के पहले नाम पड जाता हैं किन्तु बाद मे होनेवाली क्रिया के आधार पर वह नाम कैसे पडेगा? उत्तर मे कहा जा सकता है कि कुछ वस्तुओ का नाम तो बाद मे होनेवाली क्रिया के आधार पर ही होता है, जैसे—बिल्वाद (एक पक्षी का नाम)। यह पक्षी जन्मते ही तो बेल का फल नही खाता पर इसका नाम उसी समय पड जाता है। 'लम्बचूडक' पक्षी की लम्बी चोटी बहुत बाद मे होती है पर इसे जन्मते समय भी लम्बचूडक ही कहते हैं।

इस प्रकार निरुक्तकार सिद्ध करते हैं कि सभी शब्दो का निर्वचन सम्भव है। आधुनिक भाषा विज्ञान का यह लक्ष्य है कि प्रत्येक शब्द के मूल का पता लगायें, उसे रूढ कहकर न छोड दें। इस दृष्टि से यास्क ने भाषाशास्त्रियों को रास्ता दिखलाया है। सत्य तो यह है कि यास्क ही प्रथम भाषाशास्त्री है। प्रो॰ मैक्समूलर इस सिद्धान्त के विषय मे लिखते हैं '· · ·(यास्क मानते हैं कि) प्रत्येक नाम आख्यात से निकला है और वे इसके विरोध मे उठाये गये विभिन्न तर्कों का समाधान भी करते हैं—यह वह सिद्धान्त है जिसपर पाणिनि का समस्त प्रस्थान अवलम्बित है और जो वस्तुत. आधुनिक भाषा-विज्ञान का मूल है।'[१] यहाँ पाणिनि से मतलब है उणादि-इत्यादि को लेकर, क्योकि पाणिनि तो इस दृष्टिकोण से यास्क के विरोधी ही हैं।

भाषा-विज्ञान यद्यपि शब्दो को धातु से निष्पन्न मानता है किन्तु सभी धातु आख्यात (Verbal root) ही होंगे, यह स्वीकार नही करता। निर्वचनों के परिशिष्ट मे हम यह अच्छी तरह देखेंगे। शब्दो को आख्यातज मान लेने के कई कुपरिणाम हैं, जैसे[२]—

१. '........ (Yaska maintains that) every noun is derived from a verbal root and meets the various objections raised against it,—a theory on which the whole system of Paṇini is based, and which is, in fact, the postulate of modern Philology.' *History of Ancient Sanskrit Literature*, p. 161.

२ Vide, Dr. Siddheshwar Varma, *Etymologies of Yāska*, Chap II.

(१) स्वरों के परिमाण[1] का तिरस्कार—यास्क 'अघ' की व्युत्पत्ति करते हैं आ + √हन् से। वे यह नहीं विचार करते कि 'आ' किस प्रकार अपना परिमाण बदलकर 'अ' बन जायगा। वस्तुत 'अघ' किसी धातु मे नही बना। मूल भारत-यूरोपीय (Prototype Indo European) भाषा का शब्द है—अघ् (agh) जिसका अर्थ है 'खराब'; अवेस्ता मे 'अग' = बुरा।

(२) स्वरों के गुण का आत्यन्तिक-तिरस्कार—'मुद्गल' शब्द की व्युत्पत्ति की गई है—√गिल् से। 'इ' का परिवर्तन 'उ' मे होना भाषा-विज्ञान के लिए एक समस्या ही है। 'श्मश्रु'=श्मन् + √श्रि अर्थात् 'इ' का परिवर्तन 'उ' मे। ध्वनि-नियमो का यह साक्षात् तिरस्कार है।

(३) व्यञ्जन-सम्बन्ध का तिरस्कार—'कुल' शब्द √रुज् से वर्ण-विपर्यय द्वारा निर्मित माना गया है अर्थात् ज् और क्, र् और ल् परस्पर परिवर्तित होते हैं। क्या सभी जगह ऐसा ही होता है? उसी प्रकार 'कृषु' को √कृन्त् से निष्पन्न मानते हैं।

(४) कभी-कभी प्रथम व्यञ्जन पर विशेष ध्यान देकर शेष व्यञ्जनो को बिल्कुल छोड दिया गया है। 'ग्रावा' शब्द √ग्रह् से बना है, 'व' के विषय मे यास्क ने मौन धारण कर लिया है।

(५) स्वर और व्यञ्जन दोनो का एक साथ भी तिरस्कार कर दिया है। अनस् (गाडी) की व्युत्पत्ति है 'आ + √नह्'; यहाँ 'आ' का 'अ' (गुणगत-भेद, स्वर का) तथा 'ह्' का 'स' मे परिवर्तन असम्भव ही है।

(६) कभी कभी शब्द मे विद्यमान धातु से अधिक अक्षरो का धातु देकर यास्क व्यर्थ का परिश्रम करते है 'अन्धस्' की व्युत्पत्ति उन्होने दी है 'आ + √ध्यै' जिसमे केवल 'ध्' की ही आवश्यकता थी। भारत-यूरोपीय भाषा मे 'अन्धोस् (andho's)' = फूल।

ये सभी दोष इसलिए आये हैं कि उन्होंने स्वत सिद्ध शब्दो मे (जो मू० भा० यू० मे क्रिया के रूप मे न होकर सज्ञा और विशेषण के ही रूप मे थे)

---

१. एक ही वर्ग में कालगत भेद को परिमाण (Quantity) कहते हैं जैसे अ-आ, इ ई इत्यादि में परिमाणगत (Quantitative) भेद हैं। किन्तु विभिन्न-वर्गों के भेद को गुण (Quality) कहते हैं, जैसे अ इ, अ-उ, इ-उ आदि में गुणगत भेद (Qualitative difference) है। यह भेद यदि स्वाभाविक हो तो उसे स्वर विकार (Ablaut or Vowel Gradation) कहते हैं जैसे Sing, Sang, Sung डा० सुनीतिकुमार चटर्जी इसे अपश्रुति कहते हैं (ODBL)। देखिये—Taraporewala, *Elements of the Science of Language*. Chap VIII.

भी धातु खोजने की चेष्टा की है। यह दोष धातुज-सिद्धान्त के आत्यन्तिक प्रयोग के फलस्वरूप ही है। इन कमजोरियों के होते हुए भी यह सिद्धान्त बहुत महत्त्व रखता है क्योंकि व्युत्पत्ति दिये गये कुछ शब्द भले ही हमें वैदिक संस्कृत में न मिलें पर भारत-यूरोपीय-भाषा के अन्य खण्डों में मिलते हैं जैसा कि डा० सिद्धेश्वर वर्मा का निरीक्षण है—'यह सिद्धान्त भले ही कई दशाओं में हानिकारक हो, किन्तु एक ऐसी शान्तिप्रद विशेषता रखता है जिससे पता चलता है कि इसकी कई व्युत्पत्तियाँ उन शब्दों से सम्बन्ध रखती हैं जिनका सम्बन्ध का मूल प्राचीन-भारतीय-भाषा में प्राप्य न हो, किन्तु दूसरी भारत-यूरोपीय भाषाओं में प्राप्त है।'[1] प्रो० मैक्समूलर भी इस सिद्धान्त की प्रशंसा में लिखते हैं—'मुझे सन्देह है कि इस समय भी, तुलनात्मक भाषा-विज्ञान ने शब्दों की उत्पत्ति पर जो भी नया प्रकाश डाला है उसके साथ भी, इस तरह के प्रश्न (शब्दों की उत्पत्ति के) यास्क की अपेक्षा अधिक सन्तोष-प्रद रूप से सरल किये जायेंगे।'[2]

प्रथम-अध्याय में अब केवल एक ही विषय की विवेचना बच रही है और वह है निरुक्त की उपयोगिता। यास्क के अनुसार निरुक्त कई विषयों के लिए उपयोगी है—

(१) आरम्भ में ही 'समाम्नाय समाम्नात, स व्याख्यातव्य.' लिखा है। इसका अभिप्राय है कि निघण्टु के शब्दों की व्याख्या करना निरुक्त का काम है, अर्थात् निरुक्त भाष्य है। दुर्गाचार्य निरुक्त को भाष्य कहते हैं। विन्तरनित्स (Winternitz)[3] यास्क को प्रथम भाष्यकार मानते हैं तथा

---

१ 'But the theory, however disastrous in many respects, has a palliating feature in the fact that most of the derivations relate only to those words for which relations or origin, though not available in Old Indo Aryan are to be found in other Indo European languages.' *Etymologies of Yāska*, p. 2.

२ 'I doubt whether even at present, with all the new light which Comparative Philology has shed on the origin of words, questions like these could be discussed more satisfactorily than they were by Yaska.' *Hist. of Anc. Skt. Lit.* p. 168

३ Winternitz, *Geschichte der Indischen Litteratur*, Vol III, p. 379

पतञ्जलि को वे अपनी अलकृत शैली मे 'भाष्यकारों का राजकुमार' कहते है। इस प्रकार शब्दों का अर्थबोध कराना निरुक्त का प्रथम कार्य है।

(२) 'इदमन्तरेण मन्त्रेषु अर्थप्रत्ययो न विद्यते'—चूंकि निरुक्त शब्दो के अर्थ का निर्णय करता है और यास्क उनका प्रयोग दिखलाने के लिए वैदिक-मन्त्रो का उद्धरण देकर उनकी व्याख्या करते हैं, इसलिए मन्त्रो के अर्थ का ज्ञान भी निरुक्त के द्वारा ही होता है। प्राय ६०० मन्त्रो की व्याख्या यास्क ने की है। वैदिक साहित्य भर मे मन्त्रो का अर्थ यदि कही हुआ है तो निरुक्त से ही। आधुनिक अर्थकारो को यास्क से काफी सहायता मिली है।

(३) निरुक्त एक विद्यास्थान (Science) है, प्राचीन काल के चौदह विद्यास्थानों मे इसकी गणना है।[1] यह व्याकरण का पूरक भी है क्योंकि व्याकरण शब्दो की रचना (बहिरङ्ग) की व्याख्या करता है तो निरुक्त उनके अर्थ (अन्तरङ्ग) की खोज करता है। इसके लिए वह शब्दो की प्रकृति का पता लगाकर उसके अर्थ से सगति दिखाते हुए पूरे शब्द के अर्थ का अनुसन्धान करता है। किन्तु व्याकरण पर वह सर्वस्व अर्पण नही कर देता,[2] क्योकि व्याकरण की बनावट (शब्द सस्कार या वृत्तियाँ) अपवाद (विकल्प) से भरी होती है। फिर भी व्याकरण और निरुक्त मे अविच्छिन्न सम्बन्ध है।[3]

(४) यज्ञ मे भी निरुक्त से काफी सहायता मिलती है क्योंकि इसके द्वारा ही 'किस मन्त्र मे कौन देवता है'—इसका निर्णय किया जा सकता है और तभी किसी देवता को हविष् देने के लिए किसी विशेष मन्त्र का उच्चारण सम्भव है। कभी-कभी किसी मन्त्र में कई देवता रहते हैं जिसका पता निरुक्त ही लगाता है कि किसे प्रधानता दी गई। इस गुण के कारण निरुक्त कर्मकाण्ड और पूर्वमीमांसा का भी पूरक कहा जा सकता है।

(५) 'इदमन्तरेण पदविभागो न विद्यते (ज्ञायते)'—निरुक्त के द्वारा ही किसी पद को उसके विभिन्न-खण्डो मे बाँट सकते हैं क्योकि अर्थ न जाननेवाला यह नही समझ सकता कि किसी पद मे एक ही शब्द है या दो शब्द, जैसे—

१ तुलनाय—'पुराणन्यायमीमांसा धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिता।
वेदा स्थानानि विद्याना धर्मस्य च चतुर्दश ॥' (या० स्मृ०)
अर्थात पुराण, न्याय, मीमासा, धर्मशास्त्र, ६ वेदाङ्ग, ४ वेद = १४ विद्यास्थान हैं।

२ न सस्कारमाद्रियेत, विशयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति। (नि० २।१)

३ देखिये भूमिका का षष्ठ परिच्छेद।

'अवसाय पद्वते०' = पैरवाले भोजन के लिए, अवस = भोजन—इसमे अव् धातु और अस प्रत्यय हैं दोनो मिलकर ही पद बनाते हैं इसलिए 'अवस' एक पद है जिसका चतुर्थी एकवचन मे रूप है—अवसाय (= भोजन के लिए)। किन्तु 'अवसाय अश्वान्' = घोडो को खोलकर—यहाँ अव उपसर्ग है, स्यो (खोलना) धातु से ल्यप् प्रत्यय (पूर्वकालिक) लगा है, इसलिए दो पद होने के कारण इसमे पद विभाग करना पडता है तथा पदपाठकार 'अवऽसाय' ऐसा इसका पदपाठ करते हैं। एक ही तरह के पद मे, कभी एक शब्द, कभी दो शब्द, हो जाते हैं, इसे निरुक्त न जाननेवाले नहीं समझ सकते हैं।[1]

(६) अर्थज्ञान का महत्त्व भी इसके द्वारा जाना जा सकता है। ज्ञान की प्रशसा और अज्ञान की निन्दा होती ही है। वेदो का अर्थ बिना जाने हुए उन्हें केवल रट जाना निष्फल है। इसलिए निरुक्त का अध्ययन आवश्यक है।

(७) अन्त मे, हम आधुनिक भाषा-विज्ञान की दृष्टि से निरुक्त की उपयोगिता पर विचार कर सकते हैं। यहाँ पर सक्षेप मे ही कहेंगे। भाषा-विज्ञान की एक शाखा है—अर्थविज्ञान (Semantics) जिसकी ओर लोगो का ध्यान विगत शती के अन्त मे ही आकृष्ट हुआ जबकि ब्रील (Michael Breal) ने सन् १८९८ ई० मे अपना ग्रन्थ 'एसे द सिमेंन्तिक्' (ésse de Semantigue) फ्रेंच मे लिखा। यास्क इस विज्ञान की नींव विक्रम के कई सौ वर्ष पूर्व दे चुके थे। अर्थ मे किस प्रकार का परिवर्तन होता है—इसका निर्देश वे स्पष्टरूप से करते हैं जिसे हम यथास्थान (सप्तम परिच्छेद) देखेंगे। डा० लक्ष्मण स्वरूप निरुक्त को 'व्युत्पत्ति-विज्ञान, भाषाविज्ञान और अर्थविज्ञान का सबसे प्राचीन भारतीय ग्रन्थ' कहते हैं।[2] फिर भी व्युत्पत्तिविज्ञान (Etymology) मे तो निरुक्त की तुलना ही नहीं है।

मन्त्रों के अर्थ के विषय मे यास्क द्वारा उठाये गये एक और विवाद पर विचार कर लेना अयुक्त न होगा। मन्त्रो के अर्थ के सम्बन्ध में बहुत प्राचीन काल से ही शङ्कायें उठायी जाने लगी थी। उनके दो पक्ष थे—एक तो लोकायत-मतवाले और दूसरे कर्मकाण्डी। लोकायत (चार्वाक) मत के लोग तो मन्त्रों को इसलिए अर्थ-हीन कहते थे कि इनमें ऊल-जलूल बातें भरी

---

१ Vide—Siddheswar Varma, *Etymologies of Yāska*, Chap IV. and Skold *The Nirukta*, Nirukta and the Padakāras

२ *The Nigh*. and the *Nirukta*, Subtitle, 'The Oldest Indian Treatise on Etymology, Philology and Semantics'.

पडी हैं वेदो को कोई सत्ता नही, इन्हे मानना व्यर्थ है।[१] दूसरी ओर कर्मकाण्डियो का कहना था कि वेदो का कोई अर्थ नही किन्तु उनका पाठ अनिवार्य है, पाठ करने मे अर्थ का ध्यान नही रहता, हम एक निष्ठा से पाठ करते हैं क्योकि यही हमारा धर्म है। इनके पक्ष की विवेचना सायणाचार्य ने अपनी ऋग्वेद-भाष्य-भूमिका के स्वाध्याय-प्रकरण मे की, जिसमे 'पुरुषार्थानुशासन' (एक अप्राप्त ग्रन्थ) से सूत्रो का उद्धरण देकर उन्होने निष्कर्ष निकाला है। आज के कर्मकाण्डी भी पाठ मात्र मे ही वेद की सत्ता समझते हैं किन्तु ऐसा नही कहा जा सकता कि वेदो के अर्थ मे उनका विश्वास नहीं है।

यास्क के विपक्षी कौत्स हैं जिनका कहना है कि मन्त्र अर्थहीन हैं। वे ऊपर कहे गये दोनो पक्षों का समुचित प्रतिनिधित्व करते हैं। यास्क ने उनके प्रत्येक आक्षेप का सफल उत्तर दिया है जिसे पूर्वमीमासाकार जैमिनि ने अपने सूत्रो मे ईषत्परिवर्तन के साथ ग्रहण कर लिया है। हम यहाँ उनका वर्णन करें—

(१) वेद के शब्दो की योजना ऐसी है कि न तो उनके स्थान पर हम *दूसरे पर्यायवाची शब्द रख सकते हैं और न ही उनके क्रम का परिवर्तन कर* सकते हैं। सार्थक वाक्यो मे तो ऐसा सम्भव था। भले ही झाड-फूंक करने के निरर्थक-मन्त्रो मे ऐसा परिवर्तन सम्भव नहीं है। थोडा भी परिवर्तन किया कि मन्त्रो की कार्यकरी शक्ति नष्ट हुई। इसलिए वेद के मन्त्र भी निरर्थक हैं। यास्क इसके उत्तर मे कहते हैं कि ऐसा लोक मे भी होता है। अपने दैनन्दिन-वार्तालाप मे हम ऐसे वाक्य भी बोल जाते हैं जिनके शब्द निश्चित होते हैं और स्थानच्युति नही सह सकते। इससे यास्क यह भलीभाँति स्पष्ट कर देते हैं कि वैदिक भाषा से ही लौकिक-भाषा की उत्पत्ति हुई है। 'अर्थवन्त शब्दसामान्यात्' के द्वारा तो वह इस पर पूरा जोर देते हैं कि दोनो भाषाओ मे शब्द की भी समानता रहती है। ज्ञात होता है कि वे भाषा के ऐतिहासिक विकास से पूर्ण परिचित हैं।

(२) यदि *मन्त्र सार्थक होते तो ब्राह्मण-ग्रथो के द्वारा उनका प्रयोजन* निश्चित करना व्यर्थ हो जाता। ब्राह्मणों में किसी मन्त्र का उद्धरण देकर यह लिखते हैं कि इसके द्वारा अमुक कार्य करे। मन्त्रो के द्वारा ही कार्य का स्पष्टीकरण हो जाने पर ब्राह्मण ग्रथ द्वारा उसका पुन उल्लख निरर्थक ही

---

१. तुलनीय—त्रयो वेदस्य कर्तारो भण्डधूर्तनिशाचराः।

है। यास्क इसे आवृत्तिमात्र कहकर छोड देते है किन्तु जैमिनि ने भिन्न-भिन्न उदाहरणो के लिए अलग-अलग सूत्र दिये है।[१]

(३) अर्थों की असगति भी वैदिक मन्त्रो की निरर्थकता सिद्ध करती है। अचेतन वस्तुओ से बात करना पागलपन ही है, किन्तु ऋषि कहते है—'हे कुल्हाडी ! इसे हानि मत पहुँचाओ', 'हे ओषधि ! इसे बचाओ।' यास्क इनका सन्तोषजनक उत्तर नही देते। वे कहते हैं कि इसमे वैदिक-वाक्य अहिंसा का प्रतिपादन करते हैं। यह उत्तर अव्याप्तिदोष से दूषित है। सभी जड-पदार्थों के सम्बोधन से तो अहिंसा ही नही निकलती। महर्षि बादरायण का 'अभिमानिव्यपदेश०' (ब्र० सू० २।१।५) या जैमिनि का 'अभिधानेऽर्थवाद' अधिक सुन्दर उत्तर है।

(४) वैदिक-मन्त्र इसलिए भी निरर्थक हैं कि वे आपस में ही विरोध करते हैं। कभी तो पृथ्वी मे केवल एक ही रुद्र होने की बात करते है तो कभी हजारो रुद्रो को ला बैठाते हैं। कभी इन्द्र को जन्म से ही शत्रुहीन कहते हैं और कभी कहते हैं कि उन्होने एक साथ ही सैकडों सेनायें जीत लीं। यह क्या खेल है ? यास्क फिर लौकिक-प्रयोग के सामने सिर झुका देते हैं किन्तु जैमिनि इसे आलङ्कारिक (Figurative) प्रयोग कहकर इसका पूरा स्वागत करते है।

(५) वेद मे जानकार को भी पुनः विधि बतलाने का नियम है जो समय का नाश करना ही है। यास्क कहते हैं कि ऐसी बात नहीं, यह अभिवादन है। गुरु के समक्ष हम कहते है—मैं, रामचन्द्र, आपका अभिवादन करता हूँ', यद्यपि गुरु इसे जान रहे हैं कि अभिवादक रामचन्द्र ही है। सम्मान देने के लिए ही ऐसा करने का विधान है।

(६) अर्थ की असङ्गति का ही एक दूसरा उदाहरण है—अदिति को सब कुछ कहना, जैसे—वे ही स्वर्ग है, अन्तरिक्ष है।[२] ऐसा तो संसार मे भी कहते है कि पानी मे सब रस है। इसलिए यह असंगति नहीं है।

(७) इसके अलावे कई मन्त्र अस्पष्ट अर्थवाले हैं। तो सबसे अच्छा है कि उन्हें निरर्थक ही समझ लिया जाय। यास्क कहते हैं कि मन्त्रो के

---

१. जै० सू० १।२।४१-४३ मन्त्राधिकरण।

२. ऋग्वेद १।८९।१०

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः ।
विश्वे देवा अदितिः पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥

अस्पष्ट लगने मे मन्त्र दोषी नही, उसे न समझनेवाला व्यक्ति ही दोषी है। खम्भे का दोष नही कि अन्धा उसे न देखे और उससे टकरा जाय।

इस प्रकार यास्क सिद्ध कर देते हैं कि मन्त्रों मे अर्थ है और उसे जानने के लिए निरुक्त की सहायता अपेक्षित है। स्मरणीय है कि यास्क का ही विवेचन लेकर जैमिनि ने अपने मन्त्राधिकरण[1] का निर्माण किया है। इस स्थान पर यास्क के कुछ वाक्य सूत्र की शैली मे लिखे भी गये हैं।



१. जै० सू० १।२।३१-५३ इनका विचार सायण की ऋग्वेद-भाष्य-भूमिका में भी है।

(ख) द्वितीय-अध्याय

[द्वितीय अध्याय—क्या द्वितीय अध्याय से ही निरुक्त का आरम्भ हुआ है ?—निर्वचन के सिद्धान्त—शब्दों में परिवर्तन—स्कोल्ड का विचार—वैदिक और लौकिक शब्दों का सम्बन्ध—उपभाषायें—अनुबन्ध-चतुष्टय और अधिकारी की जाँच—निघण्टु के शब्दों की व्याख्या—ऋचाओं के उद्धरण—'गौ' के अर्थ—इतिहास—वृत्र का रूपक ।]

हम जानते हैं कि द्वितीय अध्याय के प्रथम-पाद तक निरुक्त की भूमिका ही है और उसके द्वितीय-पाद से ही निघण्टु भाष्य का काम आरम्भ होता है। इसलिए इसके आरम्भिक-भाग में कुछ जानने और विचारने की बातें दी हुई हैं। वे हैं—निर्वचन की रीति तथा आदर्श शिष्य की कसौटी जिसपर विद्यार्थी को निरुक्त का अध्यापन कर सके।

द्वितीय-अध्याय का आरम्भ हुआ है 'अथ निर्वचनम्' से, जैसा कि प्राचीन-ग्रन्थों का आरम्भ हुआ करता है। प्रथम अध्याय के आरम्भ में 'अथ' का प्रयोग नहीं किया गया है। निघण्टु-भाष्य की भूमिका इतनी ही होनी चाहिये जितनी द्वितीय-अध्याय में है। इसीमें निर्वचन की रीति स्पष्ट कर दी गई है। अतएव कुछ विद्वान् निष्कर्ष निकालते हैं कि प्रथम-अध्याय को यास्क ने भूमिका के रूप में लिखकर पीछे से जोड़ दिया है, आरम्भ तो निरुक्त का द्वितीय-अध्याय में ही है। परन्तु यह सिद्धान्त ऊपर से जितना आकर्षक प्रतीत होता है, भीतर से उतना ही खोखला है। प्रथम-अध्याय में किये गये निर्वचनों का उल्लेख आगे के अध्यायों में बहुत स्थान पर 'पूर्वमेव व्याख्यातम्.' कह कर किया गया है—यह तथ्य इतना तो स्पष्ट कर ही देता है कि उन-उन स्थानों को लिखने से पूर्व ही प्रथम-अध्याय लिखा जा चुका था। यदि प्रथम-अध्याय पीछे से जोड़ा गया होता तो यह सम्भव नहीं था। फिर, 'पृथिवी'—जैसे प्रधान शब्द की व्याख्या प्रथम-अध्याय में ही है अन्यत्र कहीं नहीं। इसलिए 'अथ' से आरम्भ न होने पर भी प्रथम अध्याय निरुक्त का आरम्भिक-अध्याय है।

यास्क के निर्वचन की रीति निम्न-प्रकार की है—

(१) जब किसी शब्द में वर्तमान धातु का वही अर्थ हो जो उस शब्द का है, स्वर या बनावट के सम्बन्ध में कोई आपत्ति नहीं हो, और व्याकरण शास्त्र की प्रक्रिया के द्वारा ही उसकी बनावट सिद्ध की जा सके, तब ऐसे शब्दों का निर्वचन सामान्यरीति से ही करें, जैसे—'धातु' की व्युत्पत्ति √धा (धारण करना) से (१।२०) की गई है। यहाँ तक निर्वचन की रीति व्याकरण से मेल रखती है तथा वैज्ञानिकता से सम्बद्ध है। निरुक्त की निरुक्तियों का विचार हम यथास्थान करेंगे।[१]

(२) जब शब्द में दिखलाई पड़नेवाले धातु का अर्थ शब्द से भिन्न हो, या शब्द का अर्थ रखनेवाले धातु से उस शब्द की सिद्धि करने में व्याकरण बाधक हो तब हम उस शब्द के विभिन्न-रूपों की तुलना धातु के विभिन्न-रूपों से करेंगे। कहीं पर भी समानता पा लेने पर निर्वचन कर लें, जैसे—'राजा' की व्युत्पत्ति √राज् (शोभना) से की जाती है क्योंकि राजा भी राज्य में शोभते हैं (राजन्ते)।[२]

(३) जब इस प्रकार की समानता न मिले तो अर्थ देखकर, धातु और शब्द में एक आध स्वर या व्यञ्जन की भी समानता को आधार मानकर निर्वचन कर दें, जैसे—'रूप' की व्युत्पत्ति है √रुच् (अच्छा लगना) से, जब कि दोनों में केवल रकार और उकार की ही समानता है।[३]

यास्क के पिछले दोनों सिद्धान्त अवैज्ञानिकता की पृष्ठभूमि पर आधारित हैं। उनका सिद्धान्त है कि कोई भी ध्वनि किसी ध्वनि के रूप में बदल सकती है[४], भले ही उनमें कोई स्वाभाविक सम्बन्ध न भी हो। यह भाषा-विज्ञान के ध्वनि सिद्धान्त के विरुद्ध है। वैज्ञानिक-सिद्धान्त यह है कि कुछ निश्चित ध्वनियाँ ही किसी निश्चित-रूप में किसी निश्चित समय पर बदलती हैं। 'न त्वेव न निर्ब्रूयात्' एक बहुत बड़ी वैज्ञानिक भूल है। निर्वचन की अनिवार्यता पर वे कहते हैं—'न त्वेव न निर्ब्रूयात्।' निर्वचन करने में अपनी असमर्थता कभी न दिखावें, नहीं तो बहुत बड़ा अनर्थ होगा

१ तद् येषु पदेषु स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेनान्वितौ स्याताम्, तथा तानि निर्ब्रूयात्।

२ अथानन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारेऽर्थनित्यः परीक्षेत केनचिद्वृत्तिसामान्येन।

३. अविद्यमाने सामान्येऽप्यक्षरवर्णसामान्यान्निर्ब्रूयात्

४. Skold, *The Nirukta*, p 170.

कि सभी शब्दों को धातुज मानने का सिद्धान्त ही नष्ट हो जायगा। इतना ही नही, शब्दो मे किस प्रकार का परिवर्तन होता है, यह भी देखें—

(१) धातु के कुछ रूपो मे आदि-अक्षर ही बचता है और सभी अक्षर लुप्त हो जाते है, जैसे—प्र + √दा = प्रत्त। इसमे (प्र 'त्' त) √दा का केवल द् ही त् के रूप मे अवशिष्ट है।

(२) कही-कही आदि स्वर का लोप हो जाता है, जैसे √अस् का गुणवृद्धि से रहित स्थानो मे—स्त, सन्ति। भाषाविज्ञान भी इसे स्वीकार करता है तथा आदि स्वर लोप (Aphesis, Aphaeresis) कहता है। उदाहरण है—अपिनद्ध > पिनद्ध, अवगाह्य > वगाह्य, Esquire > Squire इत्यादि। महाभाष्य मे इसके लिए एक कारिका भी है—'वष्टि भागुरिरल्लोपम-वाप्योरुपसर्गयो।' कालिदास ने भी ऐसे कई प्रयोग किये है।[1]

(३) कही-कही धातु के अन्त्य-अक्षर का लोप हो जाता है, जैसे √गम् > गत, गत्वा।

(४) कही-कही मध्यम स्वर (उपधा) का भी लोप हो जाता है (Syncope) जैसे—√गम् > जग्मतु, जग्मु, मे 'ग' के अकार का लोप।

(५) ह्रस्व स्वर के बाद अनुनासिक-वर्ण रहने से दीर्घ-स्वर हो जाता है और आनुनासिक का लोप भी (यास्क के शब्दो मे, उपधा-विकार) हो जाता है—राजन् > राजा, दण्डिन् > दण्डी।

(६) वर्णलोप—दूसरे व्यञ्जन से पूर्व व्यञ्जन का लोप,[2] जैसे—तस्त्वा > तत्वा।

(७) द्विवर्णलोप—स्तृच > तृच। (स् और त् का लोप)

(८) शब्द के प्रथम व्यञ्जन का विकार—द्युत् > ज्योति।

(९) दोनों ओर के व्यञ्जन परस्पर स्थान बदल सकते है, जैसे—√श्चुत् > स्तुच् > स्तुक > स्तोक। इसे वर्ण-विपर्यय कहते है, जैसे—सिंह की व्युत्पत्ति √हिंस् से।

(१०) अन्तिम व्यञ्जन का विकार—(हकार का घ् या ध् होना)—√वह् > ओघ, √वह् < वधू तथा √मद् > मधु।

---

१. Vide, Dr. T. Chowdhury, *Linguistic Aberrations in Kalidasa's Writings*, p. 3.

२. तुलनीय—झरो झरि सवर्णे (पा० सू० ८।४।६५)।

(११) अन्तस्थ-वर्ण रहने से सम्प्रसारण मे भी विकार हो सकता है, जैसे—√अव् > ऊति, √म्रद् > मृदु ।

भाषा के परिवर्तन मे ये सभी विकार सहायक होते हैं किन्तु ये अनियमित (Sporadic) हैं, किस स्थान मे होंगे नियम बनाना बड़ा कठिन है। दुर्गाचार्य ने इन नियमो मे कुछ को चुनकर निरुक्त का लक्षण किया है[1]—

वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम् ॥

किसी शब्द का निर्वचन करने के लिए ध्वनि विकार के ये सिद्धान्त भाषा-विज्ञान को भी मान्य हैं—(१) वर्णागम (कई प्रकार के) (२) वर्ण-विपर्यय (Metathesis), (३) वर्णविकार (Change of Syllable), (४) वर्णनाश (Elision of Syllable) और (५) अर्थ के अनुसार धातु से रूप की कल्पना करना ।[2]

डा० स्कोल्ड[3] कहते हैं कि यास्क के उदाहरण या अनुभव (Observation) ठीक हैं किन्तु उनसे निकाले गये निष्कर्ष गलत हैं क्योंकि वे अति व्यापक हैं। √गम से उपधा का लोप होने पर 'जग्मतु' बनता है—इसमें कोई सन्देह नही, किन्तु यह कहना कि सभी उपधाओ का लोप हो सकता है, गलत है। कारण यही है कि ये सभी ध्वनियाँ अनियमित रूप से विकृत होती हैं।

यह स्थान यास्क के भाषा-शास्त्रीय ज्ञान का बहुत सुन्दर प्रदर्शन करने वाला है। इसी सम्बन्ध मे वे सकेत करते हैं कि वैदिक धातुओं से संस्कृत-शब्द बनते हैं तथा संस्कृत के धातुओ से वैदिक-शब्द भी बनते हैं। यह उनके अनुभवों का आदर्श है। चूंकि वैदिक भाषा से ही संस्कृत का विकास हुआ है, इसलिए *यह कहना तो ऊपर से विरोधार्थक प्रतीत होता* है कि संस्कृत-धातुओ से वैदिक शब्द बनते हैं। इसका यह अभिप्राय है कि जिन धातुओं से इन वैदिक शब्दो की व्युत्पत्ति होती है वे क्रिया के रूप में वैदिक भाषा मे प्रयुक्त नहीं होते, किन्तु संस्कृत-भाषा मे होते हैं। इसी प्रकार

---

१. तुलनीय—भवेद् वर्णागमाद् हंसो सिंहो वर्णविपर्ययात् ।
गूढोत्मा वर्णविकृते वर्णनाशात्पृषोदरम् ॥

२ इन विकारों तथा अन्य विकारों के लिए देखें—डा० भोलानाथ तिवारी का 'भाषा विज्ञान' ।

३. Skold, *The Nirukta*, p 183—'His observations are correct but his conclusions are wrong because they are too general'

कुछ धातु ऐसे भी हैं जो वैदिक-भाषा में क्रिया के रूप में प्रयुक्त होते हैं, धीरे-धीरे उनका यह प्रयोग समाप्त हो जाता है तथा संस्कृत में उनसे बने शब्द भर ही प्रयोग के योग्य रह जाते हैं। शब्दों के प्रयोग, विकार आदि में सबसे बड़ा अधिकारी लौकिक प्रयोग ही है। जनता शब्द का जैसा व्यवहार कर दे। यास्क पहले भी 'अर्थवन्तः शब्दसामान्यान्' के द्वारा वैदिक और संस्कृत-भाषाओं का सम्बन्ध बतला चुके हैं। निघण्टु तथा प्रायः ६०० वैदिक-मन्त्रों की व्याख्या करने वाले यास्क को यह पता लगाने में कठिनाई नहीं हुई होगी कि वैदिक से ही संस्कृत का विकास हुआ है।[1]

संस्कृत भाषा बोली जाती थी तथा इसकी उपभाषाओं में पारस्परिक अन्तर भी था जिसे यास्क और पतञ्जलि दोनों ने ही पहचाना है। यास्क की दृष्टि भी कितनी तीक्ष्ण है? धातु का प्रयोग लोग एक प्रान्त में करते हैं और उससे बने हुए शब्द का दूसरे ही प्रदेश में। शव्—क्रिया (=जाना) का प्रयोग कम्बोज-देश में, और शव (सत्ता) का प्रयोग आर्य लोग करते हैं। √दा (=काटना) प्राच्य-देश में तथा 'दात्र' उदीच्य-देश में बोलते हैं। पतञ्जलि भी ऐसी उपभाषाओं का नामोल्लेख करते हैं (देखिये महाभाष्य १।१।१)।

यास्क आर्यदेश को प्राच्य और उदीच्य से भिन्न मानते हैं यद्यपि आर्यदेश की भाषा से इन दोनों देशों की भाषायें बहुत प्रभावित थीं। यास्क के समय इन देशों की भाषाओं को लोग शिष्ट नहीं मानते थे। केवल आर्य-भाषा ही शिष्टों की भाषा थी जिसका अनुकरण अन्य भाषायें कर रही थीं। भाषाओं के क्षेत्रीय-विभाजन का उल्लेख ब्राह्मण ग्रन्थों में भी प्राप्त होता है।[2]

अपने निर्वचनों के उपर्युक्त नियमों को यास्क ने 'पूर्वपदं' माना है अर्थात् उन शब्दों में एक ही जोड़ है, एक बार में शब्द से धातु तक पहुँच जाते हैं। तद्धित और समासों को अनेकपूर्व कहते हैं क्योंकि इनका सीधा निर्वचन सम्भव नहीं। इनके लिए यास्क ने दो और सिद्धान्त जोड़ दिये हैं—तद्धितान्त शब्दों को पहले तोड़ दें तब उनका निर्वचन करें, जैसे—दण्ड्य <दण्ड<√दम्। समासों का भी इसी प्रकार निर्वचन करें अर्थात् विग्रह करके शब्दों को अलग-अलग कर लें, पश्चात् उन अकेले (एकपर्वबाले)

१. Dr L. Sarup, *The Nighantu and the Nirukta*, Eng Trans. p. 223

२. देखिये—डा० सुनीतिकुमार चटर्जी—*Indo-Aryan and Hindi*, Old Indo-Aryan.

शब्दों का निर्वचन करें जैसे —राजपुरुष<राजा का पुरुष। इसके बाद इन दोनो शब्दों का अलग-अलग निर्वचन करें। इन नियमों का पालन यास्क ने पूर्णतया किया है।

प्राचीन-भारत मे किसी शास्त्र के आरम्भ मे चार अनुबन्धों का ज्ञान करना बहुत जरूरी था। ये अनुबन्ध हैं—सम्बन्ध, अधिकारी, विषय और प्रयोजन।[1] अधिकारी का निरूपण बिना किये हुए किसी भी शास्त्र का आरम्भ नही होता था। निघण्टु-जैसे ग्रन्थ का भाष्य पढाने के पहले अध्यापक को अपने शिष्य की परीक्षा कर लेनी चाहिये। इसीलिए यहाँ निरुक्त के उपदेश के अधिकारी किसी योग्य शिष्य को चुनना जरूरी समझा गया है। योग्य शिष्य मे ये गुण होने चाहियें—व्याकरण-ज्ञान, शिष्य बनकर पढने की इच्छा, निरुक्त को जानना (श्रद्धा रखना), मेधावी और तपस्वी होना। दोष ढूँढनेवाले, टेढे या असयमी शिष्य को निरुक्त न पढाये। गुरु का द्रोह कभी नही करना चाहिये, उन्हें माता-पिता समझे क्योकि गुरु अत्यन्त परिश्रम से अमर-विद्या का दान करते हैं। पढने के बाद जो गुरु का सम्मान नहीं करते, विद्या भी उनका मान नही करती। इसलिए पवित्र और अप्रमादी, मेधावी और अद्रोही शिष्य को ही विद्या-दान करें।

इस भूमिका के बाद से निघण्टु के शब्दों की व्याख्या आरम्भ हुई है। द्वितीय-अध्याय मे ही निघण्टु के प्रथम-अध्याय को समेट लिया गया है किन्तु प्रत्येक खण्ड (पर्यायो के समूह) से प्रायः एक ही शब्द का निर्वचन किया गया है। निर्वचन की शैली हम देख ही चुके हैं। इसलिए यहाँ सामान्य-रूप मे ही वर्णन अपेक्षित है।

निघण्टु के प्रायः पचीस शब्दों के निर्वचन-क्रम मे १६ पूरी-पूरी ऋचायें उद्धृत की गई हैं और उनकी व्याख्या भी की गई है। निघण्टु के शब्दों की व्याख्या करते हुए यास्क यह ध्यान मे रखते हैं कि शब्दों के जितने भी अर्थ सम्भव हैं उन सबो तक व्युत्पत्ति के द्वारा ही पहुँच सकें और इस प्रकार कोई अर्थ छूटने न पाये। यदि शब्द के सम्बन्ध मे कोई आख्यान आदि हो तो उसका उल्लेख करना भी यास्क नहीं भूलते। अथवा किसी शब्द का प्रयोग जिस ऋचा मे हुआ है उस ऋचा से भी सम्बद्ध इतिहास का वर्णन ये कर देते हैं। कभी-कभी पूरी ऋचा लिखने के बाद उसके कतिपय चरणो को अलग-अलग उद्धृत करके भी व्याख्या करते हैं। इस प्रकार से यास्क शब्दों के

---

१. सम्बन्धश्चाधिकारी च विषयश्च प्रयोजनम्।

हरेक पहलू पर पूर्ण विचार करते हुए आदर्श-व्याख्याकार के रूप में उपस्थित होते हैं।

'गो'–शब्द यद्यपि पृथ्वी के पर्याय में पढ़ा गया है, किन्तु इसका अर्थ-पशु विशेष भी है। पशु अर्थ वाले 'गो' शब्द के अर्थ कभी-कभी लक्षणा से भी लगते हैं।[1], जैसे—गो–दुग्ध, गो–चर्म, गो की तांत, कफ आदि। सूर्य को तथा उसकी किरणों को भी गो कहते हैं। इसका कारण प्रो० मैकडोनल (Macdonell) ने बताया है कि सूर्य की किरणों को प्रातःकाल निकलती देखकर प्राचीन आर्यों की कल्पना होती थी कि गायें अपने रात्रिवास से निकलकर गोचर भूमि की ओर जा रही हैं। गायों के समान सूर्य भी रात में विश्राम करता हुआ प्रतीत होता था। इसी प्राकृतिक समानता को देखकर 'गो' शब्द आदित्य के अर्थ में प्रचलित हो गया। अर्थ ऐसे ही बदलता है।[2]

इस सम्बन्ध में शाकपूणि का एक आख्यान आता है। वे समझते थे कि किसी भी मन्त्र के देवता को पहचान ले सकते हैं। उनके इस गर्व पर दो चिह्नवाले देवता प्रकट हुए जिन्हें वे न पहचान सके। देवता ने स्वयं ही अपनी पहचान बता दी। एक दूसरे इतिहास का वर्णन है कि कुरुवंश में ऋष्टिषेण के दो पुत्र थे—देवापि और शन्तनु। छोटे भाई शन्तनु ने अपना राज्याभिषेक करा लिया और देवापि तपस्या करने लगा। इस अधर्म के कारण शन्तनु के राज्य में १२ वर्षों तक पानी नहीं बरसा। ब्राह्मणों ने उसके अधर्म की ओर संकेत किया। इसपर शन्तनु ने देवापि को राज्य लेने के लिये कहा किन्तु देवापि ने केवल एक यज्ञ कराने को वचन दिया जिससे वर्षा हो। इस इतिहास से तात्कालिक-समाज का एक अच्छा चित्र उपस्थित होता है।

पुराणों में जिस वृत्र का इतनी अतिरंजकता के साथ वर्णन हुआ है उसके विषय में यास्क कहते हैं कि यह और कुछ नहीं, मेघ ही है। जल और प्रकाश के मिश्रण से जब वर्षा होती है तब मालूम होता है कि युद्ध हो रहा है जिसका वर्णन लोग करते हैं। मन्त्रों और ब्राह्मणों में उसे साँप मानते हैं। अपने बड़े शरीर से उसने जल-प्रवाह रोक लिया, इन्द्र ने जब उसे वज्र से मारा तब जल प्रवाहित हुआ। इसकी वास्तविकता यह है—आकाश में

१. देखिये—काव्यप्रकाश, २—मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्। Cf Metonymy—He drank the cup (= milk in it)

२. Tarsporewala, *Elements of the Science of Language*, Semantics या डा० भोलानाथ तिवारी का भाषाविज्ञान (अर्थविचार) देखें।

मेघ लगे हुए हैं किन्तु वर्षा नहीं हो रही है मानो किसी (= वृत्र) ने पानी को रोक रखा है। अकस्मात् बादल टकराते हैं और जोरो से बिजली कौंधती हुई गरजती है। यह हुआ इन्द्र का वज्र से मारना। सम्भव है कुछ देर बाद वर्षा होने लगे। लीजिये, साँप मर गया, जल का प्रवाह चल पडा। यह बिलकुल सच है कि वेदो मे जिसका रूपक बांधा गया, उपनिषदो ने जिसे शुद्ध-रूप मे पहचाना—पुराणों मे उसीका अतिरञ्जन करके कथायें लिखी गईं।

ऋषि-विश्वामित्र से सम्बद्ध एक और इतिहास है। वे सुदास् पैजवन के पुरोहित थे, उससे धन लेकर वे विपाशा और शुतुद्री के सगम पर आये। उनके पीछे-पीछे और लोग भी थे। ऋषि ने नदियो से अल्प जलवाली (थाह) बनने के लिए प्रार्थना की। वेद के कुछ मन्त्रो के द्वारा (ऋ० ३।३३) दोनो का सवाद होता है। नदियाँ अस्वीकार करते करते भी मान जाती हैं।

निघण्टु प्रथम अध्याय के अन्तिम तीन खण्डों का तो केवल निर्देश ही किया गया है। इस प्रकार दूसरे अध्याय (निरुक्त) का अन्त होता है।

(ग) तृतीय-अध्याय

[निघण्टु के द्वितीय-तृतीय अध्याय के शब्दों की व्याख्या—तत्परता—औरस पुत्र की श्रेष्ठता—वशिष्ठ का उपाख्यान—पुत्र का उत्तराधिकार—पुत्री का उत्तराधिकार—तर्क—भ्रातृहीन नारी का उत्तराधिकार गर्तारुक् शब्द—पुत्री का उत्तराधिकार-निषेध—पंचजन—कतिपय प्रातिपदिक-हीन शब्द—उपमा—लक्षण—उसके कर्म तथा प्रकार—रूपकमूला उपमा—शब्दानुकृति—नैघण्टुक काण्ड की समाप्ति]।

निरुक्त के दूसरे अध्याय मे निघण्टु के केवल प्रथम अध्याय की ही व्याख्या (या नामोल्लेख मात्र समझें) की गयी है। स्मरणीय है कि निघण्टु के प्रथम अध्याय मे सत्रह खण्ड हैं। चूंकि निघण्टु के नैघण्टुक-काण्ड मे केवल तीन ही अध्याय है, इसलिए अभी भी दो अध्याय बच रहे हैं। अब इन दोनो अवशिष्ट अध्यायो मे विद्यमान शब्दों की व्याख्या निरुक्त के तीसरे अध्याय मे ही होती है और तीसरे अध्याय तक को नैघण्टुक-काण्ड की संज्ञा दी जाती है। स्थान थोड़ा है और शब्द काफी (२२+३० खण्ड), इसलिए शैली जरा तेज हो गयी है। इसे यथास्थान मूल पुस्तक मे अंकित किया गया है।

तीसरे अध्याय के प्रथम पाद भर मे यास्क एक बड़े मनोरंजक विषय का विवेचन करते हैं, जब कि अपत्य शब्द की व्याख्या होनी है। इस विवेचना से तात्कालिक समाज की व्यवस्था पर पूरा प्रकाश पड़ता है। यही नही यास्क स्मृतिकारों की सभा मे भी प्रवेश कर जाते हैं। अपत्य का सामान्य अर्थ है संतान। वह पिता से पृथक् होकर फैलता है तथा उसके कारण पिता नरक मे नही पड़ते। अब पुत्र के अनेक भेदो मे औरस पुत्र की श्रेष्ठता का वर्णन सुनें।

एक वैदिक उपाख्यान है कि वशिष्ठ के सभी पुत्र मर गये। उन्होने पुत्र की कामना से अग्नि की प्रार्थना की। अग्नि ने उनसे पूछा कि दत्तक, क्रीतक, कृत्रिम आदि पुत्रो मे किसे चाहते हो। इसी बात पर वशिष्ठ ने औरस (आत्मज) पुत्र की श्रेष्ठता प्रमाणित की एव दूसरो के जनमे पुत्रों की निन्दा की। उसी प्रसग की ऋचायें यास्क उद्धृत करते हैं। दूसरे का पुत्र तो कभी भी ग्रहण नहीं करना चाहिए। उसे जलदान का कोई अधिकार नहीं है। मूर्खों की यह धारणा है कि दूसरो का पुत्र अपना होकर रहेगा। वह तो

वहीं लौट जाता है जहां से आता है। उसे पैतृक-वंश मे रहने का अधिकार नहीं। किन्तु ब्राह्मण-ग्रन्थों मे हमें ऐसे उदाहरण मिलते हैं कि दूसरे का पुत्र दूसरे वंश मे आकर पूरा अधिकार पाता है। उदाहरण के लिए, ऐतरेय-ब्राह्मण के शुनःशेप को लें। यद्यपि वह आंगिरस गोत्र का था किन्तु विश्वामित्र ने उसे अपने वंश मे ले लिया। यही नहीं, उसकी श्रेष्ठता स्वीकार न करने वाले अपने औरस (?) पुत्रों को भी शाप दे दिया जिससे वे आन्ध्र, पुलिंद, म्लेच्छ आदि सीमा पर रहने वाली जातियों में चले गये। इसके विपरीत शुनःशेप को दैविक दायभाग, विद्या आदि उत्तराधिकार[1] भी मिलता है। आज की ही भांति उस समय भी अन्य बालकों को अपने वंश में ले आने की प्रथा प्रचलित थी। किन्तु जब औरस हो मिल जाये तब तो उनका प्रश्न ही नहीं उठता। वशिष्ठ को कतिपय विकल्पों के बीच पुत्र चुनना था इसीलिए स्वभावतः उन्होंने औरस पुत्र की श्रेष्ठता प्रमाणित की है।

मनुस्मृति के अनुसार[2] पुत्रों के बारह भेद हैं जिनमें ६ दायाद (सम्पत्ति के उत्तराधिकारी) तथा ६ अदायाद हैं। निम्नलिखित पुत्र दायाद हैं—औरस, क्षेत्रज, दत्त, कृत्रिम, गूढोत्पन्न और अपविद्ध। इसके अलावे कानीन, सहोढ, क्रीत, पौनर्भव, स्वयंदत्त और शौद्र—ये छ प्रकार के अदायाद हैं। इनमे प्रत्येक का विस्तृत वर्णन मनु ने नवम अध्याय के १६६ से १८० श्लोकों तक किया है। कुछ भी हो औरस पुत्र के अभाव में ही इन अन्य प्रकार के पुत्रों को दायाद बनाया जाता है या उनकी महत्ता स्वीकृत होती है।

पुनः, इसी प्रसंग मे दूसरा विवाद यह उठता है कि पुत्र के समान पुत्री को भी उत्तराधिकार प्राप्त है या नहीं। कुछ आचार्यों के अनुसार पुत्री को भी उत्तराधिकार प्राप्त है। इस सम्बन्ध मे दुर्गाचार्य कहते हैं कि पुत्री का पुत्र दौहित्र होता है, यदि किसी को पुत्र न हो तो पौत्र भी नहीं होगा किन्तु दौहित्र को ही पौत्र के रूप मे वह ग्रहण करेगा। इस प्रकार जब दौहित्र को पौत्र माना जा सकता है तब पुत्री को भी पुत्र माना जाय। दुर्गाचार्य की यह उक्ति वहीं तक सगत है जब मनुष्य पुत्रहीन हो (जब कि दौहित्र को पौत्र का अधिकार मिल सकता है)। किन्तु पुत्री को उत्तराधिकार देने का मतलब है सभी अवस्थाओं मे, चाहे पुत्र रहे या नहीं, पुत्री को भी सम्पत्ति का समान अधिकार प्राप्त है। किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करें तो

---

१. देखिए ऐ० ब्रा० ७।३। २. मनु० ९।१५८–६०।

आर्य-जातियों मे, पुत्र के रहते पर, पुत्री को कभी भी सम्पत्ति का भाग नहीं मिला। हाँ, दौहित्र को अधिकार तभी मिलता था जब पौत्र न हो। पुत्र के रहते हुए पुत्री को उत्तराधिकार देना मुसलमानों मे प्रचलित है।

दुर्गाचार्य का दूसरा तर्क है कि पुत्र और पुत्री के उत्पादन की विधि (प्रक्रिया) एक समान है तथा उन दोनो के संस्कारों मे कोई अन्तर नही है[1], एक ही मंत्र दोनो के संस्कार-कार्यों मे प्रयुक्त होते हैं। यह तर्क मूल की अतिरंजना ही है। इस मत के पक्ष मे तथा विपक्ष में भी प्रमाण मूल म ही उद्धृत किये गये हैं। यास्क ने मनु का उद्धरण देकर पुत्री के उत्तराधिकार को पुष्ट करने की चेष्टा की है। मनुस्मृति मे वह श्लोक तो प्राप्त नही होता, किन्तु उस विचार के साथ साम्य रखने वाले निम्नलिखित श्लोक मिलते हैं (मनुस्मृति, नवम अध्याय)—

> यथैवात्मा तथा पुत्र पुत्रेण दुहिता समा।
> तस्यामात्मनि तिष्ठन्त्यां कथमन्यो धन हरेत् ॥ (१३०)
> पौत्रदौहित्रयोर्लोके न विशेषोऽस्ति धर्मत ।
> तयोर्हि मातापितरौ सम्भूतौ तस्य देहत ॥ (१३३)
> पौत्रदौहित्रयोर्लोके विशेषो नोपपद्यते।
> दौहित्रोऽपि ह्यमुत्रैनं सतारयति पौत्रवत् ॥ (१३९)

किन्तु ये विधान उस अवस्था के हैं जब मनुष्य को पुत्र न हो। पुत्र न होने पर दौहित्र को ही उत्तराधिकार दे क्योंकि उसकी माता भी उस मनुष्य की देह से ही उत्पन्न है।

दूसरी ओर मैत्रायणी संहिता की दुहाई देते हुए आचार्य लोग कहते हैं कि पुत्री को कोई अधिकार नही। 'पुमान् दायाद अदायादा स्त्री'—पुत्र उत्तराधिकारी है, पुत्री नही। यही कारण है कि जन्म होते ही पुत्री को फेंक देते हैं, पुत्र को नही फेंकते। भारतवर्ष मे विगत शताब्दी तक कुछ जातियों में (विशेषतया राजपूतो मे) लड़कियों को फेंकने की प्रथा थी जिसे बाद मे ब्रिटिश-सरकार ने अवैध घोषित करके रोका। लड़कियों का दान भी होता है (जमींदारी प्रथा म हाल तक दासियों को दहेज मे दिया जाता था) उनकी

---

१ यैरेव मन्त्रैर्येनैव च विधानेन पुत्रगर्भ आधीयते, तैरेव मन्त्रैस्तेनैव च विधानेन दुहितृगर्भोऽपि। येनैव हि विधानेन पुत्रजनने रेत उत्सृज्यते, तेनैव हि दुहितृजननेऽपि। तत्रैव सति रेत उत्सर्गविध्यविशेषात्प्रजननयथाविशेषादविशेषेण, मिथुना = पुरुषा स्त्रियश्च, उभयेऽपि दायादा इत्येवमेके धर्मविदो मन्यन्ते—दुर्ग (नि० ३।४)।

बिक्री भी होती है (यह प्रथा तो अब तक है)। इन सबों से मालूम होता है कि पुत्रियों को सामाजिक-अधिकार से वंचित कर दिया गया था; तभी तो दान, विक्रय और अतिसर्ग जैसे अभिशाप इनके सिर पर वर्तमान थे।

एक तीसरा पक्ष है जो इन दोनों विरोधी मतों को मिलाते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि वही स्त्री पिता की सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी हो सकती है जो भ्रातृहीन हो। यही रीति आज भी है (यदि पिता ने भी जीवन काल में इसकी स्वीकृति दी हो तो और भी अच्छा।)—आर्यजाति में सदा से ऐसी परिपाटी रही है। जिस स्त्री का भाई नहीं होता वह अपने पुत्र को ही पिता के धन का अधिकारी बनाती है तथा पिता के घर पर ही अधिक ध्यान रखती है। पिता की सद्‌गति के लिए वह सचेष्ट रहती है। पति-कुल के कल्याण से अधिक चिन्ता उसे पितृकुल की लगी रहती है क्योंकि वह यह समझती है कि पिता की रक्षा का भार, उनकी सम्पत्ति की रक्षा का भार, पिण्डदान इत्यादि का भार तो और किसी पर नहीं, उसी पर (या उसके पुत्र पर) तो है—यही अभिप्राय है कि अभ्रातृका नारी पितृकुल में लौट जाती है। ऐसी स्त्री से विवाह करना निषिद्ध है, ऐसी स्त्री अपने पिता के लिए पुत्र का कार्य करती है। भ्रातृहीन स्त्री से विवाह का निषेध मनु भी करते हैं—

> यस्यास्तु न भवेद्भ्राता न विज्ञायेत वा पिता।
> नोपयच्छेत तां प्राज्ञः पुत्रिकाधर्मशङ्कया ॥ (३।११)

इस प्रसंग में एक ऋचा उद्‌धृत की गई है जिसका एक अंश है—'जायेव पत्य उशती सुवासा.'। यह चरण ऋग्वेद के कई मंत्रों में है। यहाँ ऊषा की तुलना भ्रातृहीन स्त्री से की गई है। भ्रातृहीन स्त्री जैसे अपने पितृकुल में लौट जाती है क्योंकि उसे अपने पिता का सारा काम-काज सँभालना पड़ता है, उसी प्रकार ऊषा भी अपने प्राकृतिक-नियम का पालन करने के लिए प्रतिदिन प्रातःकाल लौट आती है। यहाँ चार उपमायें दी गई हैं—(१) ऊषा मनुष्यों के पास भ्रातृहीन स्त्री की तरह लौटती है, (२) वह धन लाने के लिए उस स्त्री के समान जाती है जो रंगमंच पर आरूढ होती है; (३) पति की कामना करनेवाली सुन्दर वस्त्रों से अलंकृत स्त्री के समान तथा (४) हँसनेवाली—मुस्कुरानेवाली स्त्री की तरह ऊषा अपने रूप का प्रदर्शन करती है।

'गर्त्तारुक्' शब्द की व्याख्या में यास्क दाक्षिणात्य की नारी का उल्लेख करने लगते हैं। वह नारी द्यूत-भवन में धन प्राप्त करने के लिए जाती है। 'गर्त' का अर्थ दुर्ग करते हैं वह फलक जिस पर पासे फेंके जाते हैं। √गृ

उपमा के विषय मे निरुक्तकार बड़े प्रवीण प्रतीत होते हैं। निघण्टु (३।१३) मे उपमा के कुछ वैदिक उदाहरणो को संगृहीत किया गया है। उन्ही की व्याख्या के प्रसग मे काव्यशास्त्र (विशेषतया अलङ्कार-शास्त्र) की सर्वप्रथम उद्भावना यास्क ने की है। यास्क भी अपने पूर्ववर्ती आचार्य गार्ग्य के ऋणी हैं जिन्होने उपमा का लक्षण किया है। उनके अनुसार उपमा के लक्षण मे तीन तत्त्व होते हैं—(१) दो वस्तुओ मे प्राकृतिक भेद होना, (२) उनके धर्म का उल्लेख, (३) उन धर्मों मे उनका परस्पर सादृश्य होना। मुख और चन्द्र दोनों एक ही वस्तु नही, किन्तु दोनो मे समता है। यही उपमा का बीज है। उपमा की यही परिभाषा पिछले समस्त आलंकारिको ने स्वीकार की है। यद्यपि काव्यप्रकाश (१०।१) में 'साधर्म्यमुपमा भेदे' कहकर इसका वैसा ही लक्षण किया गया है तथापि अन्य अलंकारो से पार्थक्य दिखलाने के लिए विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण मे उपमा के लक्षण मे कुछ उपाधियाँ लगा दी हैं—

साम्य वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्य उपमा द्वयो।

उपमा मे दो तरह के धर्म होते हैं—(१) बड़े गुण से छोटे गुण की उपमा, या प्रसिद्ध वस्तु से अप्रसिद्ध की उपमा, (२) छोटी वस्तु से बड़े गुण की उपमा। सामान्यत ऐसा देखा जाता है किन्तु आलंकारिक लोग इनमे दोष निकालते हैं।[1] उपमेय की अपेक्षा उपमान यदि जाति, प्रमाण या धर्म मे न्यून हो तो हीनत्व-दोष, अधिक हो तो अधिकत्व-दोष होता है। हास्य-रस की रचनाओं मे बहुधा इसका प्रयोग करते हैं जैसे 'आपने चण्डाल के समान बहुत साहस दिखलाया', 'यह सूर्य चिनगारी के समान चमक रहा है।'[2] यहाँ बड़े गुणवाले की उपमा छोटे गुणवाली वस्तु से दी गई है।

निघण्टु मे उपमा के नाम से बारह उदाहरण दिए गये हैं जो वैदिक-ग्रन्थों के हैं। यास्क उपमाओ के सामान्य विवेचन के क्रम मे चार प्रकार के रूप देखते हैं। वे हैं—कर्मोपमा, भूतोपमा, रूपोपमा और सिद्धोपमा। इनमें कर्मोपमा 'यथा' शब्द से जानी जाती है क्योंकि यथा का सम्बन्ध सीधे कर्म से है। उदाहरण मे—'यथा वातो यथा वन यथा समुद्र एजति' दिया गया है। भूतोपमा मे 'भूत' (वह वैसा हो गया है) का प्रयोग रहता है जैसे—

---

१. काव्यालङ्कारसूत्र (वामन) ४।२।७-१९।
२. चण्डालैरिव युष्माभिः साहसं परमं कृतम्; वह्निस्फुलिङ्ग [illegible] भानुरयं चकास्ति।

मेषो भूतः = मेंड हो गया । यह रूपक के रूप में है । उसी प्रकार 'दारुमूनो मुरारि.' इत्यादि प्रयोग हैं। रूपोपमा भी वैसी ही होती है किन्तु इसमें 'रूप' शब्द का प्रयोग होता है जैसे—हिरण्यरूपः = स्वर्ण के समान । इसी तरह 'वर्ण' का प्रयोग होने पर वर्णोपमा भी[1] हो सकती है जैसे—हिरण्यवर्णः । 'था' प्रत्यय[2] से भी रूपोपमा ही मानी जाती है। सिद्धोपमा का अर्थ है ऐसी वस्तु से उपमा देना जिसका मानदण्ड स्थिर या सिद्ध हो चुका है । इसका वाचक है 'वत्'[3] जैसे—ब्राह्मणवत् , वृषलवत् । दुर्गाचार्य ने इनके उदाहरण में 'ब्राह्मणवद् अधीते' दिया है । ब्राह्मण का अध्ययन एक मानदण्ड के रूप में सिद्ध है इसलिए अधिक पढ़नेवाले को 'ब्राह्मणवत् पढ़नेवाला' कहते हैं । 'वृषलवत् आक्रोशति' कहते हैं क्योंकि निन्दा करने में वृषल एक ही है, उसे निन्दकों का मानदण्ड सिद्ध करते हैं । यही सिद्धोपमा का रहस्य है। इस परिच्छेद में हम उपमाओं के निम्नलिखित वाचक-शब्द पाते हैं—इव, यथा, न, चित् , नु, आ, भून, रूप, वर्ण, वत् , तथा। इनमें अधिकांश का विवेचन निरुक्त के प्रथम अध्याय में निपातों के वर्णन के क्रम में हो गया है ।[4]

चतुर्थ-पाद के आरम्भ में भी अलङ्कारशास्त्र-विषयक विवेचना हुई है। ऊपर तो उन उपमाओं की विवेचना हुई जिनमें उपमाओं के वाचकादि विद्यमान रहते हैं जैसे—अग्नि न ये (जो लोग अग्नि के समान)। किन्तु ऐसी भी उपमायें हैं जिनके शब्द लुप्त रहते हैं, भेद बिल्कुल नहीं रहता। इन्हें अलंकारशास्त्र में रूपक-अलंकार कहते हैं। वस्तुतः यास्क का यह

---

१. निघण्टु ३।१३।१० । २. प्रकारवचने थाल् (पा० सू० ५।३।२३) ।

३. तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः (पा० सू० ५।१।११५) ।

४. मल्लिनाथ ने मेघदूत (१।४८) में 'एक मुक्तागुणमिव भुवः' श्लोक की व्याख्या करते हुए निरुक्तकार का उल्लेख किया है तथा उनकी भ्रान्ति भी दिखलाई है । वे कहते हैं—'(निरुक्तकारः) तत्र लुप्तोपमा, यत्र इवशब्दस्य दर्शनम्—इति इवशब्ददर्शनादत्रापि उपमैव इति भ्रमात्' । क्या निरुक्तकार मल्लिनाथ के अनुसार मेघदूत के अलङ्कारों पर भी अनुसंधान कर रहे थे ? उस श्लोक में उत्प्रेक्षालङ्कार है सही, परन्तु निरुक्तकार को क्यों घसीट लाया गया ? यास्क के समय में तो उत्प्रेक्षा का विचार भी नहीं उठा था । मल्लिनाथ जैसे चतुर्मुखी प्रतिभावाले टीकाकार के मुख से कालातिक्रम दोष (Fallacy of Anachronism) से युक्त वाक्य शोभा नहीं देता । या ये कोई दूसरे ही निरुक्तकार हैं ? इस तथ्य की ओर मेरा ध्यान आकृष्ट करने के लिए मैं अपनी शिष्या कुन्दकुन्दास (पटना कालेज) का कृतज्ञ हूँ ।

विवेचन अत्यन्त प्राथमिक दशा (Primitive Stage) का द्योतक है, उपमामूलक अन्य अलंकार भी उपमा के ही अन्तर्गत माने जाते थे। इस विषय पर एक पृथक् गवेषणात्मक निबन्ध (Research Paper) की आवश्यकता है। एक दूसरे पर इस तरह की वस्तु का आरोपण दो कार्यों के लिए हो सकता है—निन्दा के लिए या प्रशंसा के लिए। निन्दा के लिए 'श्वा' और 'काक' का प्रयोग होता है, प्रशंसा के लिए व्याघ्र और सिंह का। दुर्ग इसकी व्याख्या में कहते हैं कि 'सिंहो देवदत्त' (देवदत्त ही सिंह है) में ऐसी कोई बात नहीं कि सिंह ही देवदत्त है, प्रत्युत देवदत्त में शूरता आदि सिंह के कतिपय गुण हैं। यह वाक्य उसी अभिप्राय को व्यक्त करता है क्योंकि इसमें उपमा के वाचकादि बिना कहे हुए स्वयमेव स्पष्ट हैं। चपलता होने पर कुत्ता तथा धृष्टता होने पर काक कहते हैं। पाणिनि ने 'उपमित व्याघ्रादिभि सामान्याप्रयोगे' में ऐसे ही कुछ शब्द गिनाये हैं जैसे—व्याघ्र, सिंह, ऋक्ष, चन्दन, वराह, हस्तिन्, आदि। स्मरणीय है कि इन शब्दों को उत्तरपद में रखकर उपमित (= उपमानोत्तरपद) कर्मधारय समास बनाया जाता है।

इसी प्रसंग में यास्क ने भाषाविज्ञान के एक प्रश्न—शब्दोत्पत्ति—पर कुछ प्रकाश डाला है। कुछ आचार्य उस समय भी ध्वनि की अनुकृति से शब्द की उत्पत्ति मानते थे। आधुनिक भाषाशास्त्र में प्रो॰ मैक्समूलर ने इसे प्रस्तावित किया था। यास्क का कहना है कि पक्षियों का नाम बहुधा इसी प्रकार से पड़ता है। इसके विरुद्ध औपमन्यव का कहना है कि शब्दानुकृति (Onomatopoeia) से शब्दों की उत्पत्ति नहीं होती। ऐसी दशा में काक आदि शब्दों की व्युत्पत्ति होगी। इस प्रकार यास्क व्युत्पत्ति और अनुकृति दोनों पक्षों का स्वीकार करते प्रतीत होते हैं क्योंकि औपमन्यव के सिद्धान्त के अनुसार काक की निरुक्ति (Etymology) भी करते हैं और दूसरी ओर इसमें शब्दानुकृति भी मानते हैं। यह ठीक है कि सभी शब्द इसी प्रकार नहीं बनते, फिर भी प्रत्येक भाषा में इस तरह से बने हुए शब्द रहते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। उदाहरण के लिए हम काक, निर्झर, थरथर, सरकना, कलकल, Hiss (साँप की फुफकार) आदि शब्द ले सकते हैं। वस्तुतः यास्क की यह सूझ बड़े काम की है।

एक परिच्छेद में ही बाद के पन्द्रह समुदायों का नाम देकर २१ वें समुदाय में वर्तमान शब्द-युग्मों की व्याख्या विस्तारपूर्वक की गई है तथा प्रत्येक शब्द

का नामोल्लेख करते हुए उसका उदाहरण प्रदर्शित है। ये शब्द-युग्म प्राय एक ही अर्थ के हैं। इनमें सर्वनाम, सज्ञा तथा क्रिया भी हैं और वे भी विभिन्न रूपो मे। कोई तृतीया बहुवचन मे तो कोई प्रथमा मे; कोई लट् मे कोई लोट् मे। फिर भी अर्थ के अनुसार ये बैठाये गये प्रतीत होते हैं। अन्त मे द्यावापृथिवी की महिमा का वर्णन करते हुए अध्याय की समाप्ति की गई है। तृतीय अध्याय के साथ साथ निरुक्त और निघण्टु का नैघण्टुक-काण्ड भी समाप्त हो जाता है।



(घ) चतुर्थ-अध्याय

[नैगम या ऐकपदिक काण्ड, इसकी विशेषता—जहा, निधा, दमूना, सूप—'कुरुतन'—'तितउ'—भाष्य में उद्धरण—'शुन्ध्यु' के विभिन्न अर्थ—निपात—नूचित्, नूच—पच्छप—च्यवन और इनका इतिहास—रज और हरः—यम-यमी सवाद—अदिति और स्वर-वाद—उदात्त और उसका प्रयोग—प्रहेलिका मंत्र—इनकी उत्पत्ति की कल्पना ।]

निरुक्त के चतुर्थ अध्याय से लेकर षष्ठ अध्याय तक को नैगम काण्ड कहते है क्योंकि इन अध्यायों में निघण्टु के चतुर्थ अध्याय (नैगमकाण्ड) की व्याख्या हुई है । निघण्टु के चतुर्थ अध्याय में स्वतन्त्र शब्दों का सकलन हुआ है । पहले तीन अध्यायो की भाँति पर्यायवाची शब्द उसमे नही । स्वतन्त्र होने के कारण ही इसे ऐकपदिक (एक-एक पद पृथक् पृथक् हो) काण्ड भी कहते हैं । ये शब्द ऐसे हैं कि इनकी बनावट का पता नही लगता । दूसरे इनके शब्दो में अनेक अर्थ भरे हैं जब कि पर्यायवाची शब्दों में एक ही अर्थ के लिए अनेक शब्द होते हैं ।

यह विचारणीय है कि इस काण्ड में यास्क प्रत्येक शब्द की व्याख्या करते हैं, पहले की तरह पूरे वर्ग से केवल किसी एक शब्द को लेकर ही नही बढ़ जाते । कारण स्पष्ट है कि यदि यहाँ प्रत्येक शब्द की व्याख्या नही की गई तो निरुक्त का उद्देश्य ही सिद्ध नहीं होगा । पर्यायवाची शब्दों की व्याख्या का तो वस्तुतः प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि उनके अर्थ तो स्पष्ट हैं; हाँ, व्युत्पत्ति जान लेनी चाहिए । दूसरी ओर ऐकपदिक-काण्ड के शब्द न केवल स्वतन्त्र हैं, प्रत्युत इनके संस्कार (Formation) भी अनवगत या अज्ञात हैं । ऐसी दशा में प्रत्येक शब्द की व्याख्या के सिवा दूसरा कोई उपाय नहीं कि हम उनके अर्थ जान सकें । ये अर्थ भी कई हैं । अत दुर्गाचार्य ने यास्क की शैली के विषय में यह श्लोक दिया है—

विस्तीर्य हि महज्ज्ञानमृषि संक्षेपतोऽब्रवीत् ।
इष्टं हि विदुषां लोके समासव्यासधारणम् ॥

अर्थात् ऋषि ने, ज्ञान का अत्यधिक विस्तार करने के बाद संक्षेप में भी कहा है क्योंकि संसार में विद्वानों का अभीष्ट रहता है कि समास एवं व्यास

दोनों शैलियों को अपनावें। दूसरे तीसरे अध्यायों में यास्क ने समास (संक्षेप) शैली ग्रहण की है क्योंकि पर्यायवाची शब्दों के पूरे वर्ग से एक-दो शब्दों की व्याख्या ही काफी समझाने है। यह सौभाग्य भी उन्हीं शब्दों को मिलना है जिनके अर्थ में या रचना में कुछ विशेषता रहती है। चतुर्थ अध्याय से यास्क की शैली व्यासप्रधान हो गई है और वे प्रत्येक शब्द की व्याख्या करने लगते हैं।

नैगम काण्ड की शैली का परिचय दुर्ग इन शब्दों में देते हैं—

तत्र .पर्यायशब्देन व्युत्पत्तिश्च द्वयोरपि।

निगमो निर्णयश्चेति व्याख्येयं नैगमे पदे॥

अर्थात् नैगमकाण्ड में शब्द का उल्लेख, उसका पर्याय, दोनों की व्युत्पत्ति, शब्द का वैदिक उदाहरण, निर्णय—ये ही विषय इस काण्ड की व्याख्या में आते है। स्मरणीय है कि ये ही विषय अन्य काण्डों के भी हैं। इस लक्षण के द्वारा कोई विशेषता नहीं बतलाई जाती।

जहा, निधा आदि शब्दों की व्याख्या यास्क ने एक-एक करके की है। जहा का अभिप्राय है जघान (मारा)। यास्क इस √हन् से निष्पन्न द्वित्व किया हुआ लिट् लकार का रूप मानते हैं। यद्यपि √हा (छोड़ना) से भी इस शब्द के निष्पन्न होने की सम्भावना है और ऐसे प्रयोग वैदिक-साहित्य में प्राप्त भी है किन्तु यास्क ने उसे छोड़ दिया है। बहुत सम्भव है कि यह 'जहौ' (√हा + लिट् प्रथम पुरुष एक वचन—आत औ णल) का विकल्प रूप हो क्योंकि वैदिक भाषा में बहुधा ओकारान्त रूप आकारान्त भी मिलते हैं। तुलना करें—प्रियौ-प्रिया, शुचौ शुचा। अतः जहौ-जहा वैकल्पिक रूप हो सकते हैं। 'निधा' शब्द तो नि√धा (नीचे रखना) से बना है जिसमें किसी को आपत्ति नहीं। इसका अर्थ है जाल (पाशसमूह)।

नैगम काण्ड का चमकता हुआ आदर्श 'शिताम' शब्द की व्याख्या में देखा जा सकता है। यास्क ने अपने अलावे दूसरे-दूसरे आचार्यों के मत भी इसमें दिये हैं। (१) यास्क के अनुसार 'शिताम' का अर्थ है हाथ का अगला भाग, (२) शाकपूणि इसका अर्थ योनि लेते है, (३) तैटीकि इसे यकृत् मानते हैं और (४) गालव इसे चर्बी (श्वेतमांस) मानते हैं। दुर्ग का कहना है कि पशु के बाहरी और भीतरी दो अवदान (अंग) हैं, नितम्ब (श्रोणी) और स्कन्ध आदि बाहरी अंग हैं जब कि जीभ, हृदय, यकृत् (जिगर) आदि भीतरी अंग हैं। यास्क के द्वारा दिये गये उद्धरण में श्रोणी

और पार्श्व दोनों बाहरी अंग हैं अतः यह सिद्ध है कि शितामं का अर्थ कोई बाहरी अंग ही होगा जैसे हाथ का अगला भाग। इस तरह दुर्ग ने यास्क का पक्ष लिया। अब शाकपूणि के अर्थ (योनि) का समाधान करते हैं। 'पार्श्वतः श्रोणितः शितामतः' में एक के बाद दूसरे अंग का वर्णन किया जा रहा है। श्रोणी के बाद का प्रदेश गुद प्रदेश है जिसे शितामं या योनि कहा गया है। शितामं का अर्थ योनि लेने पर 'शिताम' की व्युत्पत्ति √विष् (व्याप्त करना) से करते हैं (जो पुरीष से व्याप्त हो, जिसका मांस शिथिल हो) किन्तु विषित की शुद्ध व्युत्पत्ति वि√सो (खुला होना) से मानना ठीक है। अंत में दुर्गाचार्य को स्वीकार करना पड़ता है कि 'शिताम' की रचना कठिन है तथा इसका अर्थ भी अनिश्चित है। उन्होंने अनवगति के दस प्रकार भी बतलाये हैं जिनके नाम मूलग्रन्थ में देखे जा सकते हैं। जैसे 'शिताम' के अर्थ को जानना कठिन है वैसे ही वेद में कई शब्द हैं जिनके विभाग को, स्वर को, या क्रम आदि को जानना कठिन है।

'मेहना' ऐसा ही शब्द है जिसके विभाग के विषय में संदेह है। या तो यह√मंह (पूजा करना) से बना है या मे (मुझे) इह (यहाँ) ना (नहीं)–इन तीन पृथक् पदों का संयोग है। इस वर्ग का पाँचवाँ पद है 'दमूनाः'। इसके कई अर्थ सम्भव है—दमबुद्धि वाला, दान की प्रवृत्ति वाला, संयम रखने वाला। ये सभी अर्थ या तो √दम् या √दा से आते हैं, किन्तु यास्क का दूसरा भी विकल्प है—'दमस्' = घर, अतः दमूना = घर में प्रवृत्त। घर के अर्थ में 'दमस्' का प्रयोग वैदिक साहित्य में तो है ही (तुल० वर्धमानं स्वे दमे—ऋ० १।१।८), साथ ही साथ अन्य भारोपीय भाषाओं में भी इसका प्रयोग है जैसे—लैटिन Domus अंगरेजी Domestic यहाँ यह ध्यान रखना है कि यूरोपीय भाषाओं का ह्रस्व अ, ए, ओ भारत ईरानी वर्ग में 'अ' हो जाते हैं अतः दोमस् से दमस् होता है।[१]

मूष' शब्द √मुष् (चुराना) से बनता है क्योंकि चूहे अन्न चुरा लेते हैं। इसीसे संस्कृत में मूषिक बना है। मूष बहुत प्राचीन शब्द है क्योंकि इसके समानान्तर शब्द भारोपीय-परिवार में प्रायः सर्वत्र मिलते हैं। देखिये—ग्रीक Mys, लैटिन Mus (मूस), जर्मन Maus, ऐं० सै० Mus, बहुवचन में Mys, अंगरेजी Mouse, बहु० Mice[२] मूष का

१ Cf. Dr Batakrishna Ghosh, *Ling. Intro. to Skt.* chap II
२ Chamber's Compact Dictionary, 1934 p 410.

प्रयोग दिखलाने वाली ऋचा पंक्ति छन्द मे है जिसमे एक अनूठी घटना का वर्णन है। त्रित नाम के कोई ऋषि किसी कुएँ मे गिर पड़े। दोनो ओर की ईंटो के गिरने से वे कष्ट पाने लगे। जैसे अपनी सपत्नियो को देखकर कोई स्त्री अपने पति को तंग करती है उसी प्रकार ये ऋषि भी दुःख पाने लगे, पीड़ा इन्हें चारो ओर से खाने लगी मानो चूहे तेल, घी आदि मे लिपटी हुई अपनी पूँछ को खाते हैं। पहले ऋषि ने इन्द्र को पुकारा, पर कोई उत्तर न मिलने पर द्यावापृथिवी को कहने लगे कि तुम्ही लोग साक्षी हो, मेरी दशा पर ध्यान दो।

'कृत्तन' में यास्क 'न' प्रत्यय को स्वार्थ (निरर्थक) मे मानते हैं, वेद में वस्तुत. लोट् मध्यमपुरुष बहुवचन मे त, तन, थन ये तीन प्रत्यय लगते हैं। 'तितउ' चलनी को या छन्ने (Filter) को कहते हैं। यास्क के समय मे चमड़े से ढंकी हुई, तिल के समान छोटे-छोटे छेदो वाली चलनी का प्रयोग था। इसके प्रयोग के लिए दी गई ऋचा ऋग्वेद के विद्या-सूक्त मे है (१०।७१)। इसका अर्थ है कि जैसे सत्तू को चलनी पवित्र करती है, समस्त विकारो को दूर कर देती है उसी प्रकार विद्वान् लोग अपनी वाणी को मन से पवित्र करने के बाद व्यवहार मे लाते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि वाणी की कर्कशता, निन्दाप्रियता आदि मन के द्वारा दूर कर दी जाती है जब कि उन दोषो के परिणाम पर विचार किया जाता है। एक शास्त्र पढ़ने वाले लोग परस्पर समान तन्त्र की मित्रता को पहचानते हैं। उनमे पारस्परिक ज्ञान-प्रकर्ष की जानकारी रहती है। ऐसा होने पर ही वे लोग मन मे सोच-विचार कर भाषा का प्रयोग करते हैं जिससे उनकी वाणी शोभावती बन जाती है। पतञ्जलि ने महाभाष्य के प्रारम्भ मे ही व्याकरण-शास्त्र (शब्दानुशासन) के आनुषंगिक प्रयोजनों का विवरण करते समय उद्धरण दिया है और इसके द्वारा व्याकरण पढ़ने का फल दिखलाया है।

अपनी स्वाभाविक गति में यास्क लोध (लोभी), चीर (अग्नि) आदि शब्दों की व्याख्या करते हुए 'अग्रसत्' शब्द के प्रयोग दिखलाने के लिए एक ऋचा का उद्धरण देते हैं जिसमे 'शुन्ध्यु' आता है। शुन्ध्यु' के कई अर्थ हैं— (१) आदित्य, (२) पक्षी, (३) जल। इन सभी अर्थों मे √शुध् का ही प्रयोग है। अग्रसत् का अभिप्राय 'अन्न बाँटने वाली माता' है जो प्रातः काल मे ऊषा की तरह ही अपने पुत्रों को जगाती है।

प्रथम अध्याय मे ही निपातो का स्थान दिखलाया जा चुका है। इनके

जिनके अर्थ 'पुराना और नया' हैं। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से 'नु' 'नू' तथा 'नव', 'नवीन', 'नूतन' आदि शब्दों की उत्पत्ति एक ही है तथा इनके समानान्तर रूप यूरोपीय भाषाओं में भी मिलते हैं। देखिये—ग्रीक Nyn, लैटिन Nunc, ऐं० सैं० Nu तथा संस्कृत में 'नूनम्'। 'नव' के लिए ग्रीक Neos, लैटिन Novus, ऐं० सैं० Niwe, neowe अँगरेजी Now, new.[1]

इसके बाद 'दावने' और 'अकूपार' शब्दों की व्याख्या हुई है। निघण्टु में इसका यही क्रम है किन्तु निरुक्त के वैदिक उद्धरण में उनका क्रम उलट दिया गया है, पहले 'अकूपार', तब 'दावने'। इस पर दुर्गाचार्य कहते हैं कि निघण्टु और निरुक्त विभिन्न व्यक्तियों की रचना हैं क्योंकि यदि दोनों एक ही की कृति होती तो अपने ही क्रम का उल्लंघन यास्क कैसे करते?[2] यह हमारे द्वितीय-परिच्छेद में प्रतिपादित विषय का पोषण है। अस्तु, अकूपार के कई अर्थ हैं। मूल अर्थ तो 'असीम' है किन्तु दूसरे भी अर्थ हैं जैसे—आदित्य, समुद्र, कच्छप (कछुआ)। 'कच्छप' को यास्क तीन भागों में बाँटते हैं क (ख)—छ (छद)—प (√पा)। किन्तु भाषा-विज्ञान की दृष्टि से यह गलत है क्योंकि यह कश्यप 7 कसप 7 कच्छप होकर बना है, कच्छ से इसका कोई सम्बन्ध नहीं। संस्कृत-भाषा में तालव्य वर्णों की उत्पत्ति (Palatalisation) बहुत बाद में हुई है। श् का छ् से घना सम्बन्ध है क्योंकि श्न् सामान्यतः च्छ बन जाता है। अतः छ् या च् की उत्पत्ति में श् (मूलतः स्) का बड़ा हाथ है।[3]

च्यवन (च्यवान) एक वैदिक ऋषि थे जिन्हें वृद्ध होने पर अश्विनीकुमारों ने पुनः युवक बना दिया था। इसी संकेत को लेकर पुराणों में च्यवन की कथायें गढ़ी गयीं। बाणभट्ट ने हर्षचरित में भी च्यवन का पूर्वपुरुष के रूप में वर्णन किया है। लोकोक्ति एवं इस संकेत के आधार पर च्यवन का आश्रम लोग गया जिले के देवकुण्ड (देवकुल ?—अपभ्रंश—देकुर) में मानते हैं। बाणभट्ट भी इसी के पास पीरू—बनवारा (प्रीतिकूट) के निवासी थे—ऐसा

१. वही, पृ० ४२०, ४२५।

२. तेन ज्ञायतेऽन्यैरेवायमृषिभिः समाम्नायः समाम्नातः, अन्य एव चायं भाष्यकार इति। एको हि समाम्नानं भाष्यं च कुर्वन् प्रयोजनस्याभावादेकमन्त्रगतयोः पाठानुक्रमं नाभङ्क्ष्यत।

३. देखिए—Batakrishna Ghosh, वही पृ० ७४।

कुछ लोग कहते हैं। यदि च्यवन वैदिक ऋषि थे तो कीकट (?) देश में कैसे आये। फिर भी वायुपुराण में कहा गया है—

कीकटेषु गया पुण्या नदी पुण्या पुनःपुना।
च्यवनस्याश्रमं पुण्यं पुण्यं राजगृहं वनम्॥

रजः और हर- ये दो नपुंसक शब्द हैं तथा विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होते हैं जैसे—ज्योति, जल, लोक, रक्त तथा दिन किन्तु इन अर्थों की ज्ञापकता के विषय में कोई व्युत्पत्ति नहीं दी है। इसी प्रकार अन्य पदों की व्याख्या के बाद यास्क 'विपुण' की व्याख्या करते हुए 'शिश्नदेवाः' शब्द का प्रयोग करते हैं जो लिंगपूजा की ओर संकेत है। फिर भी यास्क और दुर्ग यह नहीं स्पष्ट करते कि लिंगपूजा होती थी। इसका प्रधान अर्थ है—जो ब्रह्मचारी नहीं, इन्द्रिय-सुख ही जिनका प्रधान लक्ष्य है। शिश्नदेव का अर्थ फिर भी यास्क को मालूम नहीं था। यूरोप में भी बहुत दिनों तक लोग लिंग की पूजा करते थे (१८ वीं सदी के मध्यतक)। समस्त विश्व में (विशेषतया आयरलैंड में) लिंगपूजा के अवशेष प्राप्त हैं। आर्यों ने भारत के द्रविडों से लिङ्गपूजा सीखी। कुछ लोगों का कहना है कि मेपोल नृत्य तथा ईसा का क्रॉस भी लिङ्गपूजा के ही अवशेष हैं।[1]

'जामि' शब्द के प्रयोग को दिखलाने के लिए यास्क ऋग्वेद के प्रसिद्ध यम-यमी संवाद-सूक्त से एक ऋचा का उद्धरण देते हैं। इस सूक्त में यम उदात्त चरित्रवाला पुरुष है जब कि उसी कुल की यमी उसे अपने प्रलोभनों में फँसाना चाहती है। यम अपने चरित्रबल का परिचय देते हुए उससे किसी अन्य को पति बनाने को कहता है। अगले युग में ऐसी सम्भावना है कि भाई-बहन विवाह कर लें या एक कुल के मनुष्यों में ही विवाह हो पर वैदिक समाज-व्यवस्था ऐसी नहीं कि लोग समान गोत्र के साथ विवाह करें। इस सूक्त में कुछ मन्त्र यम के बोले हुए हैं, कुछ यमी के। इसी प्रकार ऋग्वेद में और भी कई संवाद-सूक्त हैं जैसे—पुरूरवा-उर्वशी संवाद (१०।९५) और सरमा-पणि संवाद (१०।१२०)। इन संवाद-सूक्तों को डा० ओल्डनबर्ग 'आख्यान' के नाम से पुकारते हैं जबकि सिल्वाँ लेवी, श्रोदर, हर्टेल आदि विद्वानों की दृष्टि में ये वस्तुतः नाटक के ही बचे-खुचे रूप हैं। इनका प्रयोग यज्ञों में होता था।[2] डा० विन्तरनित्स इन्हें लोकगीत काव्य (ballad) का

१. देखिये—Encyclopaedia of Religion and Ethics, under Phallism

२. द्रष्टव्य—प० बलदेव उपाध्याय, संस्कृत साहित्य का इतिहास (पंचम संस्करण) पृ० ३१४-१५।

नमूना मानते हैं। ये कुछ तो कथात्मक हैं तथा कुछ रूपकात्मक, अतः इनसे ही एक ओर महाकाव्य बने दूसरी ओर रूपक।[1]

इसके बाद चतुर्थ-पाद मे अदिति को संसार मात्र ही कहा गया है। भूतकाल की समस्त वस्तुएँ भी अदिति हैं तथा उत्पन्न होने वाली वस्तुएँ भी। यह मन्त्र वैदिक सर्वेश्वरवाद का आदर्श उपस्थित करता है। पूरा विश्व ईश्वरमय है। भारत की नैतिकता का मूल ही सर्वेश्वरवाद है। सभी जीवों मे, पेड़-पौधो मे, पदार्थो मे अदिति का निवास मानने से ही अहिंसा की भावना आती है, अपनी अनिवार्य आवश्यकताओं से सतुष्ट होकर किसी पदार्थ का अनावश्यक उपयोग बन्द कर देने से अपरिग्रह-भावना आती है। इस प्रकार वैदिक ऋषियो ने ईश्वरमय जगत् देखने की चेष्टा की थी। यह भावना कदाचित् इसलिए हुई हो कि सभी पदार्थों (जैसे अग्नि, वायु, पत्थर, छुरा) मे अलग-अलग देवत्व की कल्पना की गई थी—सबों का सकलन करने पर यह विचार उठा होगा।

उदात्त और अनुदात्त के विषय मे यास्क के निरीक्षण (observations) बड़े काम के हैं। वे कहते हैं—तीव्रार्थंतरमुदात्तम्, अल्पीयोऽर्थंतरमनुदात्तम्। अभिप्राय यह है कि अधिक बल देने पर उदात्त होता है, कम बल देने पर अनुदात्त। वास्तव मे इन दोनो स्वरो का यही रहस्य है। यह स्मरणीय है कि भाषा के प्रवाह मे बहुत-से शब्दो मे स्वर-परिवर्तन (Accent-shifting) होता रहता है। इसके पर्याप्त उदाहरण हमें अंग्रेजी-भाषा के इतिहास मे प्राप्त होते हैं। मध्यकाल से आधुनिक काल मे ही नहीं, गत १०० वर्ष पूर्व जो बलाघात-नियम (Accentuation) था वह आज नही है। किन्तु इसके मूल मे यही धारणा काम कर रही है कि महत्त्वपूर्ण होने पर किसी पर बलाघात दें, अन्यथा नहीं। यही कारण है कि अंग्रेजी कविता मे बहुधा ऐसे वर्णों (Syllables) पर बलाघात पड़ता है जिसपर गद्य मे नहीं होता तथा कभी मुख्य शब्द भी कवि की इच्छा न होने से बलाघात नहीं ले पाते। निष्कर्ष यह है कि महत्त्वपूर्णता और उदात्त मे अधिक सम्बन्ध है। वेद मे भी वाक्यादि की क्रिया मे उदात्त पड़ता है, बीच मे नहीं। यह ध्यान मे रखना चाहिये कि वाक्य के आदि मे क्रिया हम तभी रखेंगे जब उसे महत्त्वपूर्ण सिद्ध करना लक्ष्य होगा।[2]

---

१. *History of Indian Literature*, Vol. pp. 102–103.

२. देखिये—पा० सू० ८।१।२८ तिङ्ङतिङः।

अन्त मे एक प्रहेलिका मत्र का विवेचन है जिसमे सख्या के आधार पर सूर्य और सवत्सर का वर्णन किया गया है—एक पहिये वाले रथ को (= सूर्य को) सात (किरणें) जोतती हैं या ले चलती हैं। सात नामोवाला घोडा इसे खींचता है। यह घोडा सूर्य ही है। सम्भव है पूरे भूमंडल को खींचने वाले सूर्य का अर्थ हो। उत्तरार्ध मे सवत्सर का वर्णन है। उस चक्र मे तीन नाभि या ऋतुयें हैं, वह चक्र अजर-अमर तथा अप्रतिहत है जिसमे समस्त ससार निवास करते हैं। अत विश्व को पहेली के रूप मे देखना और वर्णन करना वैदिक-युग मे भली-भाँति आरम्भ हो गया था। इसके अन्य उदाहरण हैं जैसे—'चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा.', तथा 'अष्टौ व्यख्यत् ककुभ' आदि। यही नही, रूपक बाँधकर भी वर्णन किये गये हैं जैसे पुरुषसूक्त मे ग्रीष्म को इन्धन तथा शरद् को हवि मानना। इन पहेलियो की विषयवस्तु तथा इनके विकास का अध्ययन मनोरञ्जक अनुसन्धान होगा। अमीर खुसरो सम्भवत हिन्दी का प्रथम पहेलीकार था। साराश यह है कि वेदों से ही भारत के सारे विषय आरम्भ होते हैं। भारतीय लोग इन्हे अपौरुषेय इसलिए मानते आये हैं कि कोई भी ज्ञान वेदो से बढकर या भिन्न नही हो सकता। कुछ भी पढ़ना हो, वेदो को उलटना ही पडेगा—

यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तद् क्वचित्।

(ङ) सप्तम–अध्याय

[सप्तम-अध्याय—देवता-विज्ञान—ऋचाओं के भेद—विषय—मन्त्र में देवता की पहचान—देवताओं के तीन भाग—विभाजन की अन्य रीतियाँ—देवताओं से सम्बद्ध वस्तुएँ—एकदेववाद—बहुदेववाद—सर्वेश्वरवाद—कैथेनोथिज्म-स्वरूप-विचार—मानवीकरण उसकी विशेषतायें—अग्नि, जातवेदस्, वैश्वानर—प्रारम्भिक-विज्ञान ।]

प्रथम-अध्याय यदि निरुक्त साहित्य की भूमिका है तो सप्तम-अध्याय वैदिक-वाङ्मय के देवता-विज्ञान (Theology) की भूमिका है। दैवतकाण्ड की व्याख्या के पूर्व यास्क देवताओं और मन्त्रों के सम्बन्ध में बहुत सुन्दर और प्रामाणिक ज्ञान देते हैं।

प्रत्येक मन्त्र का कोई-न-कोई देवता होता है। जब किसी मन्त्र में कई देवताओं के नाम आयें तो उसमें जिसकी प्रधानता हो उसे ही मन्त्र-देवता मानते हैं। ऋग्वेद की सारी ऋचाओं को यास्क तीन भागों में बाँटते हैं—(१) परोक्षकृत ऋचायें वे हैं जिनमें अन्यपुरुष का प्रयोग हो, (२) प्रत्यक्षकृत ऋचाओं में मध्यमपुरुष का तथा (३) आध्यात्मिक ऋचाओं में उत्तमपुरुष का प्रयोग होता है अर्थात् देवता स्वयं बोलते हैं। ऋचाओं का यह वर्गीकरण अत्यन्त वैज्ञानिक है और पुरुषवाचक सर्वनाम (Personal Pronoun) के आधार पर किया गया है।

ऋचाओं में वर्णित विषयों (Subject-matter) के सम्बन्ध में यास्क ने एक लम्बी सूची दी है—स्तुति, कामना, शपथ और अभिशाप, अवस्था-विशेष, निन्दा और प्रशंसा आदि का वर्णन ऋचाओं के विषय हैं। सायण ने भी अपनी ऋग्वेद-भाष्य-भूमिका में मन्त्रों के लक्षण करते समय उनके पदार्थों की गणना कराई है, जैसे—अनुष्ठान का स्मरण करानेवाले, स्तुतिवाले, अन्त में 'त्वा' वाले (त्वान्ता); आमन्त्रण युक्त, प्रेरक, विचार करनेवाले, परिदेवना (शिकायत) करनेवाले, प्रश्नार्थक, उत्तरवाचक आदि। इन पदार्थों का अन्त नहीं, इसलिए वे कहते हैं—

ऋषयोऽपि पदार्थानां नान्तं यान्ति पृथक्त्वशः ।
लक्षणेन तु सिद्धानामन्तं यान्ति विपश्चितः ॥

अर्थात् यदि पदार्थों का अलग-अलग वर्णन किया जाय,[1] तो अन्त हो ही नही सकता; बुद्धिमानो को चाहिये कि लक्षण से ही इनका बोध करें। यास्क भी इन पदार्थों के विषय मे आनन्त्य का ही संकेत करते हैं—'एवम् उच्चावचै. अभिप्रायै: ऋषीणा मन्त्रदृष्टयो भवन्ति' (नि० ७।३)।

किसी मन्त्र मे देवताओ को पहचानने के लिए यास्क ने उपाय बतलाया है कि जब मन्त्र मे देवताओं का उल्लेख नही है तब उस मन्त्र को जिस देवता के यज्ञ या यज्ञ के भाग मे प्रयुक्त करें उसी देवता से सम्बद्ध मानें। यदि यज्ञ का प्रसग न हो तो ऐसे सरसक-विहीन (लावारिस) मन्त्रो को प्रजापति-देवता का (याज्ञिको के अनुसार) या नराशंस का (निरुक्तकारो के सम्प्रदाय के अनुसार) समझें। नही तो अपने इष्टदेवता या देवताओ के समूह को ही ऐसे मन्त्रो का देवता समझें। यह भी जान लेना चाहिये कि अदेवता की स्तुति भी देवता के समान होती है इसलिए ऐसे मन्त्र तथाकथित अ-देवताओ के भी हो सकते हैं।

यास्क ने देवताओ के तीन भाग किये हैं—पृथ्वी के देवता अग्नि, अन्तरिक्ष के वायु या इन्द्र, स्वर्ग के सूर्य। यह विभाजन ऋग्वेद के एक मन्त्र (१।१३९।११) पर आधारित है।[2] इस प्रकार ये तीन ही प्रधान देवता हैं। यास्क का यह अभिप्राय नही कि और सभी देवता इन तीनों के ही विभिन्न-रूप हैं, किन्तु एक स्थान मे रहनेवाले सभी देवताओ के रूप मे साम्य रहता है। इस पर यास्क पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष लेकर विचार करते हैं और निष्कर्ष निकालते हैं कि ये मनुष्यो के राज्य के समान हैं जहाँ राजा की प्रधानता होती है। उसी प्रकार जैसे पृथ्वी के बहुत-से देवताओ में अग्नि की प्रधानता है। इसका कोई विशेष अभिप्राय नही।

प्रो० मैक्डोनल[3] ने देवताओ के विभाजन के कुछ अन्य सिद्धान्तों का भी निर्देश किया है—ऐतिहासिक-वर्गीकरण जिसमे भारत-यूरोपीय सभ्यता से लेकर वैदिक-युग तक के देवताओ के विकास के अनुसार काल-क्रम से

१. तुलनीय—महाभाष्य (पस्पशाह्निक), उत्सर्ग और अपवाद रूपी लक्षण की आवश्यकता तथा प्रतिपदपाठ की कठिनाई।

२. ये देवासो दिव्येकादश स्थ पृथिव्यामध्येकादश स्थ।
अप्सुक्षितो महिनैकादश स्थ ते देवा यज्ञमिमं जुषध्वम् ॥
अर्थात् हे देवगण ! अपनी महिमा से आप स्वर्ग में ग्यारह हैं, पृथ्वी में भी ग्यारह हैं, अन्तरिक्ष में रहनेवाले भी आप ग्यारह हैं, वे देवता इस यज्ञ की सेवा करें (आनन्द लें)।

३. *Vedic Mythology*, Strassburg, 1897, p 18–19.

विभाजन किया जा सकता है; देवताओं की पारस्परिक-महत्ता के आधार पर भी उनका वर्गीकरण सम्भव है; अथवा जिस प्राकृतिक-आधार का वे प्रतिनिधित्व करते हैं उस नियम से भी वे विभक्त किये जा सकते हैं। इस अन्तिम वर्गीकरण को ही वे सबसे उत्तम समझते हैं तथा इसी का अवलम्बन उन्होंने स्वयं भी किया है।[1]

यास्क ने देवताओं के तीन भाग करके उनके विषय से सम्बद्ध वस्तुओं के नाम भी गिना दिये हैं। ये वस्तुएँ केवल विशिष्ट देवता से ही सम्बन्ध नहीं रखतीं, प्रत्युत उस स्थान में रहनेवाले हरेक देवता के नाम में भी वे ही वस्तुएँ प्रयुक्त होती हैं। जैसे स्वर्ग में रहनेवाले सूर्य के विषय की चीजें ही विष्णु के नाम में भी दी जाती हैं क्योंकि वे भी उसी स्थान के निवासी हैं। केवल इतना ही नहीं, भिन्न भिन्न स्थानों में रहनेवाले देवताओं की चीजें भी परस्पर व्यवहृत होती हैं। अग्नि के विशेषण सूर्य, इन्द्र आदि में भी लगाये

१. प्रो० मैकडोनल ने अपना पुस्तक 'वैदिक मिथॉलजी' में (पृ० १५–१३८ तक) देवताओं के सम्बन्ध में विस्तृत विचार किया है तथा उनका वर्गीकरण करके प्रत्येक विशेषता का वर्णन किया है। जिन देवताओं का वे वर्णन करते हैं वे हैं—

(क) स्वर्ग के देवता—द्यौः, वरुण, मित्र, सूर्य, सवितृ, पूषन्, विष्णु, विवस्वत्, आदित्यगण, उषस्, अश्विन् युगल।

(ख) अन्तरिक्ष के देवता—इन्द्र, त्रित आप्त्य, अपांनपात्, मातरिश्वन्, अहिर्बुध्न्य, अज एकपाद्, रुद्र, मरुद्गण, पर्जन्य आपः।

(ग) पृथ्वी के देवता—नदियाँ (सरस्वती), पृथिवी, अग्नि, सोम।

(घ) भावात्मक (Abstract) देवता—सवितृ, धातृ, त्वष्टृ, धर्तृ, विश्वकर्मा, प्रजापति, मन्यु, श्रद्धा, अदिति, दिति।

(ङ) देवियाँ—उषस्, वाक्, पुरन्धिः, धिषणा, इला, सरस्वती, राका, पृश्नि, इन्द्राणी, वरुणानी, अग्नायी, सूर्या, देवपत्नियाँ।

(च) युग्म देवता—मित्रावरुणा, इन्द्रावरुणा, द्यावापृथिवी (रोदसी), इन्द्रवायु, इन्द्राग्नी, इन्द्राबृहस्पति, इन्द्राविष्णु, इन्द्रापूषणा, सोमारुद्रा, अग्नीषोमा।

(छ) देवताओं के समूह—मरुद्गण (२१ या १८०), रुद्रगण (संख्या अनिश्चित), आदित्यगण (७ या ८), विश्वे देवाः।

(ज) छोटे देवता—ऋभुगण, अप्सरागण, गन्धर्वगण।

(झ) रक्षा करने वाले (Tutelary) देवता—वास्तोष्पति, क्षेत्रस्य पति, उर्वरापति।

इन देवताओं के विषय में अधिक जानने के लिए उपर्युक्त पुस्तक देखना आवश्यक है। देवता विज्ञान (Theology) का इसके समान सुन्दर वर्णन दुर्लभ है।

जाते हैं। यह देवताओं की परस्पर-समता का द्योतक है और एकदेववाद की ओर संकेत करता है।

एकदेववाद (Monotheism) और बहुदेववाद (Polytheism) का विचार भी यास्क ने समुचित-रूप से किया है। वे कहते हैं—'महाभाग्यात् देवताया. एक: आत्मा बहुधा स्तूयते (नि० ७।४)।' यहाँ आत्मा का अर्थ है शरीर, क्योंकि वे आगे चलकर बतलाते हैं कि दूसरे देवता इसी आत्मा के विभिन्न अंग हैं। सम्भव है कि पृथक्-पृथक् कर्म करने के कारण ये नाम देवताओं के पड़े हों क्योंकि ऋग्वेद के प्रारम्भिक-भाग मे प्रकृति के विभिन्न विभागों की संरक्षणता एक-एक देवता मे बाँटी मालूम होती है। इससे कुछ विद्वान् इन स्थानों की तुलना यूनानदेश के प्राचीन प्रकृतिवाद (Hellenism) से करते हैं। किन्तु यह कहना भ्रम है क्योंकि ऋग्वेद के वाक्य ही इसका खण्डन करते हैं जैसे—'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' (१।१६४।४६)। एक ही सत्त्व के विविध-रूपों की स्तुति करने से हम उसे बहुदेववाद नहीं कह सकते। ईश्वर की एकता का सिद्धान्त जो आगे चलकर उपनिषदों के द्वारा शङ्कराचार्य के अद्वैत वेदान्त मे पुष्पित और फलित हुआ, निश्चित-रूप से ऋग्वेद के अन्तिम अंशों मे ही आरोपित हो चुका था।

सर्वेश्वरवाद (Pantheism) के उदाहरण भी हम ऋग्वेद में पाते हैं, जैसे—

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्र।
विश्वेदेवा अदितिः पञ्च जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥ (१।८९।१०)

अर्थात् अदिति स्वर्ग है, अदिति अन्तरिक्ष है, अदिति माता है, वही पिता है, वही पुत्र है। सभी देवता और पञ्च-निवासी जन भी अदिति हैं, सभी उत्पन्न वस्तुएँ भी अदिति हैं, होनेवाली (भविष्य की) वस्तुएँ भी अदिति ही हैं। इस ऋचा मे सम्पूर्ण संसार को ही अदिति के रूप में दिखलाया गया है। फिर हिरण्यगर्भ-सूक्त मे भी—

प्रजापते ! न त्वदेतान्यन्यो
विश्वा जातानि परि ता बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु
वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ (१०।१२१।१०)

अर्थात्,   हे प्रजापते ! आपसे दूसरा कोई,
सम्पूर्ण जीव के ऊपर नहीं हुआ है।
जो लिये कामना बुला रहे, वह होवे
हम सभी लोग धन के स्वामी बन जावें ॥

इन उद्धरणों में ईश्वर को विश्वमय देखने की चेष्टा हुई है।

देवताओं के सम्बन्ध में प्रो॰ मैक्समूलर (Max-Muller) का कहना है कि प्रत्येक स्थान पर किसी विशिष्ट देवता को ही प्रधान माना गया है, इस प्रकार सभी देवता अपने-अपने स्थान पर अन्य सभी देवताओं से ऊपर दिखाये गये हैं। इस विचित्र-मत को वे हिनोथिज्म या कैथेनोथिज्म[1] कहते हैं। किन्तु इस मत की प्रखर आलोचना ह्विटने (Whitney) तथा हॉपकिन्स (Hopkins) ने की है। वे कहते हैं कि देवताओं का वर्णन अन्य देवताओं से स्वतन्त्र और पृथक् होकर नहीं हुआ है। बड़े बलवान् देवता भी पराधीन हैं—वरुण और सूर्य इन्द्र के अधीन हैं (१।१०१।३); वरुण और अश्विन् भी विष्णु के समक्ष विनत हैं (२।१५६।४); इन्द्र, मित्र, वरुण, अर्यमा और आदित्य भी सवितृ के आदेश का उल्लंघन नहीं कर सकते (२।३८।९)। दो देवताओं या कई देवताओं की स्तुति भी एक साथ होती है। इसलिए हिनोथिज्म केवल देखने में ही लगता है, वस्तुतः ऐसी कोई बात नहीं।[2] तथापि देवताओं के एकीकरण की ओर आनेवाली ऋग्वेदकालिक-प्रवृत्ति का निर्देश करने में यह पूर्ण सफल है।

इस प्रकार यह निष्कर्ष निकलता है कि देवता के समूह का वर्णन होने पर भी एकत्व की ओर ऋग्वेद की धारा बह चली है। इस प्रकार की धारा को मैकडोनल बहुदेववादात्मक एकदेववाद (Polytheistic Monotheism) कहते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि पहले-पहल तो ऋग्वेद में अनेक देवताओं की मान्यता है किन्तु निष्कर्षतः एक ही देवता मानने की प्रवृत्ति आ गई चाहे वह पुरुष हो, प्रजापति या वाक्।

इसके बाद देवताओं के स्वरूप का विचार होता है। कुछ लोग कहते हैं कि ये मनुष्य के आकार के हैं क्योंकि (१) इनके सम्बोधन चेतन-जीवों के समान हैं, (२) मनुष्यों के ही समान इनके अंग हैं, (३) उन्हीं की वस्तुएँ

---

१. Henotheism, Kathenotheism—'The belief in individual gods alternately regarded as the highest'.

२. Henotheism is an appearance not reality.

भी ये प्रयोग मे लाते हैं और (४) मनुष्यों में कर्म भी इन देवताओ के हैं। इसके उत्तर मे यास्क कहते हैं कि ये सभी बातें तो अचेतन वस्तुओ के साथ भी पाई जाती है, केवल इनके आधार पर हम उन्हे मानवाकार नही मान सकते। फिर भी वे भीतर से सन्तुष्ट नही हैं क्योंकि वे यह भी कहते है—'अपि वा, उभयविधा स्यु.'।

आधुनिक-विद्वानो ने वैदिक-साहित्य का गम्भीर अनुशीलन करके इस विषय मे कई निष्कर्ष निकाले हैं।[१] देवताओ के मानवीकरण के विविध-रूप हमें वेदो मे प्राप्त होते हैं। जब प्राकृतिक-वस्तुओ के नाम पर ही वैदिक-देवताओं का नाम पडता है तब हम समझते हैं कि मानवीकरण अभी प्रकृतावस्था (Primitive Stage) मे ही है जैसे—द्यौ, पृथिवी, सूर्य, उषस्। इन देवताओ के वर्णन मे दो चीजें हैं—प्रकृति का उपादान और उनका शासन करनेवाला व्यक्ति। किन्तु जब देवताओ का नाम प्राकृतिक उपादानो के नाम से विच्छिन्न हो जाता है तब उच्चतर मानवीकरण की रूपरेखा हमे मिलती है। मरुद्गण का नाम वायु से अलग हो गया यद्यपि वैदिक ऋषि इनके सम्बन्ध से परिचित हैं। इस प्रकार के मानवीकरण की सत्ता मे हम कभी अविश्वास नही कर सकते।

अब हमे देखना है कि इस वैदिक-मानवीकरण की क्या विशेषताएँ हैं। प्रो० मैकडोनल ने मानवीकरण को केवल छायात्मक (Shadowy) माना है[२] क्योंकि प्रकृति के कार्यों का ही आलङ्कारिक-चित्रण किया गया है। देवताओ पर सिर, मुँह, आकृति, कपोल, आँख, केश, कधे, छाती, पेट, बाहु, हाथ पैर आदि का आरोपण हुआ है। विशेषतया इन्द्र और मरुत्-जैसे युद्धप्रिय देवताओ के सिर, छाती और बाहु का वर्णन हुआ है। सूर्य की किरणें ही उनके बाहु हैं, अग्नि की जीभ उनकी ज्वालायें हैं। कुछ देवताओं (जैसे उषस्) के वस्त्र का भी वर्णन होता है। शस्त्र के विषय मे इन्द्र वज्र धारण करते हैं, और दूसरे देवता धनुष बाण। इनके चमकीले रथ भी हैं, सभी देवताओ के रथ तो घोडे खींचते हैं लेकिन पूषन् बकरो से ही काम चलाते हैं जिसके चलते उन्हे 'अजाश्व' (बकरों से घोडे का काम लेनेवाला) कहते हैं। देवताओ मे दया और क्रोध भी है जैसे रुद्र मे। वृत्र को मारने मे

---

१ देखिए—Macdonell, Vedic Mythology and A B Kieth, Religion and Philosophy of the Veda

२ Vedic Mythology, p. 17.

इन्द्र की शक्ति देखने लायक है। यज्ञ करनेवालों को देवता सहायता प्रदान करते हैं किन्तु कृपणो को दण्ड भी देते हैं। इनमे नैतिकता भी उच्चकोटि की है क्योंकि सभी देवता अपने नियम के पक्के हैं, कभी धोखा नही देते। यह कहना अयुक्त नही है कि ये नैतिकता के सरक्षक (Guard of morality) हैं। पापो और अपराधो के साथ वरुण के क्रोध का आनुपातिक सम्बन्ध है। इन देवताओ की शक्ति और महिमा तो प्रसिद्ध ही है। इस प्रकार देवताओ के मानवीकरण का उपसंहार हम मैकडोनल के वाक्य से ही करें'—'वेद के सच्चे देवता उत्कृष्ट मनुष्य ही हैं जिन्हें मनुष्य की प्रवृत्तियाँ और वासनायें प्रेरित करती हैं, मनुष्य के समान जन्म लेकर भी ये अमर हैं।' अतएव वैदिक देवताओ को अतिमानव (Superman) कहना असगत नही है।[२]

उपर्युक्त तीनो देवताओं से सम्बद्ध वस्तुओं की गणना कराने के प्रसङ्ग मे यास्क ने कुछ मुख्य शब्दो का निर्वचन किया है जैसे—मन्त्र, छन्द, ऋक् आदि। छन्दो पर कुछ विस्तार-पूर्वक विचार किया गया है और वेद के प्रायः सभी छन्दो के नामो का निर्वचन हुआ है। इसी प्रकार दैवत-काण्ड की भूमिका के रूप मे पूरे तीन पादो का उपयोग किया गया है। चतुर्थ पाद से निघण्टु के दैवत-काण्ड (पचम अध्याय) मे गिनाये गये नामो की व्याख्या आरम्भ होती है। चूंकि निघण्टु के पञ्चम अध्याय के केवल प्रथम-खण्ड की व्याख्या करना यास्क को निरुक्त के सप्तम-अध्याय मे अभीष्ट है इसलिए केवल तीन देवताओ की व्याख्या उन्होने इस स्थान पर की है। वे हैं—अग्नि, जातवेदस् और वैश्वानर। इन सबो पर उनका विचार बहुत विस्तृत है।

तीनों ही देवताओं की व्याख्या के क्रम मे पहले देवता का वे निर्वचन करते हैं। उसके बाद वैदिक-ऋचायें उद्धृत करके उनका प्रयोग दिखलाते हैं तथा यह सिद्ध करते हैं कि ऊपर के दोनो ज्योतिष्पुञ्ज, विद्युत् और सूर्य भी इन नामो से पुकारे जाते हैं। अभिप्राय यह है कि जैसे अग्नि यों तो एक ही देवता का नाम है किन्तु विद्युत् और सूर्य का उल्लेख भी लाक्षणिक रूप

---

१. Ibid p 2—'The true gods of the Veda are glorified human beings, inspired with human motives and passions, born like men, but immortal'

२. विशेष विवरण के लिए देखें मेरा लेख—'ऋग्वेद में मानवीकरण' पटना कालेज पत्रिका, मई, १९५९।

से इस नाम के द्वारा हो जाता है। अन्त मे वे निष्कर्ष निकालते हैं कि सूक्तों मे सम्बोधित तथा हवि पानेवाले इसी पार्थिव (भौतिक) अग्नि (Fire) को क्रमशः अग्नि, जातवेदस् और वैश्वानर कहते हैं। इन नामो से ऊपरी ज्योतिष्पुञ्ज कभी-कभी ही सूक्तो मे संबोधित किये जाते हैं या हवि पाते हैं।

वैश्वानर के विषय में यास्क ने बहुत बड़ा विवेचन किया है तथा कई मनोरञ्जक बातें उद्धृत की हैं। बिजली और सूर्य से अग्नि किस प्रकार निकलती है इसका वैज्ञानिक वर्णन किया है जो उस समय के प्रारम्भिक पदार्थ-विज्ञान का परिचायक है। यास्क कहते हैं कि जब किसी ठोस वस्तु पर बिजली गिरती है तब उस उमय तक यह अपना ही गुण लिये रहती है जबतक ठहर नही जाती। उसके अपने गुण का अभिप्राय है—जल में प्रज्वलित होना और ठोस वस्तु मे घुस जाना। किन्तु जब यह स्थिर हो जाती है तब पार्थिव-अग्नि का गुण ग्रहण कर लेती है जो ठोस में प्रज्वलित होना और जल मे बुझ जाना है। वस्तुस्थिति जो भी हो परन्तु विद्युत् से अग्नि का सम्बन्ध स्थापित करना कुछ कम नही है।

सूर्य से भी अग्नि का सम्बन्ध दिखलाया गया है। जब सूर्य उत्तरायण मे होते हैं तब कांसा या मणि को साफ करके उनकी किरणो के सामने सूखे गोबर के पास (किन्तु बिना स्पर्श कराये हुए) रखे तो वह जलने लगेगा। वस्तुतः किसी पीतल की तश्तरी मे किरणों को एकत्र करके काला कपड़ा रखने पर वह जलने लगता है। प्राय सप्तम-शती ई० पू० के प्रारम्भिक-विज्ञान को देखकर किसे आश्चर्य न होगा ? यह देखना चाहिये कि यास्क की प्रतिभा कितनी सर्वतोमुखी थी।

वैश्वानर का वर्णन जिस पाण्डित्य-प्रकर्ष के साथ उन्होंने किया है वह उसकी विलक्षण-वैदुषी का परिचायक है। वैश्वानर को सूर्य के रूप मे सिद्ध करने के लिए जितने तर्क दिये गये है उनके खण्डन मे यह स्पष्ट हो जाता है कि यास्क का अध्ययन कितना विस्तृत था।

चतुर्थ-परिच्छेद

यास्क का निर्वचन

[निर्वचन का अर्थ—आधुनिक निर्वचन—इसकी कठिनाइयाँ—व्यापक अध्ययन की आवश्यकता—यास्क की विशेषता—यास्क के ध्वनि नियम—यास्क के निर्वचन की विशेषतायें—यास्क के निर्वचनों के स्वरूप—निर्वचनों की दुर्बोधता और उसके कारण—निष्कर्ष ।]

निरुक्त निर्वचन का ही शास्त्र है । इसमें शब्दों का इतिहास इस ढंग से प्रस्तुत किया गया है कि उनमें सन्निहित धातु का पता लग जाय और धातु के अर्थ के आधार पर ही शब्द का अर्थ निर्धारित किया जाय । धातु से शब्द का अर्थ या तो साक्षात् रूप से चला आ सकता है (वाच्यार्थ), या अलंकारों की सहायता लेनी पड़ सकती है । यास्क ने निर्वचन की दोनों रीतियों का ही आश्रय लिया है । निर्वचन की अनिवार्यता के विषय में यास्क कहते हैं कि हमें कभी भी अपनी असमर्थता दिखलानी नहीं चाहिये (न त्वेव न निर्ब्रूयात्—२।१) ।

किन्तु यास्क के निर्वचन और आधुनिक निर्वचन (Etymology) का एक मौलिक अन्तर यह है कि यास्क अपने निर्वचनों में शब्दों को निश्चित रूप से आख्यातज (of verbal origin) मानते हैं जब कि आधुनिक भाषा विज्ञान का निर्वचन-शास्त्र सभी शब्दों को आख्यातज नहीं मानकर उनकी उत्पत्ति का वहाँ तक का इतिहास खोजता है जहाँ तक जाने के लिए अभी तक साधन प्राप्त हुए हैं । उदाहरणतः संस्कृत के किसी शब्द की तुलना अवेस्ता, ग्रीक, गॉथिक, बुल्गेरियन, तोखारियन आदि प्राचीन भाषाओं में प्राप्य शब्दों से करते हुए प्राचीनतम भारत-यूरोपीय मूलभाषा (Prot type Indo-European) में उसकी सत्ता खोजना ही निर्वचन है । वह भा० यू० मूलभाषा में वह शब्द धातु के रूप में या संस्कृत के रूप में ही हो—भाषा विज्ञान इसकी चिन्ता नहीं करता । हाँ, यदि साध्य हो तो अर्थ का

---

१. Etymology—ग्रीक भाषा का etymos = सत्यता, logos = विज्ञान—सत्यता का विज्ञान अर्थात् शब्दों की उत्पत्ति और अर्थ का सही पता लगाने वाला विज्ञान ।

निर्वचन के लिए यास्क ने जो सामान्य-सिद्धान्त दिये हैं उनकी आलोचना करते के समय हम देख चुके हैं कि यास्क ने उदाहरण ठीक दिये हैं किन्तु सिद्धान्त नहीं।[1] उनकी आधारशिला है कि कोई भी ध्वनि किसी ध्वनि के रूप मे परिवर्तित हो सकती है। यह भाषाविज्ञान के ध्वनि-नियमो के विरुद्ध है। इसी बात को देखकर प्रो० राजवाडे–जैसे कुछ विद्वान् कहते हैं कि यास्क की व्युत्पत्तियो को ध्वनि-नियमों से कोई सम्बन्ध नहीं।[2] डा० सिद्धेश्वर वर्मा ने इसकी कटु आलोचना करते हुए ध्वनि-नियमो से यास्क की अभिज्ञता सिद्ध की है। यह सत्य है कि यास्क सब जगह ठीक नहीं किन्तु निम्नलिखित तथ्य तो उनकी वैज्ञानिकता स्वीकार करने के लिए हमें बाध्य ही करते हैं—

(१) स्वर-विकार (Ablaut) के विभिन्न-रूपों से परिचय :—गुण-विकार—जैसे, 'एव' की व्युत्पत्ति √इ से, 'वय' की व्युत्पत्ति √वी से। वृद्धि-विकार—'आदितेय' की व्युत्पत्ति 'अदिति' से। सम्प्रसारण—'पृथक्' की व्युत्पत्ति √प्रथ् से। इसके अलावे अन्य प्रकार के स्वर-सम्बन्ध भी उन्होंने दिखलाये हैं।

(२) कण्ठ्य और तालव्य-वर्णों के सम्बन्ध से परिचय :—'अङ्कुश' की व्युत्पत्ति √अञ्च् (मुड़ना) से, 'मृग' की व्युत्पत्ति √मृज् (जाना) से। मूल भारत-यूरोपीय-भाषा मे इन दोनो प्रकार के वर्णों का सम्बन्ध हो चुका था, अन्तर यही है कि यास्क तालव्य-वर्ण से कण्ठ्य-वर्ण की उत्पत्ति मानते हैं जब कि भाषा-विज्ञान की दृष्टि से कण्ठ्य-वर्ण ही तालव्य-वर्णों को उत्पन्न करता है।[3] पाणिनि के साथ भी यही दोष है क्योंकि वे भी 'चोः कु' सूत्र के द्वारा यास्क-मत का ही समर्थन करते हैं।- तथापि इन दोनो वर्गों के पारस्परिक सम्बन्ध को जानना भी क्या कम है ?

(३) धातुओं के दुहरे प्रयोगों से परिचय :—'स्कन्ध' की उत्पत्ति √स्कन्द् से और 'उत्स' की उत्पत्ति √उन्द् से मानना यह सिद्ध करता है कि दोनों का प्रयोग प्रचलित था और यास्क इनके पारस्परिक सम्बन्ध से अभिज्ञ थे।

---

१ भूमिका का तृतीय परिच्छेद [ख]।

२. Vide, Yaska's Nirukta, p. XLII.

३. तालव्य-वर्णों की उत्पत्ति के लिए देखें—Dr. Batakrishna Ghosh, *Linguistic Introduction to Sanskrit*, pp. 72–77.

(४) ल् को र् का आकस्मिक विकार मानना :—'पुलुकाम' की व्याख्या 'पुरुकाम' से करते हैं। यह सिद्ध है कि र् और ल् बहुत काल से मिले-जुले थे। मूल भारत यूरोपीय भाषा में ल् था जो वैदिक युग में बहुधा र् हो गया, इसे रकारीकरण (rhotacism) कहते हैं। उदाहरण हैं—अङ्गुरि (वै०)—अङ्गुलि। रघुयत्वान (वै०)—लघुयतना।

(५) स्वरों तथा व्यञ्जनों का पारस्परिक सम्बन्ध —'अभीके' = अभ्यक्ते (इ<य) 'पितु' <√प्यै, 'स्तूप' <√स्त्यै, 'ग्रीवा'<√गॄ। 'उपस्' को √उच्छ (चमकना) से निष्पन्न मानना भी भाषा-विज्ञान की ओर का एक महत्त्वपूर्ण पदक्षेप है (ष्<च्छ्)।

(६) वर्णों के द्विर्वचन (Reduplication) से परिचय —'अजीग' की व्याख्या 'अगारी' करके की गई है अर्थात् √गॄ का द्वित्व हुआ है जिसमें कण्ठ्य 'ग्' तालव्य 'ज्' के रूप में परिवर्तित हो गया है; पुन 'जिगर्ति' को √गॄ, √गृ या √ग्रह से निष्पन्न मानकर द्वित्व की पूर्व-कल्पना कर लेते हैं।

(७) सन्धि के नियमों से परिचय —'अनुष्टुप्' की व्याख्या 'अनु'-पूर्वक √स्तुभ से हुई है अर्थात् दन्त्य 'स्' का परिवर्तन 'ष्' में हो गया है क्योंकि पूर्व में उकार है। पाणिनि ने इसके लिए नियम बनाया है 'इण्को' (८।३।५७) जिसका अर्थ है इण् और कवर्ग के बाद स् का ष् हो जाता है। ध्वनि परिवर्तन के ये निरीक्षण यास्क की सूक्ष्मदृष्टि के परिचायक हैं।[१] इसलिए यह कहना ठीक नहीं कि यास्क ध्वनि नियमों (Sound laws) से बिलकुल अपरिचित थे।

यास्क केवल ध्वनि-शास्त्र से ही परिचित नहीं, अपितु निर्वचन शास्त्र के विभिन्न पहलुओं से भली भाँति परिचित प्रतीत होते हैं। यह और बात है कि ऐतिहासिक गवेषणा के अभाव के या विविध मानवोचित दोषों के फलस्वरूप उनके निर्वचन कई स्थानों पर निर्दोष नहीं कहला सकते तथापि इस क्षेत्र में उनकी समता कोई एक विद्वान् कभी नहीं कर सकता। नीचे हम यास्क की निरुक्तियों की विशेषताओं पर प्रकाश डालेंगे—

---

१ इन सब निरीक्षणों का वर्णन डा० सिद्धेश्वर वर्मा के ग्रन्थ 'इटिमोलॉजीज आफ् यास्क' (Etymologies of Yaska) के आधार पर किया गया है। वस्तुत इस परिच्छेद का आधार ही यह पुस्तक है। मैं इस बहुमूल्य ग्रन्थ का बहुत आभारी हूँ।

(१) यास्क को निर्वचन की धुन लगी है और वे 'न त्वेव न निर्ब्रूयात्' कह कर सचेत कर देते हैं। आरम्भ मे ही 'निघण्टु' शब्द का निर्वचन करने मे तत्पर हो जाना इसी धुन का फल है। ऋचाओं की व्याख्या करने के समय ऋचाओ मे आने वाले शब्दो तक ही यास्क की दृष्टि सीमित नही प्रत्युत उनके लिए दिये गये प्रतिशब्दो और उनसे भी सम्बद्ध शब्दो पर तक हाथ साफ करते हैं। फल होता है कि विषयान्तर मे भटक जाते हैं। उदाहरण के लिए देखें—केवल 'मुहूर्त'-शब्द की व्याख्या करनी है—'मुहूर्त = मुहु ऋतु। ऋतु अर्तेर्गतिकर्मण। मुहु. = मूढ इव काल, यावदभीक्ष्ण चेति। अभीक्ष्णम् अभिक्षण भवति। क्षण क्षणोतेः = प्रक्ष्णुतः काल.। 'काल कालयतेः गतिकर्मणः' (नि० २।२५)। 'मुहु' और 'ऋतु' की व्याख्या तो उनके २।२ (पूर्व पूर्वम् अपरमपर प्रविभज्य निर्ब्रूयात्) के नियम के अनुकूल है पर 'अभीक्ष्ण', 'क्षण', और 'काल कहाँ से टपक पड़े? इसी धुन के फलस्वरूप उन्होंने इन्द्र का चोदह तरह से निर्वचन किया है (१०।८) 'जातवेदस्' का छ प्रकार से (७।१९) और 'अग्नि का पाँच प्रकार से (७।१४)।

(२) कुछ निर्वचन यास्क की स्थूल दृष्टि के भी द्योतक हैं। अर्थ की खीचातानी और ध्वनि की परेशानी दर्शनीय है। 'अन्न' को वे आ + √नम् से (वस्तुत √अद् = खाना) 'आशा' (= दिशा) को आ + √सद् से, तथा 'इन' (= स्वामी) को √सन् से (वस्तुत = √इ = जाना) निष्पन्न मानते हैं। पाणिनि के अध्येता इन्हें भ्रान्त ही समझेंगे।

(३) कही-कही तो यास्क इतने वैज्ञानिक हैं कि आधुनिक भाषा-विज्ञान भी आश्चर्यचकित हो जाता है। देखिये, 'सहस्र' की उत्पत्ति 'सहस्वत्' (शक्तिमान्) से मानते हैं। मूल भा० यू० शब्द है Seghe-slo kmto'm जिसका अर्थ है 'शक्तिशाली सौ', ग्रीक chilioi = एक हजार। 'सहस्र' मे 'सहस्' शक्ति के अर्थ मे है इसकी पुष्टि ग्रिम (Grimm), ब्रुगमैन (Brugmann) तथा मीलेट (Meillet) ने की है। इसी प्रकार विंशति (३।१०), श्रद्धा (९।३०), जरितृ (१।७) आदि के निर्वचन मे भी उन्होने अपूर्वता दिखलाई है। आश्चर्य तो यह है कि 'जरिता = गरिता' लिखने के समय यास्क मू० भा० यू० भाषा के ध्वनि सिद्धान्त को भी जान रहे हैं। मू० भा० यू० मे ऐसा ही शब्द है guera (ग्वेरा—) = स्वर ऊँचा करना, प्राचीन भारतीय भाषा (Old Indo-Aryan) मे ओष्ठ-कण्ठीय (Labio Velar) ग्व् (gu) सदैव एकार के पर में रहने पर

तालव्य (ज्) हो जाता है[१]—यह आधुनिक अनुसन्धान यास्क के मस्तिष्क मे उत्पन्न प्रतीत होता है।

(४) प्रादेशिक बोलियों मे भी यास्क की रुचि काफी है। 'शसमान' की 'शसमान' व्याख्या देना प्रादेशिक परिवर्तन का द्योतक है जैसे आज मगध के कतिपय क्षेत्रो मे आनुनासिक्ता घर कर गई है—इतिहास, बहतर (बहत्तर), सांस (श्वास) इत्यादि। शव् (जाना) का प्रयोग कम्बोज मे और 'शव (= लाश)' का प्रयोग आर्यदेश मे होता है। इनके ज्ञान से यास्क शब्दो के ठीक-ठीक इतिहास देने मे कुछ दूर तक अवश्य सफल हुए है यद्यपि उस समय यात्रादि की सुविधा न रहने के कारण अनेक बोलियो और भाषाओ को जानना बहुत कठिन था।

(५) यास्क अपनी सामर्थ्य भर आलस्य नहीं करते। सम्बद्ध भा० यू० भाषाओ मे समान-शब्द ढूंढने की कोई सुविधा न होने पर भी शब्दों की उत्पत्ति के निकट तक पहुँचने की उनकी चेष्टा स्तुत्य है, उन शब्दो का रूप भले ही प्राचीन भारतीय-भाषा (Old Indo-Aryan) मे न मिले। 'अक्षि' को √अञ्ज् से निकालना क्या कम है? देखें—मू० भा० यू० मे oqu (ओक्व्) = देखना।

(६) शास्त्रकार की दृष्टि से यास्क पूर्णतया वैज्ञानिक विचार-धारा लिये हुए हैं। अपने विचारों के साथ-साथ दूसरो के विचारो की तुलना भी करते जाते हैं। भारतीयो की इस पद्धति से वे बहुत दूर हैं कि दूसरे मूर्ख हैं, मेरा कहना ही ठीक है। इस स्थिति मे वैदिक-व्याख्याकार सायणाचार्य का सिद्धान्त यास्क के समान ही है जो 'यद्वा' करके अनेक मतो का उल्लेख करते हैं। विशेषतया जिन स्थानों मे सन्देह का अवकाश रहता है, वहाँ तो यास्क की उदारता दर्शनीय है। प्रकृत-विषय से सम्बन्ध रखने वाले सभी सिद्धान्तों का ये उल्लेख कर देते हैं।

(७) यास्क आधुनिक-भाषाविज्ञान के 'सम्पृक्ति-दोष' (Contamination) नाम की प्रक्रिया से भी परिचित है क्योकि शब्दों से सम्बद्ध एक-सदृश धातुओ का पता बताकर उन सभी के योगफल से भी शब्द की

१. Vide Dr. Bata Krishna Ghosh, *Lingustic Introduction to Sanskrit* pp 75–6 and T. Burrow, *the Sanskrit Language*, Sanskrit Phonology. For further reference vide—Wackernagel's—Altindische Grammatik.

निष्पत्ति का सङ्केत करते है, जैसे—कुब्ज' की उत्पत्ति √कुज् (टेढ़ा होना) या √उब्ज (नीचे जाना) से मानते हैं। इससे यह अनुमान होता है कि 'कुब्ज' बनाने वाले इन दोनो धातुओ के सम्भावित संसर्ग से वे अवश्य परिचित थे।[1]

(८) निर्वचन करने का प्रधान साधन यास्क के लिए व्याकरण सम्मत धातु ही है। इसी कारण से वे 'जातवेदम्' का निर्वचन करते समय √विद् के विभिन्न अर्थ (जैसे—जानना, होना) लेकर इसके ६ निर्वचन करते हैं।

(९) विद्वानों के लिए अपेक्षित एकरूपता का अभाव यास्क में खटकता है। इसके सिर पर वैयाकरणो का भूत सवार रहता है कि जहाँ जैसा देखा, अपने ही लिखे दूसरे अवतरण की चिन्ता न करके दूसरा ही अर्थ कर दिया। 'आपान्तमन्यु' का अर्थ करते हैं आपातितमन्यु' (५।१२) और फिर दूसरी जगह 'पान्तम्' का अर्थ है 'पानीयम्' (७।२५)। सायण मे भी यह दोष प्रचुर मात्रा में है। इसे देखकर ही यूरोपीय विद्वानो ने इनके विरुद्ध आन्दोलन उठाया है जिसे भारतीय पुराने पण्डित प्रकरणानुकूल अर्थ कहकर टाल देते हैं किन्तु प्राचीन शब्दो के अर्थ करने मे भाषा विज्ञान के महत्त्व को हम भूल नहीं सकते।

---

१ सम्पृक्ति दोष—(Contamination)—जब वक्ता के मन में एक साथ दो या अत्यन्त निकट होकर विचार अथवा वाक्य विन्यास उपस्थित होते हैं तब दोनों एक दूसरे में विलीन होकर एक दूसरे को दूषित (भग्न) कर डालते हैं जैसे—Camel (ऊँट) और Leopard (चीता) के संयोग से बनने वाला Cameleopard एक ऐसा जन्तु है जिसमें ऊँट-सा गर्दन और चीते-सी छाप हो। वैस्मीन पे विचार brunch (breakfast और lunch दोनों का एक साथ भोजन) करते हैं। 'कुब्ज' भी कुज् और उब्ज् के सम्पृक्ति-दोष से हुआ है—यह यास्क को मान्य प्रतीत होता है। भाषा के इस तथ्य का आविष्कार तो यास्क ने किया। अन्य उदाहरण हैं—Furasia, Pastime आदि। यह दोष वाक्यों में आ होता है विशेषतया जब विचार प्रवाह भाषा प्रवाह की अपेक्षा अधिक वेग से चलता है जैसे—'इन्द्रश्च सोम पिबतं बृहस्पते'—'पिबतं' में द्विवचन इन्द्र और बृहस्पति के कारण है, मन का 'इन्द्र' उसने सीधा सम्बन्ध नहीं रखता। स्मरणीय है कि सम्पृक्ति दोष के फलस्वरूप दोनों शब्द अशुद्ध होकर सामने को उपस्थ करते हैं। देखिये—Taraporewala, *Elements of the Science of Language*, pp. 77-8 और Ashutosh Jubilee Volume में तारापुरवाला का लेख—Contamination in Language.

(१०) कहीं-कहीं यास्क अर्थ की खींचातानी करते हुए निर्वचनों से खेल करने लगते है। देखिये—जब 'वृक' चन्द्रमा को कहते हैं तब उसका निर्वचन है—'विवृतज्योतिष्क' (केवल दूसरा 'वृ' और अन्तिम 'क' बचता है !), विकृतज्योतिष्क, विक्रान्तज्योतिष्क. । अब वही 'वृक' कुत्ते के अर्थ मे होगा—विकर्तनात् (वि + $\sqrt{}$कृत् = काटना) सच तो यह है कि 'वृक' कोई भी अर्थ क्यो न धारण करे, यास्क वहाँ तक इसे तुरत पहुँचा देंगे (५।२१-२२)।

(११) निर्वचन के झोंके मे यास्क अपनी कल्पना-शक्ति का प्रभाव दिखलाने लगते हैं। जहाँ रूपक और लक्षणा से अर्थ का परिवर्तन हुआ है, वहाँ भी अपनी निर्वचन-शक्ति का चमत्कार दिखा कर ही छोडते हैं (भले ही कुछ स्थानों पर वे रूपकादि का भी सम्मान करते हैं) जैसे—'अवनि' का पहला अर्थ है नदी, फिर रूपक से यह—अंगुली का अर्थ धारण कर लेती है परन्तु अंगुली के अर्थ मे भी यास्क इस शब्द की निरुक्ति करके ही छोडते हैं—'अवनय अङ्गुलयो भवन्ति अवन्ति, कर्माणि' ($\sqrt{}$अव् = रक्षा करना, ३।९)। यह बात नही है कि यास्क अर्थ-परिवर्तन का कारण रूपक, लक्षणा, सादृश्य आदि को नही मानते। इसके लिए हम उनके 'पद' शब्द की व्याख्या देखें (२।७)। यथास्थान हम इसपर विचार करेंगे।[1]

यास्क के द्वारा उपस्थापित निर्वचनों के सम्बन्ध मे पर्याप्त अध्ययन किये गये है और भाषाशास्त्रियों ने आधुनिक-अनुसन्धानों की कसौटी पर उन्हें कसने की चेष्टा की है। फलतः निर्वचनों के विश्लेषण करने पर वे निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचते हैं।[2]

(१) यास्क के कुछ निर्वचन तो भाषा-शास्त्र को पूर्णतया स्वीकार हैं, जैसे—'अङ्कुस' की उत्पत्ति $\sqrt{}$अञ्च् (मुड़ना) से। मू० भा० यू० *ank = मुड़ना, ग्रीक—ankon = केहुनी।

(२) कुछ निर्वचन ध्वनि की दृष्टि से स्वीकार हैं किन्तु अर्थ की दृष्टि से अस्वीकार, क्योंकि आधुनिकतम अनुसन्धानों से उनके अर्थ गलत प्रमाणित हो चुके हैं। 'राजन्' की उत्पत्ति $\sqrt{}$राज् (चमकना) से मानना ठीक नहीं प्रत्युत मू० भा० यू० मे *reg = निर्देश करना, तथा लैटिन मे

१. देखिये—परिच्छेद ७, अर्थविज्ञान।
२. Dr. Varma, Etymologies of Yāska, pp. 17–32.

rex = राजा—ये शब्द हैं जिनसे 'राजन्' सम्बद्ध है। ध्वनि की दृष्टि से फिर भी उपर्युक्त निरुक्ति निर्दोष है।

(३) कुछ निर्वचन अंशतः स्वीकार हैं क्योंकि आधुनिक आलोचक के लिए ये अत्यन्त प्राकृत (Primitive) हैं। यास्क 'उत्तर' की उत्पत्ति 'उद्धततर' से मानते हैं। वे तुलनात्मक (Comparative) 'तर' प्रत्यय को जानते हैं जो 'उत्' उपसर्ग में भी लगा है किन्तु यहाँ सवर्णलोप (Haplology)[1] नहीं हुआ है। पुन, 'द्यु' की उत्पत्ति √द्युत् (चमकना) से मानते हैं किन्तु वह वस्तुतः √द्यु है, तकार व्यर्थ है। मू० भा० यू० में *diu, dei = चमकना।

(४) कुछ निर्वचन निश्चित रूप से स्वीकार नहीं हैं, उनकी स्वीकृति के विषय में सन्देह है, जैसे—उद्रिणम् = उदकवन्तम्। उद् = जल, मूल भा० यू० *ud ग्रीक hudor = जल। 'भर' (संग्राम) की उत्पत्ति √भृ (धारण करना), से मू० भा० यू० *bher = धारण करना, ग्रीक phero = मैं धारण करता हूँ। यह निश्चित नहीं है कि संग्रामार्थक 'भर' भी ऐसे ही बना है।

(५) कुछ निर्वचन सम्भवतः स्वीकार हैं तथापि अनुसन्धान की आवश्यकता है जैसे—'अप्नस्' (रूप) √आप् (पाना) से; मू० भा० यू० *ap = पहुँचना, लैटिन apiscor = मैं पहुँचता हूँ। सम्भव है कि 'अप्नस्' का सम्बन्ध √आप् से हो जाय।

(६) कुछ निर्वचन अत्यन्त प्राकृत हैं जिसका कारण है यास्क का युग। यह बात नहीं कि वे अवैज्ञानिक हैं। 'रुक्म' की उत्पत्ति केवल √रुच् से बनाकर रह गये हैं जब कि मू० भा० यू० में *leuq = चमकना, ग्रीक—

१. सवर्णलोप (Haplology) का अर्थ है दो समान ध्वनियों (Syllables) में एक का लोप होना जैसे शीर्षच्छिक्ति > शीर्षक्ति, शष्पपिञ्जर > शष्पिञ्जर, मधुदुघ > मदुघ, Camel leopard > Cameleopard, where ever > wherever इत्यादि। एकबार मेरे एक अध्यापक-मित्र ने मुझसे पूछा कि Haplogy (हेप्लॉजी) क्या है! इस पर नोट लिखा दें। मैंने कहा कि आप तो स्वयं ही Haplology का उदाहरण तैयार करके लाये हैं केवल दूसरा लक्षण लिख लें। 'उद्धततर' में यदि सवर्णलोप हो तो तकारों का लोप हो जाय, परन्तु इतिहास में ऐसा नहीं हुआ। अव्ययों में भी प्रत्यय लगते थे उसी का यह उदाहरण है जैसे—प्रतर, नितर, सन्तर, उत्तर, वितर, अन्तर। वे वैदिक-काल में ही होते थे।

leukos = प्रकाश—ये शब्द भी मिलते हैं। यास्क आगे न बढ़ सके। कुछ निर्वचनों की प्राकृतता (Primitiveness) ध्वनि की दृष्टि से है जैसे—'दण्ड' की उत्पत्ति √दद् या √दम् से मानना। मू० भा० यू० में शब्द है *del + ndo = फाड़ना, लैटिन dolo = मैं काटता हूँ। यह बात यास्क में रूपविज्ञान की दृष्टि से भी है। इसका मुख्य कारण है सभी शब्दों को आख्यातज मानना। आज जिन शब्दों को निश्चित रूप से संज्ञा आदि माना गया है यास्क उन्हें भी संज्ञा और विशेषण के मूल के रूप में आख्यात समझ लेते हैं जैसे—'दीर्घ' की उत्पत्ति √द्राघ् से। यहाँ तक कि प्रत्ययों में भी धातु की गन्ध उन्हें मिल जाती है—नृम्ण = नृ + √नम् (नॄन् नतम्) जबकि ऐसे शब्द 'म्न' प्रत्यय लगाकर बनते हैं जैसे—द्युम्न, सुम्न, निम्न (देखिये, ह्विटने का संस्कृत-व्याकरण, नियम-संख्या १२२४)। 'क्षीर' की उत्पत्ति √क्षर् से मानने के समय वे यह नहीं देखते कि 'अ' से 'ई' कैसे बन जायगा। 'हिरण्य' की उत्पत्ति √हृ से मानते हैं जब कि मू० भा० यू० में यह आख्यात नहीं, विशेषण है—*ghel=पीला, helvus = पीला।

कहीं-कहीं यास्क अक्षरों को शब्दों का संकोचन और शब्दों को वाक्यों का संकोचन समझ लेते हैं जैसे 'अग्नि' = √इ (अ) + √अञ्ज् या √दह् (ग) + √नी (नि) इस प्रकार तीन धातुओं से अग्नि के तीन अक्षर बने हैं। अंशु = √शम् (अ) + √अश् (श्) + उ। पुत्र—पुद् + √त्रा या पुरु + त्रा, मू० भा० यू० *put = युवा। अक्षरों में शब्द का दर्शन करना भारतीय मस्तिष्क की विश्लेषणात्मक-प्रवृत्ति का द्योतक है।

(७) यास्क के कुछ निर्वचन लोक-निरुक्ति (Folk etymology) से प्रभावित हैं। ये निरुक्तियाँ उन्हें ब्राह्मण-ग्रन्थों, परम्पराओं, किंवदन्तियों और अपनी कल्पनाओं से प्राप्त होती हैं। 'अङ्गिरस्' की उत्पत्ति 'अङ्गार' से मानते हैं क्योंकि अङ्गिरा के सम्बन्ध की दन्तकथा ने निर्वचन को ही बदल दिया। मू० भा० यू० *angiras, ग्रीक angellos = दूत। वैसे ही 'देवर' की व्युत्पत्ति 'द्वितीयवर' से मानते हैं जब कि यह शब्द मू० भा० यू० से ही चला आ रहा है—*daiuer, ग्रीक daer = पति का भाई। उपर्युक्त निर्वचन का कारण है तात्कालिक समाज-व्यवस्था जिसमें एक पत्नी सभी भाइयों की सम्पत्ति समझी जाती थी।

(८) कुछ निर्वचन गलत हैं जो अधिकांशतः यास्क की असावधानी के परिचायक हैं। 'कितव' की व्युत्पत्ति 'कृतवान्' कहकर √कृ से मानते हैं

किन्तु 'ऋ' को 'इ' करने वाली प्राकृत भाषा की प्रवृत्ति प्राचीन आर्यभाषा (१५०० ई० पू०—५०० ई० पू०) मे नहीं आई थी। कुछ निर्वचनो मे व्याख्या की अशुद्धियाँ हैं जैसे देवापि—देव + √आप् (पाना) किन्तु 'मित्र' के अर्थ मे 'आपि' का प्रयोग ऋग्वेद मे कई स्थानो पर आया है।[१] मू० भा० यू० *ēpi = साथी ग्रीक ēpios = मित्रवत्। इनमे से कुछ का सम्बन्ध दिखलाना यास्क के लिए सम्भव था यदि सावधानी रखते।

(९) कुछ निर्वचन असम्भव हैं जैसे रश्मि—√यम् ?, 'ऊर्ज'√पच् या √व्रश्च् से।

(१०) कुछ निर्वचन तो दुर्बोध हैं जिनके विषय मे कुछ भी कहना कठिन है। इसके कई कारण हैं—(क) निर्वचन किये गये वैदिक शब्द स्वय भी सन्दिग्ध हैं क्योकि भा० यू० भाषाओ मे उनकी समता नही मिलती। सम्भव है कि वे मुण्डा-भाषा के शब्द हो।[२] (ख) यास्क की शुद्धि या अशुद्धि दिखलाने के लिए कोई प्रमाण उपलब्ध नही हैं। हम नही कह सकते कि 'आहाव' आ + √ह्वे से बना है कि नही। (ग) यास्क ने स्वय भी कई प्रकार के निर्वचन दिये हैं। जिससे ज्ञात होता है कि वे भी शुद्ध निर्वचन के विषय मे निश्चित नही हैं। (घ) कुछ निर्वचनो की भाषा भी सन्देहात्मक है। (ङ) कही कहीं व्युत्पत्ति दी गई है किन्तु अर्थ नही। यदि अर्थ ही सन्दिग्ध है तो निर्वचन की परीक्षा करना कठिन ही है। (च) कुछ निर्वचनों के आधार भी सन्दिग्ध हैं। (छ) कही तो ऐसी भ्रान्ति है कि यह कहना कठिन हो जाता है कि अमुक व्याख्या निर्वचन है या व्याख्यामात्र। (ज) कुछ स्थानो पर जहाँ यास्क बिलकुल स्पष्ट भी हैं तो भाषाविज्ञान के पास कोई साधन नही कि उनकी परीक्षा कर सके। 'अक्र' आ + √क्रम् से बना है कि नहीं—यह जाँचना बहुत कठिन है।

इस प्रकार यास्क के निर्वचनो का विभाजन करना सम्भव है। निर्वचन-शास्त्र मे वस्तुत. यास्क, अपने ही युग के लिये नहीं, अपितु अपने से बादवाले

---

१. देखिये—Petersburg Worterbuch (q v)

२. संस्कृत में मुण्डा-शब्दों के वर्णन के लिए देखें मेरा लेख—Austro-Asiatic as a Source of Sanskrit Words, Journal of the Bihar University, 1960. अनार्य शब्दों के लिए T. Burrow का Sanskrit Language देखें।

युग के लिए भी अनुपम रत्न हैं। भाषाविज्ञान की प्रक्रियाओं से अभिज्ञ, प्राचीन-आर्यभाषा समझने के एकमात्र सहायक तथा अपने युग के विचारों का अद्भुत प्रतिनिधित्व करने वाले यास्क का निर्वचन पाणिनि का भी पथ-प्रदर्शक रहा है और आधुनिक भाषाविज्ञान तो इन दोनों महर्षियों पर ही अवलम्बित है जो हमें अन्धकार में पथभ्रष्ट होने से बचाकर उचित-मार्ग पर लाते हैं।



पञ्चम परिच्छेद

निरुक्त और वैदिक-वाङ्मय

[निरुक्त का किसी वैदिक-शाखा से सम्बन्ध—विभिन्न संहिताओं के उद्धरण—निरुक्त किसी एक वेद से सम्बद्ध नहीं है—यास्क की बहुज्ञता—डा० सरूप—अथर्ववेद—डा० स्कोल्ड—उद्धरणों की सारणी निरुक्त और वेदार्थ—वैदिक-अर्थ करने के विभिन्न सम्प्रदाय—सायण—दयानन्द—अरविन्द—भाषाविज्ञान—धारणा के अनुसार व्याख्या—निरुक्त की व्याख्या शैली ।]

वेद का अङ्ग होने के कारण वैदिक वाङ्मय मात्र से निरुक्त का बहुत घना सम्बन्ध है । इस सम्बन्ध की पुष्टि के लिए ही प्रथम परिच्छेद मे वैदिक-साहित्य का सिंहावलोकन किया है । अब हम यह देखेंगे कि किन किन वैदिक-ग्रंथों के वाक्य निरुक्त म उद्धृत हैं तथा वैदिक-व्याख्या मे निरुक्त कहाँ तक सफल है ।

यों तो निरुक्त मे विभिन्न वैदिक-संहिताओ और ग्रन्थो से वाक्य उद्धृत किये गये हैं परन्तु उनमे प्रधानता ऋग्वेद की ही है । इसका कारण यह है कि निरुक्तकार जिस निघण्टु पर भाष्य लिखते हैं उसमे ऋग्वेद के शब्दो का ही सकलन हुआ है अतएव ऋग्वेद म ही उसके प्रयोगो को दिखलाना यास्क के लिए उचित था । निरुक्त के अधिकाश परिच्छेद ऋग्वेद की किसी ऋचा से आरम्भ होते हैं जिसके बाद उन ऋचाओ की व्याख्या की जाती है । ये ऋचायें कहीं कहीं दूसरी जगह भी मिल जाती हैं परन्तु इन्हें प्राचीनता की दृष्टि से ऋग्वेद से ही उद्धृत मानना सगत है । किन्तु केवल अन्य संहिताओ मे मिलने वाले वाक्य भी निरुक्त मे हैं । इस खींचतान के कारण निरुक्त को किस वैदिक शाखा से सम्बद्ध मानें, यह निश्चय करना कठिन हो जाता है । फिर भी चूंकि अन्य वेदाङ्गो के ग्रन्थ भिन्न भिन्न-वैदिक शाखाओं से हैं, अतएव इसे भी किसी-न-किसी शाखा से सम्बद्ध मानना आवश्यक प्रतीत होता है ।

इस प्रश्न को समाहित करने मे रॉथ (Roth) का कहना है कि निरुक्त कृष्ण यजुर्वेद से, विशेषतया तैत्तिरीय शाखा से, सम्बद्ध है । भाण्डारकर

और गुणे (भा० अभि० ग्रन्थ) कहते हैं कि यास्क स्वय यजुर्वेदी थे और उन्होने विभिन्न-सहिताओ से उद्धरण लिये हैं जिनमे तैत्तिरीय, मैत्रायणी और काठक-सहितायें मुख्य हैं। वेबर (Weber) के अनुसार निरुक्तकार काण्व शाखा से उद्धरण देते हैं। यजुर्वेद के उद्धरण के लिए वे वाजसनेयी-संहिता का आश्रय लेते हैं। इस प्रकार ये विद्वान् यजुर्वेद की कतिपय शाखाओ से यास्क का सम्बन्ध जोडते हैं। इनके तर्कों के मूल मे यही बात है कि निरुक्त वेदाग है, किसी-न-किसी शाखा से अवश्य सम्बद्ध होगा। अन्य शाखाओ के भी अपने निरुक्त रहे होगे जो आज प्राप्त नही हैं।

अब यह विचारना है कि क्या निरुक्त वस्तुत किसी शाखा से सम्बद्ध है। हमने ऊपर अन्य वेदाङ्गो से निरुक्त की विलक्षणता देख ली है।[1] निरुक्त स्वयं भी भाषा-विज्ञान नामक एक विलक्षण-शास्त्र का अध्ययन प्रस्तुत करता है। भाषा-विज्ञान को किसी एक पुस्तक या भाषा पर सीमित रहना नही पड़ता। उसे तो अनन्त भाषाओ, ग्रथो और शाखाओ के क्षेत्र मे स्वच्छन्द विचरण करना पडता है। कोई भी नियन्त्रण उसके लिए सम्भव नही। यही कारण है कि निरुक्त अन्य वेदागो से विलक्षण है, किसी एक शाखा के शब्दों तक इसे सीमित करना अनुचित है। यास्क स्वय भले ही कोई वेदी हो, यजुर्वेदी या ऋग्वेदी, परन्तु निरुक्त का सम्बन्ध है सभी वेदो से, उपनिषदो से और तात्कालिक साहित्य से। सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि अपने काल के अनुकूल निरुक्त वैदिक-भाषाविज्ञान का महा-निबन्ध (Thesis) है। इसलिए निरुक्त एक प्रकार से सभी वेदों का निरुक्त है। अन्य निरुक्तो की भी शैली ऐसी ही रही होगी, वे भी सभी वेदो से उद्धरण देते होगे।

यह तर्क यहाँ अनुचित प्रतीत होता है कि उस काल मे कोई भी साहित्य किसी कुल और शाखा से सम्बद्ध था, क्योकि यास्क-जैसे और निघण्टुकार-जैसे वैज्ञानिकों का अभाव कभी नही रहता जो सभी शाखाओ और कुलो मे जाकर किसी विषय-विशेष का अध्ययन करके ससार को नवीन प्रकाश देते हैं। यास्क स्वय किस शाखाध्यायी कुल के थे—यह हमारा विषय ही नही। डा० स्कोल्ड का कथन है कि—'क्या यह सामान्य वैदिक-अध्ययन की कृति समझी जाय, या किसी वेद-विशेष की या वेदों के समूह की ? हम नही जानते कि किस शाखा से इसका सम्बन्ध है या पहले रहा होगा।"

१. प्रथम-परिच्छेद का अन्तिम भाग।

प्राय. सभी वेद निरुक्त का स्रोत होने का गौरव रखते हैं।'[1] यह अब निश्चित है कि इस तथ्य के मूल में कौन-सी बात है। डा० लक्ष्मणसरूप भी निरुक्त के उद्धरणों से यास्क की बहुज्ञता का परिचय देते हुए लिखते हैं—निरुक्तमे उदाहरण देने के लिए दिये गये उद्धरणों से निष्कर्ष निकलता है कि यास्क ऋग्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, यजुर्वेद और उसके पदपाठ, तैत्तिरीय-संहिता, मैत्रायणी संहिता, काठक-संहिता, ऐतरेय-ब्राह्मण, गोपथ-ब्राह्मण, कौषीतकि ब्राह्मण, शतपथ-ब्राह्मण, प्रातिशाख्यों को और कुछ उपनिषदों को जानते थे।[2] इतने ग्रन्थों का उद्धरण देनेवाले ग्रन्थ को यदि हम वेद की किसी एक शाखा में बाँध दें तो अन्याय होगा। यह और बात है कि यास्क स्वयं किसी एक शाखा के ब्राह्मण होगें जिसकी छाप निरुक्त पर पड़ना आवश्यक है जैसे सायण ने कृष्ण-यजुर्वेद के भाष्य को प्राथमिकता देकर उसकी पुष्टि भी की है।[3]

अथर्ववेद के उद्धरण तो यास्क में हैं परन्तु जिस समय निरुक्त में वेदों का निर्वचन[4] होने लगा है अथर्व का नाम नहीं। बौद्ध-साहित्य में भी त्रिवेदी का ही उल्लेख है। हाँ, छान्दोग्योपनिषद् में अथर्व का नाम आया है किन्तु अलग संख्या देकर 'चतुर्थमाथर्वण' कहा है। इससे यह पता लगता है कि अथर्व पहले एक स्वतन्त्र ग्रन्थमात्र था जो वैदिक-संहिताओं की ही शैली में संकलित किया गया था। अभिचार-प्रयोगों के कारण उसे वेद की संज्ञा नहीं मिली थी, यद्यपि उसे तुल्य समझा जाता था। फिर भी यास्क ने उसका उद्धरण अपनी बहुज्ञता का परिचय देने के लिए दिया है।

यास्क के वैदिक उद्धरणों का विशेष अध्ययन डा० स्कोल्ड ने किया है

---

१. Skold, *The Nirukta,* Chap. II, p 11.—... "whether it should be regarded as a work based on Vedic studies in general, studies of a special Veda, or group of Vedas We do not know to which school it belongs or originally belonged. ... Nearly all the Vedas share the honour of being the source of the Nirukta"

२. L. Sarup, *Introduction to the Nirukta,* p 45—'The numerous exemplary quotation occuring in the Nirukta conclusively show that Yaska knew the Rigveda,.......... the pratisakhyas, and some of the Upanisads.'

३. देखिये—सायण की ऋग्वेदभाष्यभूमिका का प्रारम्भिक अंश।

४. निरुक्त ७।१२।

तथा अपने ग्रन्थ मे उसकी सारणी भी दी है। उसीके आधार पर हम यहाँ एक आदर्श रखेंगे। यास्क के कुछ वैदिक उद्धरण केवल निरुक्त में ही उपलब्ध हैं। सम्भव है कि जहाँ से वे लिये गये हैं, वे ग्रन्थ काल-कोष से नष्ट हो गये हो। जो वैदिक उद्धरण अन्यत्र प्राप्त है वे दो श्रेणियों मे विभाजित किये जा सकते हैं—कुछ तो निरुक्त से मिलते-जुलते उद्धरण हैं परन्तु कुछ उससे थोड़ा अन्तर रखते हैं। आगे प्रथम-अध्याय के मिलते-जुलते उद्धरणों की विस्तृत सारणी देकर बाद मे एक संक्षिप्त-सारणी दी जाती है—

प्रथम अध्याय

[क] केवल निरुक्त मे—१।१० निऋत्यमास', १।१८ स्थाणुरयं ··· २

[ख] निरुक्त और ऋग्वेद मे—१।४, १।६, १।७ नूनं, १।७ प्रसीम्, १।८, १।९, १।१७ अवसायाश्वान्, १।१६, १।२० उत त्व ६

[ग] निरुक्त और ऋग्वेद खिल—१।११ ... ... १

[घ] निरुक्त, ऋग्वेद और यजुर्वेद मे—नि० + ऋ० + वाजस० १।१७ इन्द्रं न त्वा, नि० + ऋ० + तैत्ति०+काठ० १।१७ अवसाय पद्वते ... २

[ङ] निरुक्त, ऋग्वेद और सामवेद मे—१।२० अश्वं न त्वा ... १

[च] निरुक्त, ऋग्वेद और अथर्ववेद मे—१।१० एमेनं, १।१७ परो निर्ऋत्या, १।१७ अग्निरिव ३

[छ] निरुक्त, ऋग्वेद, सामवेद और अथर्ववेद में—नि + ऋ + सा० + अ० + वैतानसूत्र (अथर्व) १।१० अयमु ते १

[ज] निरुक्त, ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद मे—नि० + ऋ० + मैत्रा० + अ० १।१७ दूतो निर्ऋत्या १

[झ] निरुक्त, ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद मे—नि० + ऋ० + सा० + वाज० + तैत्ति० + मैत्रा० + काठक १।१५ शतं सेना १

[ञ] निरुक्त और चारो वेदो मे—नि० + ऋ० + सा० + वाज० + तै० + मै० + का०+वाज० आ० + तै० आ + नृ० पू० तापनीयोपनि० + आप० श्रौतसूत्र १।२० मृगो न १

इन मिलते-जुलते उद्धरणो के अलावे प्रथम-अध्याय मे भिन्न-पाठोवाले भी दो उद्धरण हैं। इस सारणी का उद्देश्य यही है कि हमें ज्ञात हो जाय कि किस प्रकार निरुक्त सभी वेदो का निरुक्त है। अब हम सम्पूर्ण निरुक्त के उद्धरणों का विहगमावलोकन कर लें—

---

१. पढ़ने-जैसा ही विस्तार के लिए देखें—Dr. Sarup., *The Nirukta.*

अध्याय	मिलते जुगते उद्धरण		भिन्न पाठ वाले	योग
प्रथम	२४	+	२	= २६
द्वितीय	१८	+	६	= २४
तृतीय	३३	+	९	= ४२
चतुर्थ	४६	+	१२	= ५८
पञ्चम	५६	+	६	= ६२
षष्ठ	५१	+	१८	= ६९
सप्तम	३६	+	७	= ४३
अष्टम	१०	+	९	= १९
नवम	२६	+	१३	= ३९
दशम	२७	+	१७	= ४४
एकादश	२९	+	१८	= ४७
द्वादश	१७	+	२४	= ४१
	३७३	+	१४१	= ५१४

डा० लक्ष्मण सरूप ने निरुक्त के विभिन्न प्रकार के शब्दो की सूची प्रकाशित की है जिसके अनुशीलन से पता लगता है कि निरुक्त के उद्धरणो को यदि उससे निकाल दिया जाय तो यास्क का लिखा अश बहुत ही थोडा रह जाता है। कुछ भी हो वैदिक-उद्धरणो का जितना प्रयोग निरुक्त मे हुआ है उतना शायद ही किसी वेदाङ्ग मे होगा।

अब हम देखें कि वैदिक शब्दो और वाक्यो[1] के अर्थ प्रकाशन मे निरुक्त का क्या स्थान है। यह मानी हुई बात है, किसी भी ग्रन्थ से बहुत दिनों तक के लिए सम्पर्क छूट जाने पर उसके अर्थ करने मे बडी कठिनाइयाँ होती हैं। इसलिए प्राचीन होने के कारण वेदो के अर्थ का निणय करना बहुत कठिन है। 'मुण्डे मुण्डे मतिभिन्ना' के अनुसार आज अनेक अर्थ किये जा रहे हैं। अपनी समझ और पद्धति से जिसे जो मिला उसने वही अथ कर दिया। निरुक्त का काल वैदिक-काल की प्राय अन्तिम सीमा है। वैदिक-सहिताओ को बहुत समय हो गया था। स्वय यास्क ने ही वैदिक अर्थ करनेवालो की विप्रतिपत्ति का उल्लेख किया है। उनके अनुसार वेदार्थ के ये सम्प्रदाय हैं—आधिदैवत, आध्यात्मिक, आख्यानसमय, ऐतिहासिक, नैदान, नैरुक्त, परिव्राजक, पूर्व याज्ञिक, याज्ञिक। इससे स्पष्ट है कि आज की भाँति

उस समय भी विभिन्न-आधार हो गये थे। फिर भी उनमे एक परम्परा-प्राप्त अर्थ की रक्षा की गई है।

यास्क वैदिक अर्थ करनेवालो मे अत्यधिक सयत हैं, यह उनकी व्याख्याओं से पता लगता है। निर्वचन का ठीक-ठीक पता लगाने मे उन्होने भले ही आलस्य किया हो, किन्तु वैदिक व्याख्या मे तो उन्होने समस्त प्राप्य साधनों का उपयोग किया है। ब्राह्मण-ग्रन्थो के अर्थ, परम्परा-प्राप्त अर्थ और निर्वचनात्मक अर्थ—सबो को समुचित स्थान दिया है। कहना नही होगा कि यास्क की व्याख्या ही सायण और आधुनिक भाषा-शास्त्रियो के अर्थ का मूल है। आज वेद-व्याख्या की चार प्रणालियाँ प्रचलित हैं—

(१) सायणाचार्य की व्याख्या (१४वीं शती)—इसमे निरुक्त का ही नही, समस्त वैदिक-वाङ्मय का उपयोग किया गया है और परम्परा से प्राप्त अर्थों का प्रकाशन किया गया है किन्तु इनकी व्याख्या में विदेशी लोग यह दोष निकालते हैं कि सभी स्थानो पर एक शब्द का एक ही अर्थ इन्होने नही किया है। कई अर्थ देने के कारण इनकी व्याख्या कोई निश्चित अर्थ नही देती। इस विषय मे यह कहना अनुचित न होगा कि सायण वैदिक-वाङ्मय के पूर्ण पण्डित थे, प्रकरण के अनुसार ही उन्होने अर्थ का परिवर्तन किया है। विकल्पार्थ देने के दो कारण कुमारिल ने बतलाये हैं—

व्याख्यान्तरविकल्पस्य द्वयमिष्टं निबन्धनम्।
विकल्पापरितोषो वा व्याप्तिर्वा विषयान्तरे॥

वस्तुत सायण ने वैदिक-साहित्य का जितना मन्थन किया उतना किसी भी विद्वान् ने नहीं किया है। राजनीति और सेना में भी भाग लेते हुए सभी शास्त्रो को अपनी जिह्वा पर नचाते थे। आज के गवेषको की भाँति वे सूची-पण्डित[1] नही थे। फिर भी सायण परम्परा के प्रवाह मे पडकर कहीं-कहीं असम्भव अर्थ दे देते हैं। इसलिए पूर्णतया इन्ही पर आधारित होना कठिन है।

(२) दयानन्द की व्याख्या—परम्परा और भाषा-विज्ञान दोनो के

---

१. सूची पण्डित—आधुनिक अनुसन्धानों में सूची (Index) की बहुत बड़ी आवश्यकता समझी जाती है जिससे शीघ्र ही इष्ट शब्द का स्थान निकाल लिया जाता है। पहले के विद्वान् ग्रन्थ ही कण्ठस्थ रखते थे जिससे सूचियाँ अनावश्यक थीं, परन्तु आज ग्रन्थाधिक्य के कारण ऐसा करना पड़ता है। व्यग्य के रूप में महा० प० रामावतार शर्मा गवेषकों को 'सूची पण्डित' कहते थे।

ही घोर विरोधी स्वामीजी ने शब्दो के यौगिक-अर्थ पर बहुत जोर दिया है और वेदो में ईश्वर का सन्देश, प्रार्थना आदि मानते हैं। इनका पूर्वाग्रह है कि वेदो मे इतिहास नही। *अग्नि* का अर्थ लेते हैं—*जगत् का प्रकाशक परमात्मा*। एक नई दिशा की ओर सकेत करने पर भी स्वामी जी का अर्थ आलोचनाओ का पात्र हुआ है।

(३) अरविन्द की व्याख्या—आध्यात्मिक दृष्टिकोण से ये वेदो मे अध्यात्मवाद का सन्देश पाते हैं तथा वेदो को दार्शनिक-ग्रन्थ मानते हैं, न तो कर्मकाण्ड और न इतिहास। कपालि शास्त्री ने इनकी व्याख्या का अनुवाद सस्कृत में किया है जो बहुत मनोरञ्जक है। वास्तव मे वेदों मे सर्वत्र आध्यात्मिकता की छाप नही है इसलिए यह व्याख्या सन्तोषजनक नहीं कही जा सकती।

(४) आधुनिक भाषाविज्ञान के आधार पर व्याख्या—यह पद्धति अधिकतम सन्तोषप्रद है। किसी भी शब्द के विभिन्न-स्थानों के अर्थों की तुलना की जाती है और यदि सम्भव हुआ तो भारत-यूरोपीय-भाषा के अन्य वर्गों में उस शब्द की सत्ता किसी भी रूप मे खोजी जाती है। तदनन्तर सम्भाव्य अर्थ परिवर्तन की पूर्ण परीक्षा करके किसी शब्द का तात्कालिक अर्थ निकाला जाता है। टीकाकार भी पर्याप्त सहायक होते हैं। जैसे—'दमः' शब्द ऋग्वेद मे आता है, लैटिन मे ऐसा ही 'दोमस्' (domus) शब्द है, दोनों का अर्थ 'घर' है। सायण मे भी यही अर्थ दिया है। इस प्रणाली के प्रथम प्रवर्तक हैं रॉथ जिन्होंने संस्कृत-जर्मन महाकोष (Petersburg worterbuch) का निर्माण अपने सहकर्मी बोटलिङ्क के साथ किया। आधुनिक अनुसन्धानों से वेदों के अर्थ पर काफी प्रकाश पड़ता है। ग्रासमैन और गेल्डनर ने जर्मन-भाषा मे समूचे ऋग्वेद का अनुवाद किया है जिसमे इन सभी अनुसन्धानो का पूर्ण उपयोग किया है। इतना होते हुए भी यह रीति अभी अधूरे अनुसन्धानों के कारण अपूर्ण है। जब तक सभी वैदिक-ग्रन्थ न मिल जायँ, भारतीय-परम्परा का सम्यक् ज्ञान न हो जाय, विभिन्न-ग्रन्थों में बिखरे वेदार्थ का आलोचनात्मक अध्ययन नहीं किया जाय, केवल भाषाशास्त्र के आधार पर वेदार्थ करना भूल है। यह कार्य एक व्यक्ति का नहीं, व्यक्ति-समूह का है।

आधुनिक-अर्थ विशेषतया यौगिक-अर्थ का प्रतिपादक है जब कि परम्परा हमे रूढ अर्थ की ओर ले जाती है। पं० रामगोविन्द त्रिवेदी ने 'रूढियोगाद्

बलीयसी' भले ही कह दिया हो परन्तु वैदिक युग मे शब्दो का जो अर्थ था उसकी प्राप्ति के लिए परम्परा कुछ दूर तक ही सफल हो सकती है पूर्णतया नही। कारण यह है कि वैदिक युग से वेदार्थ करनेवालो के युग मे बहुत अन्तर पड जाता है। यास्क ने भी व्याख्या तब आरम्भ की है जब लोग वेदार्थ भूलने लगे हैं। फिर यास्क ने समूची वैदिक-संहिता की व्याख्या नही की है किन्तु जहाँ तक की है, परीक्षा मे उतना अश प्रायः खरा उतरता है। इस दृष्टि से यास्क वेदार्थ के प्रथम प्रकाशक हैं। अर्थ मे विभिन्न-मतो का होना स्वाभाविक है। हम साधारण-सी बात बोलते हैं उसीका कितने लोग तरह-तरह का अर्थ समझ लेते हैं। 'चत्वारि श्रृङ्गा०' की व्याख्यायें ही विभिन्न-प्रकार की दी हुई हैं—याज्ञिक अर्थ (सायण), व्याकरण का अर्थ (पतञ्जलि) साहित्यिक अर्थ (राजशेखर) और सूर्य का अर्थ (तैत्तिरीय ब्राह्मण)। यह वैसा ही है जैसे ब्रह्मसूत्र के कर्त्ता को एक ही अर्थ अभीष्ट था, अपने पूर्वाग्रह से खींचतान करके लोगो ने द्वैतवाद, अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैत आदि विभिन्न-मत चलाये।

कुछ भी हो वेदार्थ मे निरुक्त का अपना स्थान है, प्राचीनता और वैज्ञानिकता होने के कारण इसकी उपेक्षा नही की जा सकती। वेद-व्याख्या की शैली भी हमे यास्क ने दी है। ऋचाओ मे जिस क्रम से शब्द हैं उसी क्रम से ये उनका अर्थ देते जाते हैं, वाक्य-विन्यास (Syntax) की चिन्ता नही करते। इसके आधार पर भाषाशास्त्र की एक अछूती शाखा वाक्य-विन्यास (syntax) पर अध्ययन किया जा सकता है। यह शैली पिछले युग मे सर्वमान्य रही किन्तु उसमें मूल शब्द भी अन्वय के साथ लिखे जाने लगे। यास्क का एक उदाहरण लें—

तत्सूर्यस्य देवत्व तन्महित्वं मध्या कर्तोर्विततं स जभार।
यदेदयुक्त हरित सधस्थादाद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै॥

व्याख्या—तत्सूर्यस्य देवत्व, तत् महित्व, मध्ये यत् कर्मणा (= कर्तोः) क्रियमाणाना वितत संह्रियते। यदासौ अयुक्त हरणान् आदित्यरश्मीन्; हरित —अश्वान् इति वा, अथ रात्री वासस्तनुते सिमस्मै। अपि वा, उपमार्थे स्यात्—रात्रीव वासः तनुते इति (४।११)।

षष्ठ परिच्छेद

निरुक्त और व्याकरण

[निरुक्त और व्याकरण में सम्बन्ध—व्याकरण की प्राचीनता—व्याकरण का सम्प्रदाय—निरुक्तमें व्याकरण के शब्द—पतञ्जलि और निरुक्त—उपसर्ग की वाचकता और द्योतकता का प्रश्न—प्रो० राजवाड़े के निरीक्षण—निष्कर्ष।]

यास्क ने निरुक्त को कहा है कि यह विद्यास्थान है, व्याकरण का पूरक है।[1] वेदों के समुचित अध्ययन के लिए भी दोनों की समान आवश्यकता है क्योंकि दोनों वेदाङ्ग हैं। इस साहचर्य के कारण उनमें घनिष्ठ सम्बन्ध का होना अनिवार्य है। वे एक दूसरे के पूरक हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे साङ्ख्य और योग, आगमन और निगमन तर्कशास्त्र।

व्याकरण शब्दों की शुद्धाशुद्धि का विचार करता है और शब्द रचना के लिये *प्रकृति-प्रत्यय का विभाजन करता है जैसा कि तैत्तिरीय-ब्राह्मण* के इस वाक्य से मालूम होता है—'वाग्वै पराची अव्याकृता अवदन् ते देवा इन्द्रमब्रुवन्—इमां नो वाच व्याकुर्विति''' '' तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्। तस्मादियं व्याकृता वागुद्यते' (तै० सं० ६।४।७।३)। पुनः शब्दों के भेद, लिङ्ग, वचन, कारक आदि का विचार भी व्याकरण ही करता है। ये सभी शब्द के बहिरङ्ग हैं। पतञ्जलि ने व्याकरण के प्रयोजनों में शब्दानुशासन, वेदों की रक्षा, ऊह (विचार) आगम (वेदाध्ययन), शब्दाधिकार में लघुता और असन्देह को मुख्य माना है। साधारणतः निरुक्त के भी ऐसे ही काम हैं किन्तु वह एक डेग और आगे बढ़कर अर्थानुशासन भी करता है। व्याकरण जब शब्दों की शुद्धता की जाँच शिष्ट प्रयोग (निपातनों में) और प्रकृति प्रत्यय के द्वारा कर लेता है तब निरुक्त ही उसके अर्थ की ओर सङ्केत करता है। भाषा में शब्द यदि बहिरङ्ग है तो अर्थ अन्तरङ्ग। निरुक्त सभी शब्दों में धातु की कल्पना करके मूल से लेकर वर्तमान अर्थ तक को ढूंढने की चेष्टा करता है। चूंकि शब्द और अर्थ में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है इसलिए व्याकरण और निरुक्त भी परस्पर आश्रित हैं।

---

१. तदिदं विद्यास्थानं, व्याकरणस्य कार्त्स्न्यं (नि० १।१५)।

व्याकरण अपनी प्रकृति की शुद्धता और अर्थ की जाँच के लिए निरुक्त पर निर्भर करता है। सच यह है कि अर्थ का ज्ञान निरुक्त के बिना नहीं हो सकता। धातुपाठ के सभी अर्थ निरुक्त की ही कृपा से हैं। दूसरी ओर निरुक्त उन धातुओ के लिए व्याकरण की ही सहायता लेता है परन्तु प्रत्ययो की आवश्यकता इसे नहीं। वैसे कहीं-कहीं स्पष्टीकरण के लिए दे दें, यह दूसरी बात है। इतना होने पर भी निरुक्तकार यास्क व्याकरण को सर्वस्व नहीं मान लेते जैसा कि वे कहते हैं—'न संस्कारमाद्रियेत। विशयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति' (२।१)। व्याकरण के रूप बडे संशयात्मक होते हैं इसलिए कई स्थानो पर उन्होने व्याकरण के धातुओं का उल्लघन किया है। यह हम ऊपर दिखा चुके हैं।

यास्क के समय वैयाकरणो का एक पुष्ट सम्प्रदाय था—यह उनके उद्धरणो से स्पष्ट होता है। निरुक्तकार स्वय भी कई वैयाकरणो के नाम देते हैं जैसे—शाकटायन, गार्ग्य, गालव, शाकल्य। इनके नाम पाणिनि ने भी अष्टाध्यायी मे दिये हैं। यदि वे दूसरे व्यक्ति नहीं हैं तो सचमुच ये आचार्य अत्यन्त प्राचीन हैं।[1] इन सभी वैयाकरणों तथा अन्य आचार्यों का पूरा उपयोग निरुक्त मे किया गया है। इनके पारिभाषिक—शब्द निरुक्त मे प्रचुरता से मिलते हैं। कुछ शब्द तो प्रातिशाख्यो (शिक्षाग्रन्थो) से भी लिये गये हैं जैसे—संहिता, स्वर आदि। पाणिनि ने यास्क के कुछ शब्दो को परिवर्तन के साथ दिया है—

	यास्क	पाणिनि
प्रेरणार्थक ...	कारित	णिजन्त
क्रियासमभिहार ...	चर्करीत	यङ्लुगन्त
इच्छार्थक ...	चिकीर्षित	सन्नन्त

इन शब्दावलियो से स्पष्ट होता है कि यास्क ने नाम रखने के लिए √कृ के रूप को ही उपलक्षण मानकर उसका भूतकाल कर दिया है (कारित), इसी शैली में व्याकरण ने 'कृत्' और 'कृत्य'—जैसे शब्दो को स्वीकार किया है जो उपलक्षण का ही उदाहरण है। किन्तु पाणिनि-व्याकरण मे प्रत्यय की कल्पना करके उसके आधार पर नाम रखने की प्रणाली है जैसे तिङन्त, सन्नन्त। यह विकासावस्था का द्योतक है।

व्याकरण के पद-भेद यास्क ने भी लिये हैं—नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। पीछे चलकर पाणिनि केवल दो ही भेद रखते हैं—सुबन्त और

१. देखिये—युधिष्ठिर मीमांसक, व्याकरण शास्त्र का इतिहास।

तिङन्त । निरुक्त मे व्याकरण के पारिभाषिक शब्द बहुत-से पड़े हुए हैं जिन पर स्वतंत्र-रूप से अलग अलग विचार करना एक ग्रन्थ का विषय है।[1] व्याकरण के कुछ शब्दों का तो उन्होने निर्वचन तक दिया है जिससे डा० बेलवलकर—जैसे कुछ विद्वान् निष्कर्ष निकालते हैं कि इन शब्दो को वे पारिभाषिक नही मानते होगे जैसे 'सर्वनाम' का निर्वचन है 'सर्वाणि नामानि यस्य, सर्वेषु भूतेषु नमति = गच्छति वा', किन्तु निर्वचन की धुन तो यास्क मे है ही । 'निपात' को भी तो वे 'उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति' कहते हैं। फिर चार पद भेद कहने का क्या अभिप्राय है ? यदि सर्वनाम को पारिभाषिक-शब्द नही मानते तो 'त्व इति सर्वनाम अनुदात्तम्' क्यों कहते ! यह स्थान स्पष्ट करता है कि सर्वनाम कुछ खास शब्दों का संग्रह है जैसा पाणिनि भी मानते हैं ।

जिस प्रकार यास्क ने व्याकरण की शब्दावली का प्रयोग किया है उसी प्रकार पतञ्जलि ने भी महाभाष्य मे निरुक्त के मसाले का खुलकर उपयोग किया है और कई स्थानों पर उनके वाक्य ज्यों-के-त्यो उद्धृत किये हैं । कुछ उदाहरण लें—

---

१. मेरे पूज्य गुरु प्रसिद्ध वेदज्ञ डा० तारापद चौधुरी, एम० ए०, पी० एच० डी० (लन्दन) *निरुक्त में व्याकरण के शब्दों पर गवेषणा* (Research) कर रहे थे, *किन्तु* उनके असामयिक निधन (दीवाली, अक्टूबर ३१, १९५९) से यह कार्य अधूरा रह गया । उन्होंने मुझे अपनी शब्दावली की तालिका दी थी। आशा है इसमे निरुक्त के शब्दों पर काफी प्रकाश पड़ेगा और *इस विषय पर गवेषणा की प्रवृत्ति बढ़ेगी*—

पदजात, नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात, भाव, सत्त्व, वचन, कर्मोपसंग्रह, उपबन्ध, पञ्चमी, द्वितीया, चतुर्थी, प्रथमा, (एक स्थान पर क्रम से भी विभक्तियाँ दी हुई हैं), *सर्वनाम, अनुदात्त, अर्धनाम,* द्रुहन्यय, अनुदात्त प्रकृति, पदप्रकृति, बहुवचन, स्वार, संस्कार, कारित, कृत, नामकरण, अवग्रह, संहिता, धातुवृत्ति, उपसद, प्रादेशिक-विकार, अक्षर, वर्ण, विभक्ति, निवृत्तिस्थान, उपधा, व्यापत्ति, वर्णोपजन, स्वर, अन्तस्थ, *द्विप्रकृति,* प्रकृति, *विकृति,* तद्धित, समास, एकपर्व, अनेकपर्व, तद्धित, पूर्वा प्रकृति, वर्णलोप, पुरा संख्या (?), अभ्यस्त, निष्ठोपध, अन्वादेश, प्रथमादेश, अनवगत संस्कार, निगम, वाक्य, चिकीर्षित, निर्दिश्निपसर्ग, लुप्तविकरण, प्रथम-मध्यम-उत्तम-पुरुष, *अन्तस्थान्तरूपलिङ्गी- विभाषित, गुण, आदिलुप्त, अभ्यास, आम, तस्मै हितम्,* तेन संसृष्टम्, तस्यापत्यम् ।

इस बृहत् तालिका से स्पष्ट होता है कि निरुक्त व्याकरण का कितना ऋणी है। इन शब्दों के इतिहास पर या निरुक्त में आने के स्रोत पर या इनकी उपयोगिता पर अच्छा अनुसंधान हो सकता है ।

(१) निरुक्त १।२ — महाभाष्य — षड्भावविकारा भवन्ति इत्याह
भगवान् वार्ष्यायणिः ।
(२) „ १।९ — „ — उतत्व. पश्यन्न०
(३) „ १।१२— „ — नाम खल्वपि धातुजम् —एवमाहुर्नैरुक्ता ० ।
(४) „ २।२ — „ — भवतिर्गति कर्मा कम्बोजेष्वेव भाषितो भवति ।
(५) „ ४।१०— „ — सक्तुमिव तितउना पुनन्तो० ।
(६) „ १३।७— „ — चत्वारि शृङ्गा त्रयो० ।
(७) „ १३।९— „ — चत्वारि वाक्परिमिता पदानि ।

अतएव निरुक्त और व्याकरण में घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है । दोनों एक दूसरे के पूरक हैं । निरुक्त का सर्व प्रथम उल्लेख अपने वर्तमान अर्थ में छान्दोग्योपनिषद् (सप्तम अध्याय) में मिलता है तथा छ वेदाङ्गों के नाम हमें मुण्डकोपनिषद् (१।५) में मिलते हैं । फिर भी कालक्रम की दृष्टि से व्याकरण निरुक्त की अपेक्षा प्राचीनतर है क्योंकि निरुक्त की व्युत्पत्तियों का स्रोत व्याकरण ही है जिसकी पूर्वस्थिति आवश्यक है । स्फोटवाद और क्रिया के छः विकारों का विवेचन हम कर ही चुके हैं[1]—इन्हें भी यास्क ने—वैयाकरणों से ही लिया था ।

उपसर्गों के विषय में भी दो पक्षों—शाकटायन और गार्ग्य—का समन्वय यास्क ने अच्छी तरह किया है । शाकटायन का मत है कि उपसर्ग का अकेले कोई अर्थ नहीं (अर्थात् ये वाचक नहीं हैं), वे केवल चिह्नमात्र हैं तथा क्रिया और संज्ञा में जुटकर उन्हीं के छिपे हुए अर्थ का प्रकाशन कर देते हैं । दूसरी ओर गार्ग्य का मत है कि उपसर्ग वाचक हैं, अपना अर्थ रखते हैं तथा संज्ञा या क्रिया से मिलकर उनके अर्थ में विकार ला देते हैं । यास्क शाकटायन के मत का उल्लेख करके गार्ग्य के पक्ष में भी उपसर्गों का अर्थ देते हैं, किस प्रकार का परिवर्तन कौन उपसर्ग करता है ।[2]

प्रो० राजवाडे ने यास्क की व्याकरण-सम्बन्धी दो सावधानियों का निरीक्षण किया है । यास्क ने समुच्चय (Conjunction) 'च' के विषय में लिखा

१. भूमिका का परिच्छेद ३ (क) ।
२. विशेष विवरण के लिए देखें—डा० कपिलदेव द्विवेदी आचार्य, अर्थविज्ञान और व्याकरणदर्शन ।

है 'उभाभ्यां सम्प्रयुज्यते' अर्थात् यह दोनों जुड़े हुए शब्दों के बाद आता है। वे इस नियम का पूर्ण रूप से पालन करते हैं जैसे—चर्म च श्लेष्मा च (२।५), स्नाव च श्लेष्मा च (२।५), विचिकित्सार्थीय च पदपूरण च (१।५)। दूसरे, पाणिनि के अन्वादेश[1] का पालन करने में भी यास्क सावधान मालूम पड़ते हैं—'प्रथनात् पृथिवीत्याहुः, क एनामप्रथयिष्यत्? (१।१३) आस्यम् अस्यते, आस्यन्दते एनत् अन्नम् (२।९) इत्यादि।[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि निरुक्त व्याकरण का पूरक तो है ही, साथ ही साथ व्याकरण के नियम भी इसमें समुचित स्थान पाते हैं। वस्तुतः दोनों सापेक्ष हैं, निरपेक्ष नहीं।[3]

---

१ अन्वादेश—'एतद्' शब्द की कुछ विभक्तियों में तकार के स्थान पर नकार हो जाता है। यह तब होता है जब उस अर्थ का उल्लेख पहले भी हो चुका हो जैसे—अनेन व्याकरणमधीतम्, एनं छन्दोऽध्यापय। देखिये सिद्धान्तकौमुदी—एक कार्य विधातुमुपात्तस्य कार्यान्तर विधातुं पुनरुपादानम् अन्वादेशः।

२ Rajvade, Yāska's Nirukta LII

३ निरुक्त में व्याकरण शास्त्रीय पदों के अध्ययन के लिए लेखक एक शोध-निबन्ध विश्व विश्रुत सोसायटी पत्रिका के लिए Grammatical Speculations of Yāska नाम से लिख रहा है जो शीघ्र ही प्रकाशित होगा।

सप्तम परिच्छेद

निरुक्त और भाषाविज्ञान

[भाषा-विज्ञान की नींव—इसकी शाखायें—यास्क का युग—भाषायें और उपभाषायें—भाषा की उत्पत्ति—मनुष्य ही भाषा का उत्पादक—धातु-सिद्धान्त—यास्क का सिद्धान्त और मनोविज्ञान—ध्वनि-विज्ञान—स्वरों के क्रम (Grades)—सम्प्रसारण—ध्वनि-परिवर्तन—इसकी विभिन्न दिशायें—रूप-विज्ञान—सम्बन्ध-तत्त्व और अर्थ-तत्त्व—पदों के भेद—संज्ञा और क्रिया में सम्बन्ध-तत्त्व—शब्द की रचना—कृदन्त—तद्धित—समास—अर्थ-विज्ञान—निरुक्त का आधार—अर्थ-परिवर्तन—वस्तुओं का नाम पड़ने का कारण—अर्थ-परिवर्तन के कारण—सादृश्य—तद्धित-प्रयोग—अर्थादेश—वाक्य-विज्ञान—यास्क के वाक्यों की विशेषतायें—निर्वचन—भाषा का विकास ।]

हमारी समस्त क्रियाओं की भित्ति भाषा पर ही आधारित है जिसका साङ्गोपाङ्ग विवेचन करना भाषाविज्ञान का काम है। यद्यपि यूरोपीय-विद्वानों के मस्तिष्क से ही इसे आधुनिक-रूप मिला किन्तु यह कोई नवीन विज्ञान नहीं। हजारों वर्ष पूर्व ही इसकी नींव भारत और यूनान में पड़ चुकी थी। इसे आधुनिक-रूप में लाने का श्रेय भी संस्कृत-भाषा को ही है। सामान्य-भाषाविज्ञान का कोई भी ग्रंथ, चाहे वह सिद्धान्तों की विवेचना करे या इस विज्ञान के इतिहास का वर्णन करे, यास्क और पाणिनि के नामोल्लेख के बिना अपूर्ण ही रहेगा। इन दोनों के अध्ययनों से ही यूरोपीय-विद्वानों ने भाषा-विज्ञान के सिद्धान्तों की विवेचना करने की शैली पाई और अधिकांश वस्तुएँ भी उन्हें इनमें मिल गईं।

भाषा-विज्ञान अपनी विश्लेषणात्मक-शक्ति के कारण विभिन्न शाखाओं में बँटा है जिनमें स्वतन्त्र-रूप से भिन्न-भिन्न विषयों का अध्ययन किया जाता है। इसकी मुख्य शाखायें ये हैं—(१) ध्वनि-विज्ञान (Phonology) जिसमें ध्वनि की उत्पत्ति, श्रोता-वक्ता-सम्बन्ध, ध्वनि-विकास, ध्वनि-परिवर्तन आदि विषय आते हैं, (२) रूप-विज्ञान (Morphology) जिसमें शब्दों के भेद, उनके विकार, रूप-परिवर्तन, समास की रचना आदि विषयों का विचार

होता है, (३) अर्थविज्ञान (Semantics) जिसमे शब्दो के अर्थ, अर्थ-परिवर्तन और इसकी दिशायें, उनके कारण आदि विषयो का अध्ययन किया जाता है, (४) वाक्य-विज्ञान (Syntax) जिसमे किसी वाक्य मे शब्दो का स्थान-निर्धारण करके विभिन्न-स्थान होने से अर्थभेद आदि का विचार होता है। शब्दो का सम्बन्ध-तत्त्व किस प्रकार एक दूसरे से जुडता है इसका अध्ययन करना वाक्यविज्ञान का ही काम है। इन मुख्य शाखाओ से भी कई शाखायें निकली हैं जैसे (५) निर्वचन शास्त्र (Etymology) जिसमे शब्दो की उत्पत्ति और इतिहास का पता लगाते हैं। हम आगे यास्क के निरुक्त को भाषाविज्ञान की इन शाखाओ की कसौटी पर कस कर देखेंगे कि आधुनिक-अनुसन्धानों और यास्क के तात्कालिक ज्ञान मे क्या अन्तर है तथा यास्क ने भाषाविज्ञान के विकास मे क्या सहयोग दिया है।

यास्क के युगपर दृष्टिपात करने पर हमे पता लगता है कि उनके समक्ष केवल दो ही भाषायें थी और वे भी एक ही परिवार की। वे हैं—वैदिक-भाषा और लौकिक-भाषा। पहली भाषा का केवल साहित्य वर्तमान था और दूसरी बोलचाल की भाषा थी। पहली को वे बहुधा 'निगम', 'छन्द', 'ऋक्' आदि नाम से पुकारते हैं तथा दूसरी को 'भाषा' ही कहते हैं। दोनो के पर्याप्त अध्ययन से यास्क मे ऐसी शक्ति आ गई है कि वे शब्दों के विषय मे अनुसन्धान कर सकें। भाषा-विज्ञान ने वैदिक-भाषा की भी उत्पत्ति मू० भा० यू० भाषा से मानी है किन्तु भौगोलिक और अन्यान्य कारणो से वहाँ तक पहुँचना यास्क के लिए उस युग मे असम्भव था इसलिए वे वैदिक-भाषा तक ही बढ सके जिसे वे लौकिक भाषा का उद्गम-स्थान मानते हैं।[1] और तो और, अपने प्रदेश मे ही सर्वत्र घूम-घूमकर उपभाषाओ की विभिन्नता का अध्ययन करना कठिन था। ऐसी स्थिति में यास्क ने अपने समक्ष विद्यमान भाषाओं को लेकर ही भाषा-विज्ञान का अनुसन्धान आरम्भ किया है।

यह भी सत्य है कि उस समय उपभाषायें पर्याप्त थी क्योंकि ब्राह्मण-ग्रन्थो मे प्राच्य, उदीच्य आदि बोलियों के उल्लेख मिलते हैं।[2] यास्क ने भी उपभाषाओ का उल्लेख किया है। अनुमान किया जाता है कि यह सूचना या तो यास्क को यात्रियो से मिली होगी या परम्परा से प्राप्त हुई होगी,

---

१. देखिये—अर्थवन्तः शब्दसामान्यात्।

२. Vide, Dr sunita Kumar Chatterjee, *Indo-Aryan and Hindi*, Old Indo-Aryan.

ऐसी अवस्था मे ये उस समय नही बोली जाती होंगी। आर्य, कम्बोज, उदीच्य और प्राच्य देश की उपभाषाओ मे और कुछ अन्तर नही, केवल दो धातुओ और संज्ञाओं का ही—यह आश्चर्य प्रतीत होता है। फिर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि यास्क अपनी अल्प सूचना पर भी कितना ध्यान रखते हैं और उसे उचित स्थान देकर भाषाशास्त्री का कर्तव्य पूरा करते हैं। पाणिनि[1] और पतञ्जलि को उपभाषाओ के विषय मे काफी सूचना मिली मालूम पड़ती है क्योकि वे भारत के तात्कालिक भूगोल का अधिक ध्यान रखते हैं। युग की सीमायें देखकर ही हमें यास्क के सम्बन्ध मे कुछ कहने का अधिकार है।

अपना मूल अध्ययन आरम्भ करने के पूर्व भाषाविज्ञान के एक बड़े महत्त्वपूर्ण प्रश्न—भाषा की उत्पत्ति—पर विचार कर लेना सामयिक प्रतीत होता है। वस्तुतः यह प्रश्न आरम्भ से ही विद्वानो को परीशान करता आ रहा है कि भाषा की उत्पत्ति कैसे हुई। विभिन्न लोगों ने अपनी-अपनी समझ के अनुसार इसके अलग-अलग समाधान दिये है। कुछ लोग भाषा को ईश्वर-कृत मानते हैं कुछ लोग वस्तुओ के प्रत्यक्षीकरण के समय की ध्वनि से, कुछ वस्तुओ के ही द्वारा की गई ध्वनि और कुछ लोग विकासवाद से भाषा की उत्पत्ति मानते हैं।[2] प्राचीन भारत और यूनान मे ईश्वर को ही भाषा का स्रोत माना जाता था कि ईश्वर ने ही भाषा बनाकर हमे दी है। संस्कृत का पर्याय शब्द 'देवभाषा' इसी धारणा का द्योतक है। यास्क ने भी इस प्रश्न पर विचार किया है किन्तु स्पष्टतया अपने मत का उल्लेख नही किया क्योंकि अपने मन की पूर्व-कल्पना लेकर ही उन्होंने निरुक्त का आरम्भ किया है। इसका तात्पर्य है कि वे पाठकों से आशा रखते हैं कि यास्क का अपना सिद्धान्त क्या है, इससे अभिज्ञ हैं। जहाँ-तहाँ बिखरे हुए उनके वाक्यों को देखकर ही उनके सिद्धान्त का हम अनुमान कर सकते हैं। निरुक्त (१।२) मे वे कहते हैं—अणीयस्त्वाच्च शब्देन संज्ञाकरणं व्यवहारार्थं लोके। तेषां मनुष्यवद्देवताभिधानम्।' इसका अभिप्राय यह है कि वस्तुओ का नाम संसार मे व्यवहार के लिए रखा गया है क्योंकि वस्तुओं को पहचानने या

---

१. पाणिनि पर डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने अत्युत्तम ग्रन्थ प्रस्तुत किया है—'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' जिसमें पाणिनि का सांस्कृतिक अध्ययन किया गया है। इसी की रूपरेखा का ग्रन्थ पतञ्जलि पर डा० बैजनाथ पुरी ने लिखा है।

२ Cf Divine Theory, Bow bow Theory, Pooh pooh Theory, Ding-dong theory, Ye-ho-he Theory, Evolution Theory etc Vide—Taraporewala, *Elements of the Sicence of Language.*

बतलाने की अन्य प्रणालियाँ (जैसे संकेत करना, वस्तु को ही सामने रख देना आदि) बहुत ही कष्टसाध्य हैं, शब्द ही सरलता से वस्तुओं का द्योतन कर सकते हैं इसलिए शब्द के द्वारा ही उनका नाम सुविधा के लिये रखा जाता है।[1] वस्तुओं के जो नाम मनुष्यों में रखे जाते हैं, देवता भी उन शब्दों से ही तत्सम्बद्ध वस्तुओं को समझ लेते हैं। इससे इतना तो स्पष्ट है कि वे दैवी भाषा (ईश्वर द्वारा बनाई गई भाषा) में विश्वास नहीं करते। भाषा का उत्पादक मनुष्य ही है। इस सम्बन्ध में यह ध्यान देने की बात है कि 'देवभाषा' शब्द की व्याख्या उन्होंने अच्छी तरह कर दी है। यदि भाषा का उत्पादक मनुष्य ही है, उसे बोलने वाला भी मनुष्य ही है तो संस्कृत को 'देवभाषा' क्यों कहते हैं? इस प्रश्न का समाधान यह है कि इसी भाषा में देवता भी अर्थ समझते हैं, मनुष्यों की प्रार्थना पर ध्यान देते हैं इसलिए इसे देवभाषा कहने में अत्युक्ति नहीं।

किन्तु यास्क के वाक्यों से यह पता चलता है कि वे किसी भाषाविशेष को ही देवताओं की बोधगम्य भाषा नहीं कहते। सामान्यरूप से शब्द' मात्र को उन्होंने ऐसा कहा है। फिर भी यह अनुमान किया जा सकता है कि यास्क के सामने एक ही भाषा—संस्कृत-भाषा या लौकिक भाषा—होने के कारण उनका लक्ष्य एकमात्र इसी पर है। दूसरे, बाद में 'कर्मसम्पत्ति मन्त्रो वेदे' कहकर भी इसी का निर्देश वे करते हैं क्योंकि वेद में भी इसी भाषा का प्रयोग है। वस्तुतः यह स्थान यास्क के समन्वय का परिचायक है जहाँ उन्होंने मनुष्य कृत भाषा मानकर भी 'देवभाषा' की संगति बैठाई है।

इतना ही नहीं शब्द के धातुज-सिद्धान्त का विचार करते समय भी कुछ पंक्तियाँ वे रख जाते हैं जिनसे शब्दोत्पत्ति पर प्रकाश पड़ता है। निरुक्त (१।१४) में कहा है—'भवन्ति हि निष्पन्नेऽभिव्याहारे योगपरीष्टि' अर्थात् किसी शब्द के बोलचाल में प्रचलित हो जाने पर ही उसकी व्युत्पत्ति देखी जाती है कि इस वस्तु का यह नाम क्यों पड़ा। 'पृथिवी' की उत्पत्ति में चाहे √प्रथ् (फैलना) का ध्यान न हो किन्तु उसी से सम्बद्ध 'पृथु' (फैला हुआ) शब्द तो है जिससे इसकी उत्पत्ति हो सकती है? क्रियायें ही शब्दों को उत्पन्न करती हैं अर्थात् कोई शब्द किसी क्रिया से पहले सम्बद्ध होना

---

१. तुलना करें—दण्डी का काव्यादर्श (१।४)—
इदमन्धन्तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते॥

है, भले ही लक्षणा, रूपक आदि कारणो से उनके अर्थ की विकृति हो जाय। निष्कर्ष यही निकलता है कि वे मनुष्य के द्वारा की जाने वाली क्रियाओ से ही शब्दो का सम्बन्ध मानते हैं। धातुओं पर विचार करते हुए मैक्समूलर ने कहा है[1] कि इन धातुओ की तीन विशेषतायें हैं—(१) इनमे निश्चित ध्वनि होती है जो भाषा के ध्वनि-नियमो के अनुसार बदलती है, (२) प्रायः इन सबो मे ही मनुष्य के द्वारा की जाने वाली किसी क्रिया का अर्थ छिपा हुआ रहता है, (३) ये विचारो को व्यक्त करते हैं, वस्तुओ के मानसिक-संस्कार को नही।

यास्क का इस सम्बन्ध मे अपना मत आधुनिक-भाषाविज्ञान की दृष्टि से सन्तोषजनक नही है क्योंकि इस सिद्धान्त मे ध्वनि से अर्थ का कोई सम्बन्ध नही दिखलाया गया है। यास्क की व्याख्या मनोविज्ञान की ओर सकेत करती है जैसा कि स्टाउट का कहना है—प्रत्यक्षीकरण बहुधा शारीरिक-गतियों से जुडा रहता है। इस प्रत्यक्षीकरण के बाद इच्छाओ की पूर्ति के लिये शरीर में चेष्टायें होती हैं और वे ही चेष्टायें उन वस्तुओ से जुड जाती हैं अर्थात् उन वस्तुओं को देखकर शरीर मे पुन वैसी ही गति उत्पन्न होती है। इसी क्रम से मनुष्य की ध्वनि भी उत्पन्न होकर (चूँकि यह भी एक शारीरिक चेष्टा ही है) वस्तुओं से सम्बद्ध हो जाती है।[2] इस प्रकार भाषा उत्पन्न होती है। यास्क भी मनुष्य की क्रियाओ से ही शब्दो की उत्पत्ति मानते हैं परन्तु उचित साधनों के अभाव मे उनसे आगे न बढ सके। तथापि उनकी देन भाषाविज्ञान के इतिहास मे बहुत महत्वपूर्ण है।

अब हम क्रमशः भाषाविज्ञान की शाखाओ पर निरुक्त रूपी फल की सगति बैठायें। यद्यपि निर्वचन के सिलसिले मे बहुत कुछ कहा जा चुका है किन्तु उन पर पृथक्-रूप से विचार करना अयुक्त न होगा।

(१) ध्वनिविज्ञान—शिक्षाग्रन्थो मे अक्षरों के क्रम, उच्चारण आदि का बहुत सुन्दर वर्णन किया गया है,[3] यास्क ने अनावश्यक समझ कर इन बातो का उल्लेख भी नहीं किया है किन्तु ध्वनि के कुछ सिद्धान्तों को इन्होंने प्रातिशाख्यों से भी आगे बढ़कर दिया है। ध्वनिविज्ञान की शाखाओं मे यास्क के निरीक्षण अत्यन्त तथ्यपूर्ण हैं और आधुनिक-अनुसन्धानों के अनुकूल हैं।

---

१. *Three Lectures on Science of Language*, p. २९.
२. Stout, *Manual of Psychology*, Book II, Chap 5
३ Vide, Allen, *Phonetics in Ancient India*.

(क) स्वरविकार (अपश्रुति *Ablaut*) के जितने भी रूप संस्कृत-भाषा में उपलब्ध हैं सभी का परिचय यास्क को है। हम यह जानते हैं कि संस्कृत भाषा में केवल परिमाणात्मक (Quantitative) स्वरविकार होता है। एक ही स्थान से उच्चरित होने वाले स्वरों में पारस्परिक परिवर्तन होता है जो उच्चारण-काल के आधार पर निश्चित होता है। ये विकार हैं—गुण, वृद्धि और सम्प्रसारण। यहाँ हम गुण और वृद्धि का निदर्शन करते हैं—

प्रथम	क्रम (grade)	इ	उ	ऋ
द्वितीय	क्रम (grade)	ए	ओ	अर्
तृतीय	क्रम (grade)	ऐ	औ	आर्

इनमें प्रथम क्रम को मूल-स्वर मू० भा० यू० भाषा का ह्रसित-क्रम ('reduced' *grade or* 'Vollstufe') कहते हैं। द्वितीय-क्रम पाणिनि का 'गुण' है जिसे मू० भा० यू० का सामान्य क्रम ('Normal' grade) कहते हैं। तृतीय-क्रम पाणिनि की 'वृद्धि' है (Lengthened grade)। यास्क स्वर के इन सभी विकारों से परिचित हैं भले ही उनका नाम न दें। वि = पक्षी जिसका निर्वचन है 'वेतेः गतिकर्मणः' अर्थात् वि < वेति। यही नहीं एक जगह वे गुण का नाम भी लेते हैं—'शेव' इति सुखनाम। शिष्यते। वकारः नामकरण। अन्तस्थान्तरोपलिङ्गी गुणः (१०।१७)। इसमें √शिष् में 'शेष' हो जाना गुण के कारण कहते हैं। इसी प्रकार वृद्धि का क्रम रखा है—वैश्वानरः कस्मात् ? विश्वान् नरान् नयति (७।२१) जिसमें विश्व से 'वैश्व'—बनाया गया है। इसके बाद (७।२३ म) तो वृद्धि से बने शब्दों की भरमार ही कर दी है और यह भी स्पष्ट है कि उनके पारस्परिक सम्बन्ध को वे जानते भी थे। देखें—वैद्युत- (<विद्युत्-), औत्तमिकानि (<उत्तम-) भागानि (<भग-)[१] सावित्राणि (<सवितृ-), पौष्णानि (<पूषन्-), वैष्णवानि (<विष्णु-), आग्नेयेषु (<अग्नि-), आदित्य (<अदिति-) इत्यादि। उकार के क्रमों का तो यास्क ने एक स्थान पर ही प्रयोग किया है (१०।१५)—अभिष्टौमि, स्तुत्या स्तोमैः—इनमें क्रमशः वृद्धि, मूल और गुण विकार के स्वर हैं। फिर—'दन, रौति

१. वृद्धिरादैच् (पा० सू० १।१।१)—आकार भी वृद्धि ही है यद्यपि भाषाविज्ञान इसे दूसरे ढङ्ग से देखता है।

इति सत, रोरूयमाण.[1] द्रवनि इति वा—यहाँ भी मूल वृद्धि और गुण-विकार के स्वर हैं। ऋकार के कमो का भी कई जगह निदर्शन है जैसे—प्रत्युतः सर्वाणि भूतानि। तस्य वैश्वानरः (७।२१) अर्थात् •√ऋ से 'अर' (विश्वन्+अर) बना है। पुनः 'वृषभस्य = वर्षितु' (७।२३), वर्णो वृणोते. (२।३)—ये गुण-विकार हैं। 'आर्ष्टिषेणः ऋष्टिषेणस्य पुत्र' (२।११)—ऋ का आर् (वृद्धि का विकार है)।

(ख) सम्प्रसारण की विधि से भी यास्क पूर्ण परिचित हैं। य, व, र जैसे अर्धस्वरो के स्थान मे इ, उ, ऋ, होना ही सम्प्रसारण है।[2] आधुनिक भाषा-विज्ञान ने इसकी पृथक् सत्ता मानी है। यास्क ने इसका लक्षण कुछ विचित्र-शब्दो मे किया है—तद् यत्र स्वराद् अनन्तरान्तस्थान्तर्धातु भवति तद् द्विप्रकृतीनां स्थानमिति प्रदिशन्ति (२।२) जैसे—√अव्>ऊति· √म्रद्>मृदु, √प्रथ्>पृथु, √यज्>इष्ट· इत्यादि। यास्क सम्प्रसारण को द्विप्रकृति कहते हैं, इसकी व्याख्या मे दुर्गाचार्य का कहना है कि सम्प्रसारण वाले धातुओ के दो रूप होते हैं—एक अपना (बिना सम्प्रसारण के) और दूसरा सम्प्रसारण का, जैसे—√यज् का अपना रूप है यष्टा, यष्टु, यष्टव्यम् और सम्प्रसारण-रूप है इष्ट, इष्टि, इष्टवान् इत्यादि।

(ग) ध्वनि-परिवर्तन की विभिन्न रीतियो से यास्क का परिचित होना आश्चर्यजनक है। द्वितीय अध्याय के आरम्भ मे ही उन्होने इन परिवर्तनो की दिशाओ का निर्देश किया है जिन्हे हम देख चुके हैं। आधुनिक भाषा-विज्ञान के अनुसार ये ध्वनि-परिवर्तन दो तरह के हैं—स्वयम् उत्पन्न (unconditional) और परोत्पन्न (conditional)।[3] स्वयं ही उत्पन्न होनेवाले ध्वनि-परिवर्तन के विषय मे कुछ कहा नही जा सकता। भाषा के प्रवाह मे ये परिवर्तन हो जाते हैं, इनका कोई कारण नही दिया जा सकता। यद्यपि ये भी अकारण नही होते किन्तु परिवर्तन का कारण न जान सकने से ही इन्हे ऐसा कहना पड़ता है। संस्कृत 'अश्रु' हिन्दी मे 'आँसू' क्यो हो गया, कहना कठिन है। इसी तरह—मूल्य>मोल, हृदय>हिया, पुष्कर>पोखरा,

१ 'रोरूयमाण" में यङ् होने के कारण अभ्यास को गुण हो गया है जैसा कि पाणिनि ने कहा है—गुणो यङ्लुको· (पा० सू० ७।४।८२)

२. इग्यणः सम्प्रसारणम् (पा० सू० १।१।४५)

३ देखिए—Dr. P. D Gune, Introduction to Comparative Philology pp 40-58.

पिण्ड > पेंडा। मू० भा० यू० भाषा के अ, (ह्रस्व) ऐं और (ह्रस्व) औ संस्कृत मे 'अ' ही रह गये। दूसरी ओर परोत्पन्न ध्वनि-परिवर्तन के कारणों को जाना जा सकता है जैसे—वाग्यन्त्र की (Physiological) या श्रवणेन्द्रिय (acoustic) की विभिन्नता, सादृश्य (Analogy), स्वराघात (Accent), भौगोलिक-प्रभाव इत्यादि।[1]

यास्क ने यों तो दोनो प्रकार के परिवर्तनो के उदाहरण दिये हैं क्योंकि आज उनका अध्ययन किया जा चुका है परन्तु परिवर्तनों के लिए कोई कारण न देने से उन्हें 'स्वयमुत्पन्न' परिवर्तन मानें तो कोई आपत्ति नही। डा० स्कोल्ड ने यास्क के निर्वचनो के सिद्धान्त की त्रुटि (?)[2] दिखलाते हुए लिखा है कि यास्क के निरीक्षण ठीक हैं पर निष्कर्ष गलत। 'जग्मतु' मे उपधालोप हुआ है—ठीक है; पर सब जगह उपधालोप होगा—यह कहना गलत है। यहाँ विदेशी विद्वान ने समझने मे ही गलती की है। यास्क ने इन सिद्धान्तो को दृढ नियम नहीं माना, बल्कि ये निरीक्षण अनियमित परिवर्तन (Sporadic change) मे ही आते हैं। वे केवल यही कहते हैं—अथापि उपधालोपो भवति = कहीं कहीं उपधा का लोप देखते हैं, जैसे 'जग्मतु'। इसी तथ्य को भाषाविज्ञान मध्यस्वरलोप (Syncope) कहता है। इसका अभिप्राय यह नही है कि यास्क ने या भाषा-विज्ञान ने इसे दृढ नियम बना दिया है कि सर्वत्र यही बात मिलेगी। सत्य तो यह है कि भाषा मे हुए परिवर्तनो की व्याख्या करने की चेष्टा दोनो ने की है। यास्क भी भाषा विज्ञान के साथ-साथ ही स्वीकार करते हैं कि ये परिवर्तन देखे जाते हैं—भविष्य मे भी होंगे, इसमें सन्देह है।

यहाँ आधुनिक शब्दावली का आवरण यास्क को दिया जाता है :—

(अ) आदि स्वरलोप (Aphesis)—यास्क कहते हैं—अथापि अस्तेः निवृत्तिस्थानेषु (Weak Terminations) आदिलोपो भवति, जैसे—

१. प्रो० ब्रुगमैन (Brugmann) ने इन दोनों प्रकार के परिवर्तनों को यों समझाया है—' Unconditional phonetic change is the change which an individual sound undergoes, without the determining influence of the particular kind of the accompanying sounds, or the accent, or the language rhythm, while conditional change is where such influences take place " डा० गुणे का पुस्तक (पृ० ४६) में उद्धृत।

२. देखिये भूमिका, तृतीय परिच्छेद (ख)।

√अस् > स्तः, सन्ति। यह लोप स्वराघात (accent) के कारण होता है क्योंकि किसी स्वर पर विशेष बल (Stress) देने से दूसरे स्वर लुप्तोच्चारण हो जाते हैं, 'स्तः' पर जोर देना ही 'अ' के लोप का कारण है। अंग्रेजी में esquire से squire होने का भी यही कारण है। कम-से-कम यास्क तो इस तथ्य से अवश्य परिचित थे।

(आ) मध्यस्वरलोप (Syncope)—यास्क का 'उपधा-लोप' जैसे—√गम् > जग्मतु, जग्मु.। दूसरे स्थानों में भी यास्क ने ऐसे परिवर्तनों के उदाहरण दिये हैं। राजन् से राज्ञा, √दा से दित्सति आदि भी ऐसे ही परिवर्तन के उदाहरण हैं।

(इ) सवर्णलोप (Haplology)—यास्क ने जो 'धात्वादी एव शिष्येते' कहकर 'प्रत्तम्, अवत्तम्' (√दा) आदि उदाहरण दिये हैं वे इसी के हैं। 'प्रदत्त' 'अवदत्त' से समानता होने के कारण दकार का लोप हो गया है।[1] 'उत्तर' की व्याख्या में उन्होंने 'उद्धततर' कहा है। यद्यपि भाषाविज्ञान की दृष्टि से यह निर्वचन ठीक नहीं तथापि यह यास्क के सवर्णलोप के ज्ञान को प्रकाशित करता है।

(ई) मध्यस्वरागम या स्वरभक्ति (Anaptyxis)—यद्यपि बीच में स्वर के आगमन से ही यह सम्बन्ध रखता है तथापि व्यजनों के आगमन में भी यही नाम देने की प्रणाली चल पड़ी है। यास्क इसे 'वर्णोपजन' कहते हैं जैसे—√अस् > आस्थत्। किन्तु उनका दिया हुआ √भ्रस्ज् से भरूजा का उदाहरण तो शुद्ध स्वरभक्ति है। अन्य उदाहरण हैं—स्वर्ण > सुवर्ण, प्रसाद > परसाद।

(उ) वर्णविपर्यय (Metathesis)—यास्क का 'आद्यन्तविपर्यय' जिसके लिए वे उदाहरण देते हैं—√श्चुत् > से स्तोकः, √सृज् > रज्जु, √कस् > सिकता।

(ऊ) समीकरण (Assimilation)—यास्क इसे 'आदि-विपर्यय' (जैसे √द्युत् > ज्योति) के रूप में स्वीकार करते हैं यद्यपि इसके उदाहरण निरुक्त में भरे पड़े हैं। इसी के द्वारा वे विषमीकरण (dissimilation) का भी उदाहरण दे देते हैं जैसे √हन् > घन; अन्तव्यापत्ति में कुछ ऐसे उदाहरण भी हैं—√गाह् > गाधः।

१. तुलनीय—'अच उपसर्गात्तः' (पा० सू० ७।४।४७)

(ऋ) महाप्राणीकरण (Aspiration)—अल्पप्राण का महाप्राण-वर्ण बनना जैसे—√मद्>मघ। अन्य उदाहरण हैं—गृह>घर।[1]

(ॠ) अल्पप्राणीकरण (Deaspiration)—जैसे √भिद्>बिन्दु। इस नियम से अभ्यासस्थ वर्णों का अल्पप्राण होता है—भभूव>बभूव; हहार>जहार।[2]

यही नहीं, यास्क ध्वनि नियमों की ओर भी सङ्केत करते हैं। निर्वचनों के ध्वन्यात्मक-सिद्धान्त का विचार हम ऊपर कर ही चुके हैं। इसलिए उनकी आवृत्ति व्यर्थ है। यदि सभी निर्वचनों का अध्ययन आधुनिक ध्वनि-विज्ञान की दृष्टि से किया जाय तो एक अच्छा अनुसंधान हो सकता है।

(२) रूपविज्ञान (*Morphology*)—वाक्य शब्दों से बनते हैं। इसलिए शब्दों की रचना का भाषाविज्ञान में बड़ा महत्त्व है। शब्दों के निर्माण के बाद भी उनमें सम्बन्ध तत्त्व (morpheme) की आवश्यकता होती है। यही तत्त्व वाक्य के सभी शब्दों को जोड़ता है और अर्थतत्त्वों का (semanteme)[3] परस्पर-सम्बन्ध बतलाता है। संक्षेप में हम यों कहें कि सम्बन्ध-तत्त्व से ही शब्दों को वाक्य में स्थान मिलता है और इसके कारण ही वे रूप का परिवर्तन करते हैं। शब्दों के विभिन्न रूपों का अध्ययन करना ही रूपविज्ञान का कार्य है।

चूंकि भाषा में सबसे पहले शब्द ही हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं इसलिए अत्यन्त प्राचीन-काल से ही मनुष्य इस पर ध्यान देता रहा है। व्याकरणशास्त्र की तो यही जड़ है। यास्क भी अपने समय के विकसित रूपविज्ञान का परिचय देते हैं। यास्क ने चार पद-भेद माने हैं जिनका वर्णन ऊपर हो चुका है। पदों के इन भेदों में ही वे सभी शब्दों को अन्तर्भूत कर लेते हैं। उपसर्गों और निपातों की तो अल्पसंख्या होने के कारण उन्होंने गणना भी करा दी है। तथापि विस्मयद्योतक कितने ही शब्द छूट गये हैं जैसे हे, अये इत्यादि। रूप परिवर्तन के लिए यास्क का शब्द है 'व्यय'।

---

१. तुलनीय—एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः (पा० सू० ८।२।३७)

२. तुलनीय—झलां जश् झशि (८।४।५३), झलां जशोऽन्ते (८।२।३९), तथा अल्पप्राणीकरण का ग्रैसमैन का सिद्धान्त जिसमें एक धातु में केवल एक ही महाप्राण की सत्ता स्वीकृत है। देखिये—मंगलदेव शास्त्री—भाषाविज्ञान या किसी अन्य पुस्तक में भी।

३. सम्बन्ध-तत्त्व और अर्थ-तत्त्व के लिए देखें—भोलानाथ तिवारी के 'भाषाविज्ञान' में रूपविचार।

रूपपरिवर्तन होने वाले शब्दो को वे 'दृष्टव्यय' कहते हैं तथा इससे इतर शब्द अव्यय हैं। उपसर्ग और निपात तो अन्तिम भेद (अव्यय) मे ही आते हैं किन्तु भाषा मे प्रधान-स्थान रखने वाले शब्द हैं—संज्ञा (नाम) और क्रिया (आख्यात)। इनका रूप-परिवर्तन सम्बन्ध-तत्त्व के ही आधार पर होता है।

संज्ञा-शब्दो के प्रति सम्बन्ध-तत्त्व का प्रधान कार्य है—कारको, वचनो और लिङ्गो को प्रकट करना अर्थात् संज्ञा की विभक्तियो का निर्णय करना। क्रियाओ के प्रति इसका प्रधान कार्य काल, वचन और पुरुष का द्योतन-मात्र है। यास्क सम्बन्ध-तत्त्व के इन सभी कार्यों से भली-भाँति परिचित हैं क्योंकि कई स्थलो पर उन्होंने विभक्तियो के नाम दिये है जैसे—'निर्ऋत्याः' शब्द मे 'आः' होने के कारण वे इसे पञ्चमी या षष्ठी विभक्ति मे होने का भ्रम मानते है।क्योंकि दोनो विभक्तियो मे 'आ' प्रत्यय लगता है। पुनः, चतुर्थी मे 'ऐ' प्रत्यय का भी उल्लेख करते हैं।[1] वचनो का भी नाम वे जहाँ-तहाँ देते हैं जैसे—(२।२४) अपि द्विवत्, अपि बहुवत् अर्थात् विश्वामित्र ने नदियो की स्तुति द्विवचन और बहुवचन मे की।

क्रियाओ के सम्बन्ध-तत्त्व की स्पष्ट चर्चा नही है केवल पुरुषों का उल्लेख उन्होने किया है। सप्तम-अध्याय मे ऋचाओ के भेद करते समय तीनो पुरुषो का क्रमश (प्रथम, मध्यम, उत्तम) उल्लेख किया है। काल के विषय मे तो वे मौन हैं किन्तु उनके प्रयोग बतलाते हैं कि क्रिया के इस तत्त्व से भी वे अवश्य परिचित थे। यद्यपि वैदिक-युग मे कालो और लकारो के विषय मे कोई निश्चित नियम नही था तथापि पाणिनि के कुछ ही पूर्व होने के कारण यास्क से इतनी अपेक्षा रखी ही जाती है। यास्क के समय व्याकरण-शास्त्र का इतना अधिक विकास हो चुका था कि इन सभी विषयों मे यास्क के ज्ञान पर सन्देह नही किया जा सकता।

शब्द की रचना के विषय मे तो यास्क अपने क्षेत्र के एक ही हैं। वे स्पष्टतया मानते हैं कि शब्दों की रचना दो तरह से होती है—एक तो धातु से निकले शब्द और दूसरे इन बने हुए शब्दो से बने शब्द। पहले को यास्क ने वैयाकरणो के साथ-ही-साथ 'कृत्' नाम दिया है और दूसरा प्रकार 'तद्धित' है। ऐसे तद्धितशब्दों के निर्वचन मे वे अधिक सावधान हैं तथा

१. 'दूरे निर्ऋत्या इदमागमम—पञ्चम्यर्थप्रेक्षा वा षष्ठ्यर्थप्रेक्षा वा आःकारान्तम्। 'परो निर्ऋत्या आ चक्ष्व'—चतुर्थ्यर्थप्रेक्षा ऐकारान्तम् (नि० १।१७)।

इनके लिए नियम देते हैं कि पहले तद्धितांश निकाल लें तब शब्द का कृदंश निकाल कर निर्वचन करें।[1] 'दण्ड्य' = तद्धितांश है 'य' जिसका अर्थ होगा—*योग्य होना, सम्पन्न होना* (*दण्ड के योग्य होना, दण्ड से सम्पन्न होना*)। उसके निकलने पर 'दण्ड' बचता है जो √दद् (धारण करना) से बनता है। ऐसे ही आङ्गिरस, कक्ष्या आदि शब्द हैं। इस प्रकार शब्द के निर्माण में कृदन्त (Primary) और तद्धित (Secondary) व्युत्पत्ति मानकर उन्होंने भारत-यूरोपीय भाषाओं में सबसे पहले रूप-विज्ञान का विचार प्रस्तुत किया है।

इतना ही नहीं, शब्दों के मेल से बनने वाले समासों पर भी यास्क की दृष्टि रहती है जिनके विषय में वे कहते हैं कि ये भी पहले अलग-अलग कर लिये जायँ तब समासस्थ—पदों का निर्वचन किया जाय। इसके उदाहरण दिखलाने के लिए उन्होंने राजपुरुष, कल्याणवर्णरूप आदि शब्दों की व्युत्पत्ति दी है। भाषा की प्रारम्भिक अवस्था में समासों की सत्ता शून्य-सी रहती है। *इनका अत्यधिक प्रयोग रूपविज्ञान और इसलिए भाषा की प्रौढ़ि का द्योतक* है जैसा कि कादम्बरी, वासवदत्ता आदि संस्कृत के पिछले ग्रन्थों में हम पाते हैं।[2]

(३) अर्थविज्ञान (Semantics or Semasiology)—ध्वनि यदि शब्द का आवरण करने वाला चर्म है और रूप उसका शरीर, तो अर्थ उसके प्राण हैं जिसके बिना कोई भी शब्द निर्जीव या निरर्थक होता है। यद्यपि निर्वचन को उपर्युक्त तीनों विज्ञानों की सहायता लेनी पड़ती है तथापि अर्थ-विज्ञान की ही आधार-शिला पर निरुक्त टिका हुआ है। शब्दों का अर्थ निकालने के लिए ही तो निरुक्त का इतना बड़ा प्रपञ्च है, इसलिए कोई सन्देह नहीं कि यूरोप में भले ही इसका ज्ञान पीछे हुआ,[3] किन्तु भारत में अर्थतत्त्व का अध्ययन यास्क से ही आरम्भ हो जाता है। बाद में

---

१. *'अथ तद्धितसमासेषु एकपर्वसु च अनेकपर्वसु च पूर्वं पूर्वम् अपरमपरं प्रविभज्य निर्ब्रूयात्। दण्ड्यः पुरुषः। दण्डमर्हति वा, दण्डेन सम्पद्यते इति वा। दण्डो ददतेः धारयतिकर्मणः* (नि० २।२)

२. रूपविज्ञान से परिचय के लिए देखें—Taraporewala, *El. of the Sc. of lang.* pp. 178–191, अथवा *How to Parse* नामक ग्रन्थ।

३. माइकेल ब्रील का 'एसे द सिमैन्तिक्' (Essai de Semantique, 1898) इस विषय का प्रथम ग्रन्थ है।

वैयाकरणों, नैयायिकों और मीमांसकों ने तो दार्शनिक दृष्टिकोण से इस पर विचार आरम्भ कर दिया और उसे प्रौढ़ि पर पहुँचा दिया।[1]

शब्दों के अर्थ का अध्ययन करते हुए हमें दो चीजें आकृष्ट करती हैं—किसी शब्द से किसी निश्चित अर्थ का ही बोध होना और अर्थ का परिवर्तन। इन दोनों का ही विचार यास्क ने किया है। इसमें पहला प्रश्न है कि कोई शब्द किसी निश्चित अर्थ का ही द्योतक क्यों है? क्या कारण है कि पहाड़ को 'पर्वत' कहते हैं? यास्क के सभी निर्वचन ही इस प्रश्न के उत्तर में लगे हुए हैं। शब्दों का सम्बन्ध क्रिया से है, क्रिया का ही अर्थ शब्द भी धारण कर लेते हैं। भले ही इस सिद्धान्त के प्रतिपादन और व्यवहार में अपने हठ के कारण यास्क कई जगह त्रुटियों से भरे हैं तथापि यह कल्पना ही कोई कम महत्त्व नहीं रखती कि क्रिया और सत्ता का पारस्परिक सम्बन्ध अर्थ में होता है। आग को 'अग्नि' इसलिए कहते हैं कि यह अग्रणी है, यज्ञ में इसकी आवश्यकता आगे ही होती है। इसी प्रकार सबों का निर्वचन किया गया है। कहीं-कहीं शब्दों के नाम पड़ने में लक्षणा भी सहायक होती है भले ही उसके मूल में भी क्रिया ही काम करती है। अलंकार भी (जैसे उपमा, रूपक) सहायता करते हैं जिन्हें अर्थ-परिवर्तन के क्रम में हम देखेंगे।

शब्दों का अर्थ-परिवर्तन भी एक सुनिश्चित तथ्य है। कभी-कभी तो कालक्रम से एक शब्द अपना अर्थ छोड़ देता है और दूसरा ही अर्थ धारण कर लेता है जैसे—'मृग' का वैदिक-भाषा में अर्थ है पशुमात्र, किन्तु संस्कृत में 'हरिण'। कभी-कभी एक ही समय में शब्द अपने अर्थ के अलावे दूसरे अर्थ भी धारण करते हैं जैसे—'अर्थ' = अभिप्राय, प्रयोजन, धन आदि, 'कर' = किरण, हाथ, सूंड आदि। इस अवस्था में एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। दोनों दशाओं में अर्थ का परिवर्तन कुछ कारणों से होता है। कभी-कभी हम देखते हैं कि एक ही वस्तु का बोध कराने के लिए कई शब्द होते हैं जो वस्तु के विभिन्न गुणों के आधार पर बने होते हैं जैसे—हिमांशु, चन्द्र, इन्दु, चन्द्रमा, कुमुदबन्धु आदि। आधुनिक भाषाशास्त्री की भाँति यास्क को पता है कि कोई भी पर्यायवाची शब्द वस्तुतः पर्यायवाची नहीं होता, यह विभिन्न गुणों के आधार पर ही बना है जैसे—'पृथ्वी' का एक नाम 'गो'

---

१ इन मतों से अर्थविज्ञान का परिचय पाने के लिए—(क) P. C. Chakravarti, *Linguistic Speculations of the Hindus* और (ख) डा० कपिलदेव द्विवेदी, 'अर्थ विज्ञान और व्याकरण दर्शन' देखें।

है जो उसमे रहने वाले प्राणियो की गति का बोध कराता है, तो 'पृथिवी' से उसका विस्तार मालूम होता है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि एक ही वस्तु का द्योतन करने के लिए कितने भी नाम क्यो न हो, सूक्ष्मदृष्टि से देखने पर सबो म अर्थ का अन्तर मिल ही जायगा।[1]

भाषा-विज्ञान ने जो अर्थ-परिवर्तन की तीन दिशायें निर्धारित की हैं[2], यास्क उनके विषय मे कुछ नही कहते किन्तु, अर्थ परिवर्तन के कारणो पर तो स्थान-स्थान पर प्रकाश डालते हैं। उनके विचार से उपमा (सादृश्य), रूपक और ताद्धित प्रयोग ही अर्थ परिवर्तन के मुख्य कारण हैं। एक सादृश्य लें—'कश्या' घोड़े की रस्सी है जो उसके कक्ष (काँख) से बँधी रहती है। इसी घोड़े की काँख के सादृश्य से मनुष्य की काँख भी 'कक्ष' कहलाती है।[3] फिर देखें, पशु के चार पाद (पैर) होते हैं उनके सादृश्य से ही पाद का अर्थ 'चौथाई हिस्सा' भी हो गया।[4] कितनी सुन्दर व्याख्या है!

ताद्धित प्रयोग के लिये 'गौ' के विभिन्न शब्दार्थ अच्छे उदाहरण होगे। 'गौ' का अर्थ है पृथ्वी और उसी प्रकार इसका अर्थ गाय भी होता है। गाय से सम्बद्ध अर्थों का यदि यह बोध करावे तो उसे ताद्धित प्रयोग कहेंगे।[5] गौ के अर्थ हो जायँगे—गोदुग्ध, सोम घुलाने के लिए गोचर्म, गौ की ताँत, कफ आदि। गौ की ताँत का प्रयोग धनुष मे होने के कारण धनुष भी 'गौ' कहा जाता है। यही नही, अर्थादेश (Transference of Meaning) का प्रभाव भी देखने मे आता है जब 'गौ' से सूर्य, चन्द्रमा और सभी प्रकार की किरणों का बोध होने लगता है।

---

१ देखिये—Dr Bata Krishna Ghosh, *Linguistic Introduction to Sanskrit*, pp 23-25

२ कभी-कभी अर्थ में सकोचन (Specialisation) होता है जैसे—'मृग' (='पशु' वैदिक भाषा में, ='हरिण' संस्कृत में), 'मुर्ग' (='पक्षी' अवेस्ता में, ='मुर्गा' हिन्दी)। कभी-कभी अर्थ में विस्तार (Generalisation) होता है जैसे—'परश्व' (=आने वाला परसों—संस्कृत में; बीता और आनेवाला दोनों परसों—हिन्दी में)। कभी-कभी अर्थ का पूरा परिवर्तन (Transference) हो जाता है—ग्राम्य (=ग्रामवासी > मूर्ख), देवाना प्रिय (=देवताओं का प्रिय > मूर्ख)।

३. तत्सामान्या मनुष्यकक्ष । बाहुमूलसामान्यादश्वस्य (नि० २१२)।

४. पशुपादप्रकृति प्रभागपाद (नि० २१७)।

५ तुलना करें—Synecdoche, Metonymy नामक अलङ्कार (Figures of Speech)

सप्तम-अध्याय मे जातवेदस् और वैश्वानर के वास्तविक अर्थ के अन्वेषण मे यास्क बहुत बडी विवेचना करने लगते हैं तथा आधुनिक अनुसंधान के नियमो का प्रयोग करते हुए पार्थिव-अग्नि को ही इनका वास्तविक अर्थ सिद्ध करते है। समूचे निरुक्त का मन्थन करने पर अर्थ-विज्ञान सम्बन्धी बहुत से तथ्य हमारे समक्ष उपस्थित होते है जिनकी विवेचना के लिए पर्याप्त स्थान की अपेक्षा है। तथापि यह कहा जा सकता है कि यास्क के काल मे अर्थ-विज्ञान का इतना उत्कर्ष हमे आश्चर्य मे डाल देता है। न्याय-व्याकरण आदि शास्त्रो मे भौतिक-जगत् से उठकर इस पर दार्शनिक-विचार प्रस्तुत किया जाने लगा था।

(४) वाक्य-विज्ञान (Syntax)—वाक्य भाषा की इकाई है क्योंकि भाषा के लक्ष्य (विचारो का आदान-प्रदान) की पूर्ति करनेवाले वाक्य ही होते हैं। किन्तु किसी वाक्य मे कर्ता, कर्म, क्रियादि का स्थान कहाँ रहता है तथा उनमे बल किस प्रकार पडता है—इन सबों का समुचित अध्ययन अभी तक नही किया गया है। प्रत्येक भाषा के वाक्यों की अपनी रचना होती है, अपना क्रम होता है जो कालक्रम से बदलता रहता है। पालि की वाक्य रचना संस्कृत से भिन्न है, लैटिन वाक्य-रचना की गन्ध भी अंग्रेजी मे आने पर उसमे लैटिनपना (Latinism) मालूम होने लगता है। आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य की वाक्य-रचना कुछ और ही है जिसमे क्रियायें प्रायः बीच मे आ रही हैं।

वाक्य-विज्ञान की दृष्टि से यास्क का अध्ययन करना बहुत मनोरञ्जक है क्योकि वैदिक-मन्त्रो की व्याख्या मे ये अपनी विशेषतायें प्रकट करते है। विशेषतया निम्नलिखित ध्यान मे देने योग्य है—

(क) वैदिक-मन्त्रो की व्याख्या मे शब्दो के क्रम मे यास्क सामान्यतया परिवर्तन नही करते, कोई शब्द कहीं भी आ सकता है यहाँ तक कि विशेष्य और विशेषण के बीच मे क्रिया भी छोड देते है। परन्तु जहाँ उन्हे स्वतन्त्र-रूप से लिखने का अवकाश मिलता है वे संस्कृत वाक्य-विन्यास की ही रीति अपनाते हैं किन्तु क्रियायें प्राय. अन्त मे नही रहती जैसे—'तमूचुः ब्राह्मण ; स शन्तनुः देवापिविशशिश राज्येन' (२।१०)।

(ख) वैदिक-मन्त्रों मे उपसर्ग और क्रिया की पृथक्ता सर्वविदित है किन्तु यास्क के काल मे इनका साहचर्य आवश्यक प्रतीत होता है। यही कारण है कि मन्त्रो की व्याख्या मे वे मन्त्रस्थ उपसर्ग और क्रिया को एक साथ कर देते हैं जैसे नि० १।१७ मे मन्त्र के 'प्रति..... दुहीयत्' को 'प्रतिदुग्धाम्' मे बदल देते है।

(ग) वैदिक-भाषा मे जहाँ निरर्थक (?) निपात पद-पूरण और वाक्य-पूरण के रूप मे हुआ करते हैं, वहाँ यास्क के युग मे इनकी निरर्थकता सिद्ध कर दी जाती है। स्वयं यास्क मन्त्र-व्याख्या के समय ऐसे निपातो को छोड देते हैं। अपनी भाषा मे यास्क इनका प्रयोग न करके केवल सार्थक और बल प्रदान करने वाले निपातों (जैसे—एव, अपि) का ही प्रयोग करते हैं।

(घ) 'इति' का प्रयोग ये संस्कृत के अनुसार उद्धरण के बाद करते हैं।

(ङ) यास्क के वाक्य अत्यन्त ही सरल होते हैं। संयुक्त और संसृष्ट वाक्यों का प्रयोग ये बहुत ही कम करते हैं।

निर्वचन-शास्त्र (Epymology) भी भाषा-विज्ञान का अनिवार्य अंग है यद्यपि इसकी पृथक् कोई सत्ता नही। ध्वनिविज्ञान, रूपविज्ञान और अर्थ-विज्ञान के सम्मिलित प्रयोग से ही व्युत्पत्तियाँ होती है। हम अलग अध्याय मे निर्वचनो का विचार विस्तार-पूर्वक कर चुके हैं अतएव यहाँ पुन. आवृत्ति करना पिष्ट पेषणमात्र होगा।

भाषा के इन तत्वो की तुलना करने पर उनके विकास का पता लगता है। यास्क भाषा के विकास से परिचित हैं क्योंकि वे वैदिक और संस्कृत दोनों भाषाओ के शब्दो को समान मानते हैं (अर्थवन्तः शब्दसामान्यात् १।१६)। यास्क जानते हैं कि संस्कृत-भाषा मे शब्दो के अर्थ मे विकास हो गया है, जो वैदिक-काल मे नही था। डा० लक्ष्मणस्वरूप कहते हैं कि निघण्टु के व्याख्याता और प्रायः ६०० वैदिक-मन्त्रो के टीकाकार होकर यास्क वैदिक और लौकिक-भाषाओ के घनिष्ठ सम्बन्ध को समझने मे कभी असफल नहीं हुए होंगे।[1] वैदिक-भाषा की संज्ञायें लौकिक-भाषा की क्रियायें से बनती हैं—इस विरोधी वाक्य का अभिप्राय यह है कि वैदिक-काल मे व शब्द संज्ञारूप मे प्रयुक्त होते थे जब कि संस्कृत-युग मे संज्ञारूप मे न रहकर क्रियारूप.मे बदल गये। उसी प्रकार कितने शब्द क्रियारूप में थे, संज्ञारूप मे आ गये—क्रिया का अर्थ नष्ट हो गया। भाषा के परिवर्तन और विकास का अधिक स्पष्ट उदाहरण मिलना उस युग से असम्भव ही है।[2]

---

१. Dr L. Sarup, *The Nighantu and the Nirukta*, p. 223.

२. देखिये—Dr. P D. Gune की पुस्तक 'भाषाविज्ञान' (*Introduction to Comparative Philology*) में Change of Language 'Language is always in a state of flux'

अष्टम-परिच्छेद

निर्वचन-शास्त्र का इतिहास

[भारत और यूनान—वैदिक-संहिता में निर्वचन—ब्राह्मण-ग्रन्थ—निरुक्तकारों के सम्प्रदाय—यास्क—अन्य आचार्य—पाणिनि—उणादि-सूत्र—निर्वचन की प्रणाली—यूनान—प्लेटो—सादृश्यवाद—थ्रैक्स—आधुनिकयुग—ध्वनिविज्ञान का अध्ययन—१९वीं शती का निर्वचन—२० वीं शती—स्फोट ।]

प्रो० मैक्समूलर कहते हैं—"समूचे संसार के इतिहास में केवल दो ही राष्ट्र हैं जिन्होंने स्वतन्त्र-रूप से बिना एक दूसरे से सहायता लिये, तर्कशास्त्र और व्याकरण—इन दो विज्ञानों पर विचार किया; ये दोनों हैं—यूनानी और हिन्दू ।"[1] वे फिर कहते हैं—"जब कि यूनान में उसके एक बड़े दार्शनिक के विचार (जैसा कि क्रेटिलस् में अभिव्यक्त है) निर्वचन-शास्त्र की बाल्यावस्था प्रकट करते हैं, भारत के ब्राह्मणों ने निर्वचन-शास्त्र के कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का समाधान अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक कर लिया था ।"[2] कहने का अभिप्राय यह है कि यूनान और भारत दोनों स्थानों में निर्वचन पर स्वतन्त्र विचार किये गये थे परन्तु भारतवर्ष की प्रौढ़ता कुछ और ही थी, वह यूनान में नहीं । भारत अपने प्राचीनतम साहित्य में ही निर्वचन का संकेत करता है और उसी समय संज्ञाओं की उत्पत्ति धातु से मानी जाने लगी है । प्रस्तुत-अध्याय में हम भारत और यूनान के स्वतन्त्र अध्ययन की चर्चा करेंगे ।

(१) भारत—यद्यपि भाषा के सम्बन्ध में चिन्तन की प्रथम-धारा ऋग्वेद में हमें मिलती है क्योंकि व्याकरण, भाषा, सरस्वती आदि के विषय में उसमें पर्याप्त संकेत किये गये हैं, कितनी ऋचाओं में शब्दार्थ के रूप में निर्वचन दिये भी गये हैं,[3] तथा यजुर्वेद की तैत्तिरीय-शाखा में शब्द का द्विधाकरण हम देख ही चुके हैं । तथापि निर्वचन-शास्त्र का पूर्ण-विकास देखने के लिए तो हमें ब्राह्मण-ग्रन्थों को ही सुरक्षित करना पड़ेगा । ब्राह्मणों

---

१. Max Muller, *History of Ancient Sanskrit Literature*, p 153.

२. वही, p 163.

३. देखें—Dr. Fatah Sinha, *Vedic Etymologies*.

का लक्षण ही है—'हेतुर्निर्वचनं निन्दा०' अर्थात् निर्वचन करना भी ब्राह्मणों के लक्षण हैं। आश्चर्य तो यह है कि ब्राह्मणों के निर्वचन ध्वनि, रूप, अर्थ आदि का पूरा विचार रखते हैं, उनमें त्रुटि प्राय नहीं है। यास्क ने भी कुछ शब्दों के प्रमाण के लिए ब्राह्मणों के वाक्य उद्धृत किये हैं। यह स्मरणीय है कि ब्राह्मणों के निर्वचनों को उद्धृत करने के बाद यास्क 'इति विज्ञायते' अवश्य लिखते हैं। 'शक्वरी' शब्द की व्युत्पत्ति के लिए ब्राह्मणों में कहा है—'तद् याभिः वृत्रम् अशकद् हन्तु तत् शक्वरीणां शक्वरीत्वम् इति विज्ञायते' (नि० १।८) अर्थात् 'शक्वरी' शब्द √शक् से बना है और इसका अर्थ है 'जिसकी सहायता (उच्चारण) से वृत्र मारा जा सका'। फिर 'अक्षि' की व्युत्पत्ति √अञ्ज् = 'प्रकाश करना' से मानी गई है—'तस्मादेते (= आँखें) व्यक्ततरे इव भवत. इति ह विज्ञायते' (१।९) अर्थात् आँखें समूचे शरीर की अपेक्षा अधिक व्यक्त होती है। 'वृत्र' (एक राक्षस मेघ) की उत्पत्ति √वृ (ढँकना) से या वृत् (होना) से बतलाने वाले भी वाक्य हैं—'यदवृणोत् तद् वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते, यदवर्तत तद् वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते' (नि० २।१७)।

ब्राह्मण-ग्रन्थों के निर्माण काल के बाद से ही निरुक्तकारों के सम्प्रदाय चल पड़ते हैं जिनमें औपमन्यव, आग्रायण, और्णवाभ आदि के नाम बड़े सम्मान से यास्क भी लेते हैं। इन आचार्यों ने भी ग्रन्थ-रचना अवश्य ही की होगी जिनके अभाव में इस समय कुछ भी निर्णय करना कठिन है कि इनके निर्वचन कैसे थे। यास्क के द्वारा उद्धृत इनके मतों से तो ज्ञात होता है कि ये भी यास्क से कम नहीं थे। निरुक्त के आधार पर इनका अच्छा अध्ययन हो सकता है।[1] ब्राह्मण ग्रन्थों का निर्माण काल हमें न्यूनतम ११०० ई० पू० मानना ही पड़ेगा जिसके बाद से इन आचार्यों की परिपाटी यास्क तक चलती है। ४०० वर्षों की इस अवधि में जो कुछ अनुसन्धान या स्वतन्त्र चिन्तन हुआ उन सबों का उपयोग यास्क ने कर लिया है।

इन छिटपुट आचार्यों के बाद भारतीय व्युत्पत्ति-शास्त्र के इतिहास में एक ऐसे ज्वलन्त नक्षत्र का उदय होता है जिन्होंने न केवल पहले के, अपितु बाद के भी अन्य आचार्यों से बढ़कर काम किया और जो अपने सर्वाङ्गपूर्ण निरुक्त की रचना करके सर्वापहारी काल के कोप से भी सुरक्षित रह सके। उस युग के अन्य ग्रन्थ अपनी गौणता के कारण अप्राप्य हैं जब कि यास्क

१. देखें, मेरा निबन्ध—*Predecessors of Yāska in Etymology.*

के निरुक्त की कई प्रतिलिपियाँ मिली। लोक-स्वीकृति से बढ़कर और बड़ी समालोचना क्या हो सकती है? यास्क के काल के विषय मे विद्वानो मे बहुत मतभेद है क्यो कि इनका काल अधिकांशतः पाणिनि के कालनिर्णय पर ही आधारित है। गोल्डस्टूकर का सिद्धान्त कि यास्क से पाणिनि प्रत्नतर है अब पूरा खण्डित हो चुका है, पाणिनि से पहले यास्क थे इसमे कोई संशय नहीं है।

अस्तु, मैक्समूलर,[1] वेबर,[2] कीथ[3] आदि विद्वान् पाणिनि का काल ३५० ई० पू० मानते हैं जब कि भाण्डारकर, विन्तरनित्स[4] आदि अन्य भारतीय विद्वानो के साथ इन्हे ५०० ई० पू० मानते हैं। डा० वेलवल्कर[5] इन सबों की परीक्षा करके ७०० ई० पू० तक पहुँचते हैं। दूसरी ओर युधिष्ठिर मीमांसक तथा सत्यव्रत–जैसे कुछ विद्वान् तो २७०० ई० पू० और २४०० ई० पू० तक पहुँचते हैं। सचमुच भारतीय-साहित्य के इतिहास मे कालनिर्णय करना बड़ा कठिन है। यूरोपीय-विद्वानो की तार्किक-बुद्धि भी असफल हो जाती है। आज पाणिनि का सर्वमान्य काल है ५०० ई० पू०। शैली और भाषा की दृष्टि से यास्क को पाणिनि के थोड़ा पहले प्रायः ७०० ई० पू० में विद्यमान मानना समीचीन है।

यास्क और पाणिनि के बीच मे फिर कुछ वयाकरण आते हैं जो व्युत्पत्ति का स्पर्श करते हैं किन्तु काल उन्हें नगण्य समझ कर भूल जाता है। पाणिनि के आविर्भाव से निर्वचन-शास्त्र मे एक नया जीवन आ जाता है और शब्दों का साङ्गोपाङ्ग अध्ययन आरम्भ हो जाता है। जिन बातों मे यास्क हमे भ्रमात्मक ज्ञान देते हैं पाणिनि उन्हें स्पष्ट कर देते हैं। इनके धातुओं और प्रत्ययों मे शब्द-निर्माण की अनोखी शक्ति है जिसके आधार पर प्रचलित शब्दों की व्युत्पत्ति की जाती है। पाणिनि की व्युत्पत्तियो मे ध्वनि, रूप और अर्थ का अद्भुत सामञ्जस्य है जिसे भाषाविज्ञान सर्वथा स्वीकार करता है। स्वरों और व्यञ्जनों के पारस्परिक सम्बन्ध मे पाणिनि पूर्ण परिचित हैं और विशेषतया इनकी अष्टाध्यायी के अध्ययन से ही यूरोप मे भाषाविज्ञान के

---

१. History of Ancient Sanskrit Literature.

२. History of Indian Literature.

३. History of Sanskrit Literature.

४. Geschichte der Indischen Litteratur, Vol III.

५. Systems of Sanskrit Grammar.

क्षेत्र मे क्रान्ति पहुँची। यहाँ तक कि भाषाविज्ञान ने पाणिनि के कुछ शब्दों को (जैसे गुण, वृद्धि, सम्प्रसारण) ज्यों के त्यों स्वीकार कर लिये हैं।

उणादि-सूत्र भी पाणिनि से ही सम्बद्ध हैं यद्यपि ये दूसरो के लिखे हुए हैं जिनमे पाणिनि के छोड़े हुए शब्दो की व्युत्पत्ति दी गई है। उणादि की प्रक्रिया ही ऐसी है जो शब्दो को धातुज मानती है। इस प्रक्रिया से हम सभी शब्दो की व्युत्पत्ति कर सकते हैं चाहे वह उणादि-सूत्रो के अधिकार मे नहीं आया हुआ शब्द भी क्यों न हो। इसके लिए नियम है—

सज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्च ततः परे।
कार्याद् विद्यादनूबन्धमेतच्छास्त्रमुणादिषु ॥

अर्थात् शब्दो मे पहले प्रकृति की कल्पना करें, फिर प्रत्यय की। कार्यों को देख कर प्रकृति और प्रत्यय मे अनुबन्ध लगा दें। यही उणादि का नियम है। इस प्रकार इस पद्धति ने निर्वचन-शास्त्र को एक नया रास्ता दिखलाया जिससे न केवल सस्कृत के, अपितु अन्य भाषाओ के शब्दो को भी सस्कृत के अनुसार व्युत्पन्न किया जाने लगा। इससे निर्वचन-शास्त्र की वैज्ञानिकता क्षीण होने लगी।[१]

पाणिनि की परिपाटी इतनी वैज्ञानिक थी कि इसके बाद कुछ भी जोड़ना व्यर्थ था। फल यह हुआ कि पाणिनि की टीका-टिप्पणी मे ही बाद के विद्वानों ने श्रम व्यय किया। दूसरे सम्प्रदाय वालों मे चेष्टा भी की है सो पिष्टपेषण के लिए ही। भारतीय इतिहास मे निर्वचन शास्त्र का स्वर्णयुग इस प्रकार समाप्त हो गया और नवीन-जागृति (Renaissance) तक के लिए सारा काम बन्द हो गया।

(२) यूरोप—यूनान के दार्शनिकों ने भाषा के सम्बन्ध मे पर्याप्त विचार किया था। किन्तु उनके सिद्धान्त भारत की तरह उन्नत नहीं थे। सबसे पहले प्रामाणिक ढग से सुकरात (४६९ ई० पू०—३९९ ई० पू०)

---

१. उणादि सूत्रों के शैथिल्य के विषय में एक प्रसग चलता है। किसी पण्डित ने फारसी के मिया, मुलुक और मोलना शब्दों को भी उणादि से सिद्ध कर दिया। √मा (नापना) में उणादि के कल्पित डियाँ, डुलुक और डोलना प्रत्यय जोड दिये गये। 'ड' इसलिए लगाया गया है कि मा धातु के 'आ' (टि) का लोप, डित्-प्रत्यय होनेसे, हो जाय (डित्वसामर्थ्यादभस्यापि टे लोप.)। उक्ति यों है—

उणादि से जो प्रत्यय लिये, डियाँ, डुलुक, डोलना।
मा धातु से सिद्ध किया, मियाँ, मुलुक, मोलना ॥

ने शब्द और उसके अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध का पता लगाया है। उनका कथन है कि वस्तु और शब्द मे स्वाभाविक नही, किन्तु एक माना हुआ सम्बन्ध है। इसके बाद उनके शिष्य प्लेटो (४२९ ई० पूर्व—३४७ ई० पू०) ने अपने क्रेटिलस् (Cratylus) मे तात्कालिक भाषा-सम्बन्धी मान्यताओ का प्रदर्शन किया है। उस समय सादृश्यवादियो और उनके विरोधियो मे (Analogists and Anomalists) सघर्ष चल रहा था।[1] सादृश्यवादी कहते थे कि भाषा स्वाभाविक है तथा मूलत क्रमबद्ध है। इनके अनुसार शब्दो का मूल तथा उनका अर्थ शब्दो के रूप मे ही है। इसी की खोज करने को वे व्युत्पत्ति (Etymology) कहते थे। उदाहरणत उनके अनुसार 'मृगचर्म' इसलिए कहा जाता है कि यह चमडा है और मृग का है। यहाँ तक तो वे ठीक थे परन्तु अ-यौगिक शब्दो की व्युत्पत्ति करने मे गलती कर बैठते थे। 'स्वर्ग' की व्युत्पत्ति वे करते थे 'चीजों को ऊपर की ओर देखना'।[2]

प्लेटो ने क्रेटिलस् मे इन मतो की हँसी उडाई है तथा व्युत्पत्ति का वास्तविक अर्थ दिया है कि जो शब्दो का अर्थ और भाव प्रकट कर दे। इससे अधिक वे व्युत्पत्ति से कुछ भी नही समझते। ग्रन्थ के सवादो मे उन्होंने अपने मत का समर्थन किया है किन्तु य भी व्युत्पत्ति की शैशव दशा मे ही हैं। अरस्तू (३८५ ई० पू०—३२२ ई० पू०) ने भी प्लेटो के कार्य को कुछ आगे की ओर बढाया परन्तु तात्कालिक यूनानी कट्टरता के कारण सफल न हो सके। कारण यही था कि यूनानी लोग भूल से दूसरी भाषाओ के शब्द भले ले लें परन्तु अध्ययन केवल अपनी भाषा का ही करते थे जिससे शुद्ध व्युत्पत्ति देने मे (विशेषतया विदेशी शब्दो की) कठिनाई होती थी।

ईसा की दूसरी शती मे थ्रैक्स (Thrax) नामक विद्वान् हुए जिन्होने यूनानी भाषा का प्रथम व्याकरण लिखा। यद्यपि वे वैयाकरण थे तथापि व्युत्पत्ति के भी प्रसग यत्र तत्र दिये हैं जो उल्लेखनीय नही। बाद मे लैटिन-व्याकरणो मे भी इस पर जोर नहीं दिया गया। सच तो यह है, यूरोप भर में केवल अनुमान पर ही व्युत्पत्तियाँ दी जाने लगीं और यह दशा १८ वीं शती तक रही जब तक कि पुनर्जागरण का व्यापक आन्दोलन नहीं हो गया।

(४) आधुनिक-युग—अठारहवी शती मे यूरोप मे भाषा के अध्ययन

१. देखें—Bloomfield, *Language*, p 4
२. Encyclopaedia Britannica, Vol 8, pp. 790–1.

मे बहुत बडी क्रान्ति हुई। विभिन्न भाषा-भाषी अपने व्यापारिक सम्बन्धो को लेकर मिलने-जुलने लगे तथा एक दूसरे की भाषा समझने लगे। यहाँ तक कि पृथ्वी का प्रत्येक भाग छाना जाने लगा। इसी सिलसिले मे भारत-यूरोप का सम्बन्ध भी स्थापित हुआ। पारस्परिक भाषाओं के आदान-प्रदान से शब्दो के अध्ययन मे सुविधा हुई और इसके लिए दूसरे भी वैज्ञानिक-साधन उपलब्ध हुए। इस प्रकार शब्दो के मूल पर विचार करने का समय मिला और व्युत्पत्ति शास्त्र ने एक नयी दिशा पकडी।

ध्वनि-विज्ञान के अध्ययन से शब्दो मे परस्पर सम्बन्ध दिखाना सरल हो गया कि शब्दों का प्रथम रूप खोजा जाय। इस प्रकार शब्द के इतिहास का पता लगाना ही निर्वचन की इतिश्री समझी गयी।[1] इताली भाषा के 'दोना' (Donna = स्त्री) को लैटिन भाषा के "दॉमिना' (Domina = भद्र महिला) से निष्पन्न सिद्ध करना ही निर्वचन हो गया। निर्वचनात्मक अनुसन्धान का अर्थ हो गया—ध्वनि के सिद्धान्तो के आधार पर शब्दो के रूपो की शुष्क-सूची तैयार करना। इसी युग की देन मे श्लेगल, रैस्क, ग्रिम, बॉप, रॉथ आदि विद्वान् आते हैं। रॉथ ने बोटलिङ्क की सहायता से संस्कृत-जर्मन महाकोश तैयार किया है जिसमे शब्दो की व्युत्पत्ति पर भी अच्छा प्रकाश डाला है। यह ग्रन्थ अपने विषय का एक ही है तथा आजतक इसका प्रतिद्वन्द्वी नही निकल सका भले ही इसे प्रकाशित हुए १०० वर्ष हुए।

बीसवी शती के पदार्पण के साथ-साथ कई नये विज्ञानो की उत्पत्ति हुई तथा निर्वचन का अर्थ भी बदलने लगा। अब निर्वचन का पता लगाने का अभिप्राय हुआ—किसी शब्द से सम्बद्ध संस्कृति, सभ्यता, इतिहास, भूगोल आदि का पता लगाना जिन-जिन स्थितियो में शब्द का परिवर्तन हुआ। उपर्युक्त 'दॉमिना' से 'दोना' की उत्पत्ति मानने मे तुस्कानी-प्रदेश का अध्ययन करना पड़ेगा जो 'दोल्चे स्तिल नुओवो' (*dolce stil nuovo*) की काव्यधारा का जन्मस्थान है जिस धारा मे स्त्रियो को समस्त पार्थिव सौन्दर्य और देवत्व का प्रतीक समझा जाता था। इसके प्रभाव से वैसा परिवर्तन हुआ।[2] वर्तमान शती की इस प्रवृत्ति ने ही भाषा के आधार पर प्रागैतिहासिक अनुसधान (Linguisitc Palaeontology) का जन्म दिया।

---

१ Collier's Encyclopaedia, Vol 7, p 463.

२ वही।

निर्वचन-शास्त्र का इतिहास स्कीट (Skeat) के नामोल्लेख के बिना अधूरा हो रहेगा। इन्होने अंग्रेजी-भाषा के शब्दो का निर्वचनात्मक-कोश तैयार किया है जिसकी भूमिका में निर्वचन करने के दस सिद्धान्तो का वर्णन किया है जिनमे मुख्य ये हैं—(१) शब्दो का पहला रूप और प्रयोग का पता लगा लें, कालक्रम का ध्यान रहे। (२) भूगोल और इतिहास पर भी दृष्टि रहे क्योंकि शब्द उधार भी लिये जाते हैं (३) ध्वनि के नियमो को देखते रहे, विशेषतया आर्य-भाषाओ के व्यञ्जन-सम्बन्ध और स्वर को न भूलें। (४) शब्द के पूरे अंश की व्युत्पत्ति होनी चाहिये। (५) परस्पर असम्बद्ध भाषाओ मे केवल रूप की समानता पर न दौड़ें। (६) जब दो भाषाओ मे शब्द अत्यन्त समान हो तब समझें कि एक ने दूसरे से उधार लिया है।

इसके अलावे स्कीट ने स्वतन्त्र-रूप से भी अंग्रेजी-निर्वचन-शास्त्र पर पुस्तक लिखी है। खेद है कि भारतीय-भाषाओ मे किसी पर भी ऐसा अध्ययन प्रस्तुत नही हुआ। टर्नर का नेपाली कोश अपने ढग का अनूठा ही है किन्तु उस एक ग्रन्थ के आभारी हम कहाँ तक रहेगे ? आवश्यकता इस बात की है कि संस्कृत या हिन्दी का निर्वचनात्मक-कोश तैयार हो जिसमे शब्द के मूल-रूप के साथ-साथ परिवर्तन करनेवाली परिस्थितियों का उल्लेख हो। इस महान् कार्य से भारतीय भाषा-विज्ञान के एक अपूर्ण अंग की पूर्ति हो जायगी। अपने निर्वचन-परिशिष्ट मे हम कुछ ऐसा करेंगे।



नवम–परिच्छेद

निघण्टु और निरुक्त के टीकाकार

[स्कन्दस्वामी (५०० ई०)—देवराज (१३००)—इनकी विशेषतायें—दुर्गाचार्य—(१३००–५० ई०)—इनका वैदुष्य—स्थान-काल-निरूपण—महेश्वर (१५०० ई०)—आधुनिक विद्वानों के कार्य—रॉथ—सामश्रमी—सरूप—स्कोल्ड—राजवाड़े—सिद्धेश्वर वर्मा—निरुक्त के मुद्रित-संस्करण ।]

हम जानते हैं कि निघण्टु वैदिक-शब्दों का सङ्ग्रह है और निरुक्त उसी पर भाष्य है । शब्दकोश व्याख्या की आवश्यकता तो होती ही नहीं और उसके भाष्य की व्याख्या भी क्या होगी ? निरुक्त स्वयं व्याख्या-रूप में है, तथापि भारतीय मस्तिष्क कभी भी किसी ग्रन्थ को निर्व्याख्यान नहीं देख सकता है चाहे वह ग्रन्थ सरलतर क्यों न हो। हितोपदेश की व्याख्यायें भी क्या नहीं हैं ? यही कारण है कि निघण्टु और निरुक्त पर भी टीकायें ही नहीं, तथा कथित भाष्य लिखे गये । इनका संक्षिप्त वर्णन किया जाता है ।

(क) स्कन्दस्वामी (५०० ई०)—निरुक्त की उपलब्ध-व्याख्याओं में इनकी व्याख्या सबसे प्राचीन है । इन्होंने अत्यन्त सरल शब्दों में निरुक्त के बारह अध्यायों की व्याख्या की है । इनकी व्याख्या दुर्गाचार्य की टीका के समान विस्तृत तथा निरुक्त के प्रत्येक शब्द का उद्धरण देनेवाली नहीं है । निरुक्त के प्राचीनतम अर्थ का ज्ञान पाने के लिए यह टीका सर्वोत्तम है । स्कन्दस्वामी का काल डा० लक्ष्मण सरूप ने सप्रमाण सिद्ध किया है ।[1] स्कन्दस्वामी स्वयं हरिस्वामी के गुरु थे। हरिस्वामी ने शतपथ-ब्राह्मण की टीका लिखी है और ये मालवाधिपति के यहाँ धर्माध्यक्ष थे । ये लिखते हैं—

> यः सम्राट् कृतवान्सप्त सोमसंस्थास्तथर्क्श्रुतिम् ।
> व्याख्यां कृत्वाध्यापयन्मां स्कन्दस्वाम्यस्ति मे गुरुः ॥

इससे पता चलता है कि स्कन्द ने ऋग्वेद की व्याख्या भी लिखी थी। हरिस्वामी ने अपना समय कलिसंवत् में दिया है जिसका संशोधन करके डा०

---

१. Dr Ganganatha Jha Commemoration Volume, pp. 399–401.

सरूप निष्कर्ष यही निकालते हैं कि मालव-देश मे उस समय कोई विक्रम नहीं अपितु हरिस्वामी का अभीष्ट राजा यशोधर्मा था जिसका शिलालेख भी मिलता है। उन्होने सिद्ध किया है कि हरिस्वामी ने अपनी टीका ५३८ ई० मे लिखी थी जिसके कुछ पहले—या तो पाँचवी शती के अन्त मे या छठी शती के आदि मे स्कन्दस्वामी रहे होंगे।

(ख) देवराज-यज्वा (१२०० ई०)—निघण्टु की व्याख्याओ मे एक-मात्र इनकी व्याख्या ही उपलब्ध है। इन्होने निघण्टु के पदो को व्याकरण की कसौटी पर कस कर रखा है जिसके लिए इन्होंने पाणिनि और भोज के व्याकरणो से सहायता ली है। सभी शब्दो को सिद्ध कर दिया गया है। पदो की व्याख्या मे इन्होने स्थान स्थान पर आचार्यों के नामो का उल्लेख किया है जिससे इनके काल निर्णय मे बडी सहायता मिलती है। इन्होने अपनी व्याख्या के आरम्भ मे एक छोटी सी भूमिका भी दी है जिसमे अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए उनके नाम भी लिये हैं। निघण्टु के पाठ के सशोधन पर भी इन्होने काफी प्रयत्न किया है क्योंकि ये लिखते हैं कि वेङ्कटार्य के पुत्र माधव के ऋग्वेद-भाष्य[1] की विविध-अनुक्रमणियो से मिलाकर, बहुत तरह के कोशों को देखकर, निघण्टु का पाठ सशोधन किया है। यह इनकी वैज्ञानिकता का सूचक है।

भूमिका मे एक स्थान पर ही इन्होने निम्नलिखित पूर्वाचार्यों का उल्लेख किया है—(१) स्कन्दस्वामी की निरुक्त-टीका (२) वेदभाष्य—स्कन्दस्वामी भवस्वामी, राहुदेव, श्रीनिवास, माधवदेव, उवटभट्ट, भास्कर मिश्र, भरतस्वामी (३) पाणिनि-व्याकरण (४) उणादि-वृत्ति (५) निघण्टु-व्याख्यायें—क्षीरस्वामी, अनन्ताचार्य (६) भोजराज का व्याकरण (७) कमल-नयन का निखिल-पद-सस्कार।[2]

इस सूची मे दुर्गाचार्य-जैसे विख्यात टीकाकार का नाम न होना सूचित करता है कि देवराज दुर्गाचार्य से पूर्ववर्ती हैं। ये भोज का नाम कई बार लेते हैं तथा व्याकरण की एक 'दैव'-नामक पुस्तक का भी बहुधा उल्लेख करते हैं। इन्होने किसी धातु-वृत्ति (सायण-माधव की नहीं) मे भी उद्धरण

---

१. डा० लक्ष्मण सरूप-सम्पादित (ऋगर्थदीपिका) भाष्य, भाग-१-४, अन्य भाग भारत के विभाजन-काल में नष्ट हो गये।
२. निघण्टुटीका (गुरुमण्डल ग्रन्थमाला), पृ० ४।

जहाँ तहाँ दिये हैं। हरदत्त (११०० ई०)[1] की पदमञ्जरी (काशिका की व्याख्या) का उद्धरण इन्होंने 'एतग्वा' (अश्वनाम)-शब्द की व्याख्या मे दिया है।[2] ये भरतस्वामी के वेदभाष्य का उल्लेख करते हैं और सायण ने अपने वेदभाष्य मे स्वय ही देवराज का उल्लेख किया है। सायण का समय चूंकि १४वीं शती है इसलिए इनके कुछ पहले प्राय. १३०० ई० में अवश्य वर्तमान रहे होगे।

(ग) दुर्गाचार्य (१३००-५०)—निरुक्त का तात्पर्य समझने मे ये सबसे अधिक सहायक हैं। उसकी विस्तृत व्याख्या मे इन्होंने अपने पाण्डित्य का पूरा प्रकर्ष दिखलाया है। स्थान-स्थान पर दार्शनिक-विवेचना मे भी इनकी अद्भुत गति देखने में आती है। इस टीका की सबसे बडी विशेषता यह है कि इन्होने निरुक्त के प्राय सभी शब्दो को अपनी व्याख्या में उद्धृत किया है इससे निरुक्त का पाठ ठीक करने में इनसे बहुत बडी सहायता मिलती है। इनकी भाषा यद्यपि सामान्यतया बहुत सरल है किन्तु दार्शनिक-विवेचना के स्थान पर आदर्श दार्शनिक-भाषा का प्रयोग करना भी ये जानते हैं। इनकी वृत्ति अपने क्षेत्र मे अद्वितीय है। उन वैदिक मन्त्रो को, जिन्हें निरुक्त मे अशत उद्धृत किया गया है, ये अपनी टीका मे पूर्णत उद्धृत करके समूचे की व्याख्या करते हैं। दुर्गाचार्य ने केवल १२ अध्यायो पर ही व्याख्या लिखी थी क्योंकि पुरानी पाण्डुलिपियों मे इतना ही अश मिलता है। परिशिष्ट की व्याख्या किसी ने बाद मे जोड दी है।

दुर्गाचार्य की वृत्ति की पुष्पिका (Colophon) मे लिखा मिलता है—"ऋज्वर्थायां निरुक्तवृत्तौ जम्बूमार्गाश्रमनिवासिन. आचार्यभगवद्दुर्गसिंहस्य कृतौ"—जिससे सभी विद्वानो ने सिद्ध किया है कि काश्मीर के जम्मू प्रदेश के निवासी तथा सन्यासी थे। इनका गोत्र वासिष्ठ था तथा ये कापिष्ठल-सहिता के अध्येता थे क्योंकि निरुक्त (४।१४) मे स्थित ऋग्वेद (३।५३।२३) की ऋचा की व्याख्या ये नहीं करते और कहते हैं—"यस्मिन्निगमे एष शब्दः (='लोधम्') सा वसिष्ठद्वेषिणी ऋक्। अहं च कापिष्ठलो वासिष्ठ। अनस्ता न निर्ब्रवीमि।"[3] अर्थात् मैं कापिष्ठल वासिष्ठ हूँ, जिस ऋचा मे 'लोध'-शब्द है वह वसिष्ठ की निन्दा करने वाली है इसलिए उसकी व्याख्या नही करता

१ Belvalkar, Systems of Sanskrit Grammar

२. निघण्टुटीका (गु० म० म०), पृष्ठ-१६२, शिखाबाधादशब्दौ०'

३. भदकमकर-सम्पादित निरुक्तवृत्ति, पृ० ३८१।

हूँ। सायणाचार्य ने उपर्युक्त ऋचा की व्याख्या में निम्नलिखित टिप्पणी दी है—"पुरा खलु विश्वामित्रशिष्यः सुदाः नाम राजर्षिरासीत्। स च केनचित्कारणेन वसिष्ठद्वेष्योऽभूत्। विश्वामित्रस्तु शिष्यस्य रक्षार्थमाभिर्ऋग्भिः वसिष्ठमशपत्। ता ऋचो वसिष्ठा न शृण्वन्ति।" अर्थात् पूर्वकाल में विश्वामित्र के शिष्य सुदास नाम के राजर्षि थे। किसी कारण से वसिष्ठ उनके द्वेषपात्र हो गये। विश्वामित्र ने शिष्य की रक्षा के लिए इन ऋचाओं से वसिष्ठ को शाप दिया। इन ऋचाओं को वसिष्ठ के गोत्र वाले नहीं सुनते।

इनकी ऋज्वर्थवृत्ति की सबसे प्राचीन पाण्डुलिपि १३८७ ई० की मिली है तथा यह बोड्ले (ऑक्सफोर्ड) पुस्तकालय में सुरक्षित है। कीथ ने इस तिथि को सत्य माना है। यह पाण्डुलिपि भृगुक्षेत्र (बम्बई-राज्य)[1] में लिखी गयी थी। इस आधार पर डा० सरूप ने अनुमान किया है कि पाण्डुलिपि को जम्मू से बम्बई जाने में ५० वर्ष तो अवश्य ही लगे होंगे, अतएव दुर्गाचार्य का समय १४वीं शती का आरम्भ मानना चाहिए। या तो ये देवराज के समकालीन थे या कुछ बाद में हुए होंगे।[2]

(घ) महेश्वर (१५०० ई०)—इन्होंने भी निरुक्त पर टीका लिखी है जो खण्डशः प्राप्त हुई है। स्कन्द और महेश्वर की टीकाओं की पाण्डुलिपियों से सुधार कर डा० सरूप ने तीन भागों में प्रकाशित कराया है। महेश्वर ने निरुक्त के टीकाकार के रूप में किसी बर्बरस्वामी का उल्लेख किया है जो स्कन्दस्वामी को छोड़कर कोई दूसरे नहीं। दुर्गाचार्य का उल्लेख ये पूर्वटीकाकार के रूप में करते हैं। दुर्ग को पूर्वत्व-प्राप्ति के लिए १५० वर्ष का अवकाश देना पर्याप्त है। इस आधार पर इनका आविर्भावकाल १५०० ई० के आसपास होना चाहिए।

इनके अलावे निघण्टु और निरुक्त के अन्य अनेक टीकाकारों के उल्लेख भर मिलते हैं, उनके कोई ग्रन्थ प्राप्त नहीं हैं। सम्भव है संसार के अज्ञात कोने में वे टीकायें मिल जायें जिनसे शोधकर्त्ता विद्वानों का उपकार हो।

(ङ) आधुनिक-विद्वानों के कार्य (१८००-१९६०)—यूरोप में संस्कृत के प्रचार होने से तथा भाषा-विज्ञान का व्यापक अध्ययन किये जाने से निरुक्त की उपयोगिता समझी गयी। सबसे पहले रॉथ ने जर्मन-भाषा में

---

१. आधुनिक भड़ौंच; पेरिप्लस् नामक रोमन-पुस्तक में इसे बेरिगाजा (Barygaza) कहा है।

२. देखिये—Dr. L. Sarup, *The Nigh. and the Nir.*, pp. 25–32

निरुक्त की भूमिका और अनुवाद प्रकाशित किया। भाषा-विज्ञान के तात्कालिक-अध्ययन का इस भूमिका मे पूरा उपयोग किया गया है तथा अनुवाद अत्यधिक परिश्रम से किया होने से रॉथ की योग्यता के अनुकूल है। रॉथ की जर्मन-भूमिका का अंग्रेजी-अनुवाद प्रो० मैकोशान ने किया जो बम्बई विश्वविद्यालय से १९१९ ई० मे प्रकाशित हुआ था।[१] विगत-शती के अन्तिम चरणो मे बंगाल के प्रसिद्ध वैदिक-विद्वान् पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने अत्यन्त परिश्रम करके निरुक्त के सुन्दर संस्करण निकाले थे। इनका 'निरुक्तालोचन' भी प्रतिभा का परिचायक है।

वर्तमान शती के निरुक्त के अध्येताओं मे डा० लक्ष्मण-सरूप का नाम अमर रहेगा। इन्होंने १९१६ ई० से १९२० ई० तक ऑक्सफोर्ड मे रह कर प्रो० मैकडोनल के अधीन निरुक्त-विषयक गवेषणा की जिस पर इन्हे डी० फिल्० की उपाधि मिली। यही नही, उन्होने अपने जीवन का अधिकाश निरुक्त मे लगा दिया। सन् १९२० ई० मे ऑक्सफोर्ड से ही उनकी निरुक्त-भूमिका (An Introduction to Nirukta) निकली जिसमे निघण्टु और निरुक्त के कर्तृत्व पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने यास्क का काल और भाषाविज्ञान मे उनका स्थान निर्धारित किया था। १९२१ मे लन्दन से निरुक्त का अंग्रेजी-अनुवाद इन्होने विशिष्ट टिप्पणियो के साथ प्रकाशित कराया। यद्यपि इस अनुवाद मे कितने ही विवादास्पद-स्थल हैं किन्तु यह अपने ढग का अनूठा ही है। पुनः १९२७ ई० में पञ्जाब विश्वविद्यालय से उन्होने अनेक हस्तलिखित-ग्रन्थो के आधार पर निघण्टु और निरुक्त का पाठ ठीककर प्रकाशित कराया। यह संस्करण इनके अद्भुत-परिश्रम का परिचायक है। दो वर्षों के बाद ही निरुक्त की सूचियाँ और परिशिष्ट प्रकाशित हुए। इसके बाद तीन भागों मे इन्होने पञ्जाब-विश्वविद्यालय से ही स्कन्दस्वामी और महेश्वर की टीकायें प्रकाशित कराईं (१९२८, ३१, ३४)। अपने छिट-पुट लेखों के द्वारा भी इन्होंने निरुक्त की काफी सेवा की है।[२]

उधर जर्मनी में स्कोल्ड ने निरुक्त का अध्ययन आरम्भ किया तथा अपना प्रबन्ध (Thesis) लुण्ड (Lund) से १९२६ ई० मे प्रकाशित कराया। इसमे इन्होंने निरुक्त के पाठ संशोधन पर सुझाव, कुछ ऐतिहासिक

१. R. N. Dandekar, *Vedic Bibliography* p, 60.

२. Dr. L. Sarup Commemoration Volume. (Sarupa Bharati)

प्रश्न, निरुक्त के वैदिक उद्धरण आदि की विवेचना के बाद यास्क के निर्वचनों की वर्णानुक्रम से सूची बना दी है।

पूना के प्रो० राजवाडे ने भी निरुक्त पर अच्छा काम किया है। सन् १९३५ ई० मे सम्पूर्ण निरुक्त का मराठी-अनुवाद प्रकाशित करने के बाद निरुक्त का प्रथम भाग (तथाकथित) सन् १९४० ई० मे पूना से प्रकाशित कराया। इसमे निरुक्त की सामान्य भूमिका, निघण्टु तथा निरुक्त (१४अध्याय) का मूल, अग्रजी मे तीन अध्यायो पर विस्तृत आलोचनात्मक टीका पचीस सूचियाँ आदि है। वस्तुत एक ही पुस्तक मे इतनी वस्तुयें कही नही मिल सकती इसलिए प्रो० राजवाड का सस्करण अनुसधान करने वाले विद्वाना क लिए बहुत उपयोगी है।

होशियारपुर स डा० सिद्धेश्वर वर्मा का ग्रथ यास्क के निवचन' (Etymologies of Yaska) प्रकाशित हुआ है जिसमे विश्लेषणात्मक विधि स यास्क के निवचनो की परीक्षा की गई है। भाषा विज्ञान की दृष्टि से यह ग्रन्थ लिखा गया है तथा यास्क का महत्त्व बहुत ऊँचा कर देता है। विद्वानों म इस ग्रथ का मूल्य बहुत अधिक है। इधर हाल मे श्रीविष्णुपद भट्टाचाय का भी एक ग्रथ निरुक्त पर निकला है।[१]

निरुक्त के विभिन्न सस्करणो मे दुर्गाचाय की टीकायें प्रकाशित हुई हैं जिनमे वेङ्कटेश्वर प्रस और बम्बई सस्कृत प्राकृत पुस्तकमाला के सस्करण अच्छे हैं। दुर्गाचाय की टीका के आधार पर ही प० मुकुन्द झा बख्शी ने भी सस्कृत टीका लिखी है जो निणयसागर प्रस स प्रकाशित है। हिन्दी मे दुर्गाचाय के आधार पर प० सीताराम शास्त्री ने अपना विशाल भाष्य छपाया है। मिहिरचन्द्र पुष्करणा ने भी निरुक्त की अच्छी टीका की है। इस प्रकार भारतीय प्रकाशको और विद्वानो ने क्रमश उत्तम प्रकाशनो और रचनाओ द्वारा निरुक्त के क्षत्र मे प्रशसनीय काय किया है।

---

१ Yaska s Nirukta and the Science of Etymology (An Historical and Critical Survey) by Bishnupada Battacharya

दशम–परिच्छेद

प्रस्तुत-प्रयास

[अंग्रेजी और संस्कृत टीकायें—हिन्दी-भाष्य—उसकी अनुपयोगिता—संक्षिप्त संस्करण की आवश्यकता—अनुवाद-कार्य—कठिनाइयाँ—मूलपाठ—धन्यवाद-ज्ञापन—क्षमा-याचना।]

अभी तक निरुक्त के बीसों संस्करण विभिन्न स्थानों से निकल चुके हैं किन्तु वे सभी लोगों के लिए समान-रूप से लाभदायक नहीं। दुर्गाचार्य और मुकुन्द झा की टीकायें (जो इस समय सुलभ हैं) संस्कृत में होने के कारण उनका उपयोग केवल संस्कृतज्ञ लोग ही कर सकते हैं। डा० लक्ष्मणसरूप का अनुवाद और मूल-संस्करण अवश्य उपयोगी है किन्तु आज दुर्लभ हो गया है। फिर केवल अंग्रेजी जानने वालों के लिए ही वह उपयोगी है। प्रो० राजवाडे की अंग्रेजी-टीका इतनी विस्तृत है कि उसमें से तथ्य निकलना धैर्य का काम होगा, वस्तुतः उसमें निष्कर्ष कम निकाला गया है, विवेचना अधिक की गई है। अनुसन्धान-प्रिय व्यक्तियों के लिए तो ये ग्रन्थ अत्यन्त उपयुक्त हैं किन्तु सामान्य पाठकों के लिए नहीं।

हिन्दी में आचार्य सीताराम शास्त्री का भाष्य निकला है जो अपनी विशालता के साथ-साथ विषय-वस्तु की दृष्टि से भी काफी समृद्ध है। यह विशालता प्रो० राजवाडे के निरुक्त जैसी नहीं। राजवाडे ने तो अपनी आलोचनात्मक-दृष्टि का पूर्ण-परिचय दिया है जिससे उनकी पक्ति-पक्ति में अनुसंधान चलता रहता है—पूरी टीका में वे स्वयं खड़े हैं मानो पढ़ाते जा रहे हों। दूसरी ओर शास्त्री जी ने दुर्गाचार्य का अक्षरशः अनुगमन तो किया है,ही, भारतीय पण्डितों में सहज प्राप्य विषयान्तर में आने की प्रवृत्ति भी इनमें खूब है; आलोचनात्मक दृष्टिकोण तो इनसे छू भी नहीं गया है। कतिपय रूढ़ियाँ खटकती ही हैं, भाषा की शुद्धि पर भी ध्यान नहीं दिया गया है। एम. ए. में पढ़ने के समय तथा कुछ छात्रों को पढ़ाने के समय मैंने इसका भी विधिवत् अध्ययन किया था, किन्तु जब बहुत-सी व्यर्थ की बातें आने लगीं तो परेशान हो उठा। प्रस्तुत कार्य-सम्पादन का विचार उसी समय सूत्ररूप में पड़ गया था। यह टीका बहुत पाण्डित्यपूर्ण है किन्तु उचित संयम का इसमें अभाव है।

आज निरुक्त का पर्याप्त अध्ययन हो रहा है। सामान्य पाठकों में भी यह प्रवृत्ति देखने में आ रही है कि जरा देखें तो, निरुक्त में क्या है? कैसे लोग इसे भाषा-विज्ञान का प्रथम ग्रन्थ मानते हैं? हिन्दी-भाषा में कोई ऐसा संस्करण नहीं जो पाठकों की इस जिज्ञासा को शान्त करे। कई विश्वविद्यालयों में भी यह पाठ्य ग्रन्थ है और अनुवाद या व्याख्या के प्रश्न आते हैं। आज के वैज्ञानिक-युग में लोगों को इतना समय कहाँ कि धैर्यपूर्वक एक विस्तृत टीका पढ़ें और छः महीने के बाद एक पंक्ति का निष्कर्ष निकाल सकें। यद्यपि यह कहना ठीक है कि "सत्य छोटा ही होता है परन्तु इसे पाने की विधि बड़ी लम्बी होती है"[1] फिर भी सरल-भाषा में विषय को समझा देना आज की माँग है। इसी विचार से प्रेरित होकर मैंने प्रस्तुत कार्य में हाथ लगाया।

दिसम्बर, १९५८ में मैंने निरुक्त का अनुवाद आरम्भ किया तथा दूसरे ही महीने में प्रथम, द्वितीय और सप्तम अध्याय का अनुवाद पूरा हो गया। कुछ दिनों तक वह यों ही पड़ा रहा। समय निकाल कर उसे परिष्कृत किया तथा केवल अनुवाद को ही मूल वैदिक-मन्त्रों के साथ प्रकाशित करने की इच्छा की। अब मैंने मई महीने (१९५९) में चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस के अध्यक्ष श्री कृष्णदास जी गुप्त से भेंट की जिन्होंने परामर्श दिया कि इसमें मूल भी दिया जाय तो अच्छा रहे। पटने आकर विविध कार्यों में व्यस्त हो जाने से यह काम महीनों बन्द रहा। दुर्गापूजा के अवकाश में समय निकालकर मैंने मूल, अनुवाद (परिष्कार के साथ) और स्थान-स्थान पर विशिष्ट व्याख्यात्मक टिप्पणियाँ देकर पाण्डुलिपि तैयार कर दी।

अनुवादक का काम बड़ा कठिन है, जिसे भुक्तभोगी ही समझ सकता है। वेदाङ्गों का शाब्दिक अनुवाद करना तो और भी दुष्कर है। उसपर भी निरुक्त में पाठ-भेद के कारण तथा वाक्यों के अपूर्ण होने के कारण व्याख्याओं में ही विभेद है, अनुवादक को पद पद पर टक्कर खाना पड़ता है। प्रस्तुत अनुवाद में अत्यधिक कोष्ठों का प्रयोग इसे भली-भाँति सिद्ध करता। इसमें पारिभाषिक शब्द ज्यों के त्यों रखने की यथासम्भव चेष्टा की गयी है, कहीं कहीं छोटे कोष्ठों में उनके अर्थ भी दिये गये हैं। विवादास्पद स्थल पर टिप्पणियाँ हैं नहीं तो केवल अनुवाद ही दिया गया है। मेरा नाम भी उन्हीं टीकाकारों की श्रेणी में रखना चाहिए जो दुरूह स्थानों की टीका में 'स्पष्टमेतत्' कह कर

---

१ Truth is always very little but the process to attain it is ever long enough

पार कर जाते हैं और सभी लोगो के समझने लायक स्थान मे अपने पाण्डित्य का पूरा प्रकर्ष दिखलाने लगते हैं।

अस्तु, अनुवाद को शाब्दिक (literal) बनाने में कुछ उठा नही रखा है। इसलिए जो बातें मूल मे नही उन्हे देने के लिए (यदि अर्थ स्पष्ट नही हो रहा हो तभी) बडे कोष्ठो का प्रयोग हुआ है, भाव समझाने के लिए या शब्दों का अर्थ देने के लिए छोटे कोष्ठ ही प्रयुक्त हुए हैं। वैदिक मन्त्रो के अनुवाद मे बडी सावधानी से काम लिया गया है। पहले तो मैंने उनका पद्यानुवाद किया था जिन्हे परिशिष्ट मे दिया गया है परन्तु बाद मे छात्रो की उपयोगिता का ध्यान रखकर ऋचाओ का अन्वय करके मूल शब्द को कोष्ठ मे रखते हुए हिन्दी अनुवाद अलग-अलग शब्दो का दिया गया है। आशा है इससे विशेष सुविधा रहेगी। प्रत्येक शब्द का अर्थ अलग-अलग भी हो गया और पूरे मन्त्र का शाब्दिक-अनुवाद भी। कुछ स्थानो को छोडकर मैंने दुर्ग की व्याख्या का ही अवलम्बन किया है। मन्त्रो के अनुवाद मे कही-कही विदेशी विद्वानो का भी आश्रय लिया गया है जिसे उचित समझकर भारतीयता-प्रेमी पण्डित लोग कृपया मुझे क्षमा करेंगे।

निरुक्त के दो प्रकार के विभाजन हैं—महाराष्ट्र संस्करण और गुर्जर-संस्करण। पहले मे अध्याय को सीधे परिच्छेदों मे ही बाँट दिया गया है किन्तु गुर्जर संस्करण मे अध्याय पहले पादो मे बँटे हैं तब परिच्छेदों मे। दोनों संस्करणों के परिच्छेद आगे-पीछे होते ही रहते हैं। मैंने गुर्जर पाठ से पाद क्रम और महाराष्ट्र-पाठ से परिच्छेद-क्रम लिया है। आधुनिक उद्धरणों मे महाराष्ट्र-पाठ का ही आश्रय लिया जाता है। प्रस्तुत-संस्करण मे खिचडी के द्वारा दोनों की उपयोगिता समझी जा सकती है। निरुक्त का पाठ मैंने प्रो० राजवाडे के अनुसार रखा है, यथासम्भव अर्थ के स्पष्टीकरण के लिए विभिन्न विराम चिह्नों का भी प्रयोग किया गया है। मूल के सन्धियुक्त पदों को यथा-साध्य तोडने की चेष्टा रही है किन्तु इतना ही कि 'संहितैकपदे नित्या०'[१] का उल्लंघन न हो।

ग्रन्थ रचना के मूल प्रेरक श्री महताव अली एम० ए० को धन्यवाद देना मेरा प्रथम कर्तव्य है। इन्होंने अपनी एम० ए० परीक्षा (संस्कृत) के लिए

१ पूरा श्लोक यों है—संहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयो।
नित्या समासे वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते॥

मुझसे वेद और व्याकरण पढते समय सदा प्रेरित किया है। इसके बाद अपनी शिष्या दीपाली मल्लिक (षष्ठवर्ष संस्कृत, पटना विश्वविद्यालय) का भी मैं पूरा कृतज्ञ हूँ जिसने निरुक्त का अपना पूरा पाठ्यांश मुझसे पढकर मुझे अधिकाधिक अध्ययन करने का अवसर दिया। अनुवाद के बाद भी 'आपका निरुक्त कब छप रहा है ?' इत्यादि वाक्यों से उसने बहुत उत्साहित किया है जिससे यह कार्य इतना शीघ्र हो सका। यद्यपि वह धन्यवाद की ही है परन्तु उसे पुन धन्यवाद देना मेरा अपना कर्त्तव्य है। अपने असूयकों का भी मैं कम कृतज्ञ नहीं हूँ जिन्होंने निन्दा और कटु आलोचना द्वारा अपनी तो हानि की किन्तु मेरा उत्साह द्विगुणित कर दिया।

अपने पूज्य-गुरु स्वर्गीय डा० तारापद चौधुरी, एम् ए., पी. एच डी. (लन्दन) का किन शब्दों में स्मरण करूँ ? यदि वे इसे प्रकाशित देखते ! निरुक्त के पूर्वाचार्य तो ग्रन्थ के सर्वस्व है ही, सब कुछ तो उन्हीं का है, मैंने केवल सजा दिया है। नव-नालन्दा-महाविहार के पुस्तकालय-कर्मधारियों का भी मैं आभारी हूँ जिन्होंने उपयुक्त पुस्तकें देकर भूमिका और परिशिष्ट को सँवारने में काफी सहयोग दिया है। अपने पूज्य भाई प० मुरली मनोहर शर्मा का भी मैं उनकी विविध-सहायताओं के लिए कृतज्ञ हूँ।

मनुष्य त्रुटियों का भाण्डार है। कितनी सावधानी रखने पर भी इस पुस्तक में भी हजारों त्रुटियाँ होंगी। मैं सभी विद्याप्रेमियों से करबद्ध-प्रार्थना करता हूँ कि वे मेरी इस तुच्छ कृति को एक बार आलोचनात्मक-दृष्टि से देख कर गलतियों की सूचना अवश्य दें। वस्तुत, इसमें जो भी गुण हैं, पूर्वाचार्यों के हैं। हाँ, भूलें सब मेरी ही हैं। यदि मेरी इस प्रथम कृति से पाठकों में अधिक जानने की रुचि जागृत हुई और कुछ भी सहायता मिली तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूँगा तथा शीघ्र ही अन्य अध्यायों को खण्डश. प्रकाशित कराऊँगा।

अन्त में मैं कालिदास की कमनीय कविता से अपना वक्तव्य समाप्त करता हूँ—

पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते मूढ परप्रत्ययनेयबुद्धि.॥

॥ ॐ शान्ति शान्तिः शान्ति.॥

निघण्टु-पाठः

[निरुक्त के द्वितीय अध्याय के द्वितीय-पाद से निघण्टु के शब्दों की व्याख्या हुई है, अतः पाठकों की सुविधा के लिए मूल निघण्टु-पाठ दिया जा रहा है। बीच में इनसे निरुक्त के सम्बन्ध को समझाया जायगा। प्रत्येक नाम की व्युत्पत्ति देवराज यज्वा ने की है।]

प्रथमोऽध्यायः[1]

ॐ गौ । ग्मा । ज्मा । क्ष्मा । क्षा । क्षमा । क्षोणी । क्षितिः । अवनि । उर्वी । पृथ्वी । मही । रिप । अदितिः । इळा । निर्ऋति । भू । भूमि । पूषा । गातु । गोत्रा । इत्येकविंशति पृथिवीनामधेयानि ॥ १ ॥

हेम । चन्द्रम् । रुक्मम् । अय । हिरण्यम् । पेश । कृशनम् । लोहम् । कनकम् । काञ्चनम् । भर्म । अमृतम् । मरुत् । दत्रम् । जातरूपम् । इति पञ्चदश हिरण्यनामानि ॥ २ ॥

अम्बरम् । वियत् । व्योम । बर्हिः । धन्व । अन्तरिक्षम् । आकाशम् । आप । पृथिवी । भूः । स्वयम्भू । अध्वा । पुष्करम् । सगर । समुद्र । अध्वरम् । इति षोळशान्तरिक्षनामानि ॥ ३ ॥

स्व । पृश्नि । नाक । गौः । विष्टप् । नभः । इति षट्साधारणानि ॥ ४ ॥

खेदय । किरणा । गाव । रश्मय । अभीशवः । दीधितयः । गभस्तय । वनम् । उस्राः । वसव । मरीचिपा । मयूखा । सप्त ऋषय । साध्या । सुपर्णा । इति पञ्चदश रश्मिनामानि ॥ ५ ॥

आशा । काशा । उपरा । आष्ठा । काष्ठा । व्योम । ककुभः । हरित । इत्यष्टौ दिङ्नामानि ॥ ६ ॥

श्यावी । क्षपा । शर्वरी । अक्तु । ऊर्म्या । राम्या । यम्या । नम्या । दोषा । नक्ता । तम । रज । असिक्नी । पयस्वती । तमस्वती । घृताची । शिरिणा । मोकी । शोकी । ऊध । पय । हिमा । वस्वी । इति त्रयोविंशति रात्रि-नामानि ॥ ७ ॥

विभावरी । सूनरी । भास्वती । ओदती । चित्रामघा । अर्जुनी । वाजिनी ।

---

१. प्रथमाध्यायान्तर्गतानि पदानि तु निरुक्तस्य द्वितीयाध्याय एव नामग्राहं वर्ग-मुद्दिश्य व्याख्यातानीति सुधीभिरवधेयम् ।

वाजिनीवती । सुम्नावरी । अहना । द्योतना । श्वत्या । अरुषी । सूनृता । सूनृतावती । सूनृतावरी । इति षोळश उषोनामानि ॥ ८ ॥

वस्तो । द्यु । भानु । वासरम । स्वसराणि । घ्रंस । घर्म । घृण । दिनम् । दिवा । दिवेदिवे । द्यविद्यवि । इति द्वादश अहर्नामानि ॥ ९ ॥

अद्रि । ग्रावा । गोत्र । वल । अश्न । पुरुभोजा । वलिशान । अश्मा । पर्वत । गिरि । व्रज । चरु । वराह । शम्बर । रौहिण । रैवत । फलिग । उपर । उपल । चमस । अहि । अभ्रम् । बलाहक । मेघ । दृति । ओदन । वृषन्धि । वृत्र । असुर । कोश । इति त्रिंशन्मेघनामानि ॥ १० ॥

श्लोक । धारा । इळा । गौ । गौरी । गान्धर्वी । गभीरा । गम्भीरा । मन्द्रा । मन्द्राजनी । वाशी । वाणी । वाणीची । वाण । पवि । भारती । धमनि । नाळी । मेळि । मेना । सूर्या । सरस्वती । निवित् । स्वाहा । वग्नु । उपब्दि । मायु । काकुत् । जिह्वा । घोष । स्वर । शब्द । स्वन । ऋक् । होत्रा । गी । गाथा । गण । धना । ग्ना । विपा । नना । कशा । धिषणा । नौ । अक्षरम् । मही । अदिति । शची । वाक् । अनुष्टुप् । धेनु । वल्गु । गल्दा । सर । सुपर्णी । बेकुरा । इति सप्तपञ्चाशत् वाङ्नामानि ॥ ११ ॥

अर्ण । क्षोद । क्षद्म । नभ । अम्भ । कबन्धम् । सलिलम् । वा । वनम् । घृतम् । मधु । पुरीषम् । पिप्पलम् । क्षीरम् । विषम् । रेत । कश । जन्म । बवूकम । बुसम । तुग्र्या । बुबुरम । सुक्षम । धरुणम् । सुरा । अर-रिन्दानि । ध्वस्मन्वत् । जामि । आयुधानि । क्षप । अहि । अक्षरम् । स्रोत । तृप्ति । रस । उदकम् । पय । सर । भेषजम । सह । शव । यह । ओज । सुखम् । क्षत्रम् । आवया । शुभम् । यादु । भूतम् । भुवनम् । भविष्यत् । आप । महत् । व्योम । यश । मह । सर्णीकम् । स्वृतीकम् । सतीनम् । गहनम् । गभीरम् । गम्भरम । ईम । अन्नम् । हवि । सद्म । सदनम् । ऋतम । योनि । ऋतस्य योनि । सत्यम । नीरम । रयि । सत । पूर्णम । सर्वम । अक्षितम । बर्हि । नाम । सर्पि । अप । पवित्रम् । अमृतम । इन्दु । हेम । स्व । सर्गा । शम्बरम् । अभ्वम । वपु । अम्बु । तोयम । तूयम । कृपीटम । शुक्रम । तेज । स्वधा । वारि । जलम । जलाषम । इदम । इत्येकशतमुदकनामानि ॥ १२ ॥

अवनय । यव्या । खा । सीरा । स्रोत्या । एन्य । धुनय । रुजाना । वक्षणा । खादोअर्णा । रोधचक्र । हरित । सरित् । अग्रुव । नभन्व । वध्व । हिरण्यवर्णा । रोहित । सस्रुत । अर्ण । सिन्धव । कुल्या । वय ।

उर्व्यः । इरावत्यः । पार्वत्यः । स्रवन्त्यः । ऊर्जस्वत्यः । पयस्वत्यः । तरस्वत्यः । सरस्वत्यः । हरस्वत्यः । रोधस्वत्यः । भास्वत्यः । अजिराः । मातरः । नद्यः । इति सप्तत्रिंशत् नदीनामानि ॥ १३ ॥

अत्यः । हयः । अर्वा । वाजी । सप्तिः । वह्निः । दधिक्राः । दधिक्रावा । एतग्वः । एतशः । पैद्वः । दौर्गहः । औच्चैःश्रवसः । तार्क्ष्यः । आशुः । ब्रध्नः । अरुषः । मांश्चत्वः । अव्यथयः । श्येनासः । सुपर्णाः । पतङ्गाः । नरः । ह्वार्याणाम् । हंसासः । अश्वाः । इति षड्विंशतिः अश्वनामानि ॥ १४ ॥

हरी इन्द्रस्य । रोहितोऽग्नेः । हरितः आदित्यस्य । रासभावश्विनोः । अजाः पूष्णः । पृषत्यः मरुताम् । अरुण्यो गावः उषसाम् । श्यावाः सवितुः । विश्वरूपाः बृहस्पतेः । नियुतः वायोः । इति दश आदिष्टोपयोजनानि ॥ १५ ॥

भ्राजते । भ्राशते । भ्राश्यति । दीदयति । शोचति । मन्दते । भन्दते । रोचते । ज्योतते । द्योतते । द्युमत् । इति एकादश ज्वलतिकर्माणि ॥ १६ ॥

जमत् । कल्मलीकिनम् । जञ्जणाभवन् । मल्मलाभवन् । अर्चिः । शोचिः । तपः । तेजः । हरः । हृणिः । शृङ्गाणि २ । इति एकादश ज्वलतो नामधेयानि ॥ १७ ॥

पूर्णसंख्या ४१४

द्वितीयोऽध्यायः[1]

अप । अप्न । दंस । वेप । वेप । विष्ट्वी । व्रतम् । कर्वरम । शकणम् । दावम । क्रतु । करणानि । करांसि । करिक्रत् । करन्ती । चक्रत् । कर्त्वम् । कर्तो । कर्तवै । कृत्वी । धी. । शची । शमी । शिमी । शक्ति । शिल्पम् । इति षड्विंशति कर्मनामानि ॥ १ ॥

तुक् । तोकम् । तनय । तोकम । तक्म । शेष । अप्न । गय । जा । अपत्यम् । यहु । सूनु । नपात् । प्रजा । बीजम् । इति पञ्चदश अपत्य-नामानि ॥ २ ॥

मनुष्या । नर । धवा । जन्तव । विश । क्षितय । कृष्टय । चर्षणय । नहुष । हरय । मर्या । मर्त्या । मर्ता । व्राता । तुर्वशाः । द्रुह्यव । आयवः । यदवः । अनव । पूरव । जगत । तस्थुषः । पञ्चजना । विवस्वन्तः । पृतनाः । इति पञ्चविंशति मनुष्यनामानि ॥ ३ ॥

आयती । च्यवाना । अभीशू । अप्नवाना । विनङ्गृसौ । गभस्ती । करस्नौ । बाहू । भुरिजौ । क्षिपस्ती । शक्वरी । भरित्रे । इति द्वादश बाहु नामानि ॥ ४ ॥

अगुवः । अण्व्य । क्षिपः । विश । शर्याः । रशनाः । धीतयः । अथर्य. । विप । कक्ष्या । अवनयः । हरितः । स्वसारः । जामय । सनाभय । योक्त्राणि । योजनानि । धुर । शाखाः । अभीशवः । दीधितयः । गभस्तय । इति द्वाविंशति अङ्गुलिनामानि ॥ ५ ॥

वश्मि । उश्मसि । वेति । वेनति । वेसति । वाञ्छति । वष्टि । वनोति । जुषते । हर्यति । आ चके । उशिक् । मन्यते । छन्त्सत् । चाकनत् । चकमानः । कनति । कानिषत् । इति अष्टादश कान्तिकर्माणि ॥ ६ ॥

अन्ध । वाज । पय । श्रवः । पृक्षः । पितुः । सुत । सिनम् । अव । क्षु । धासिः । इरा । इळा । इषम् । ऊर्क् । रसः । स्वधा । अर्क । क्षद्म । नेम । ससम् । नमः । आयुः । सूनृता । ब्रह्म । वर्च । कीलालम् । यशः । इति अष्टाविंशतिः अन्ननामानि ॥ ७ ॥

---

१ द्वितीयाध्यायगतानि पदानि निरुक्ते तृतीयाध्यायस्य प्रथमद्वितीयपादयोरेव वर्णितानि ।

आ वयति । भर्वति । बभस्ति । वेति । वेवेट्टि । अविष्यन् । बप्सति । भसथः । बब्धाम् । ह्वरति । इति दश अत्तिकर्माणः ॥ ८ ॥

ओजः । पाजः । शवः । तवः । तरः । त्वक्षः । शर्धः । बाधः । नृम्णम् । तविषी । शुष्मम् । शुष्णम् । दक्षः । वीळु । च्यौत्नम् । शूषम् । सहः । यहः । वधः । वर्गः । वृजनम् । वृक् । मज्मना । पौंस्यानि । धर्णसिः । द्रविणम् । स्यन्द्रासः । शम्बरम् । इति अष्टाविंशतिः बलनामानि ॥ ९ ॥

मघम् । रेक्णः । रिक्थम् । वेदः । वरिवः । श्वात्रम् । रत्नम् । रयिः । क्षत्रम् । भगः । मीळ्हुम् । गयः । द्युम्नम् । इन्द्रियम् । वसु । रायः । राधः । भोजनम् । तना । नृम्णम् । बन्धुः । मेधा । यशः । ब्रह्म । द्रविणम् । श्रवः । वृत्रम् । ऋतम् । इति अष्टाविंशतिरेव धननामानि ॥ १० ॥

अघ्न्या । उस्रा । उस्रिया । अही । मही । अदितिः । इळा । जगती । शक्वरी । इति नव गोनामानि ॥ ११ ॥

रेळते । हेळते । भामते । भृणीयते । भ्रीणाति । भ्रेषति । दोधति । वनुष्यति । कम्पते । झोजते । इति दश क्रुध्यतिकर्माणः ॥ १२ ॥

हेळः । हरः । हृणिः । त्यजः । भामः । एहः । ह्वरः । तपुषी । जूर्णिः । मन्युः । व्यथिः । इति एकादश क्रोधनामानि ॥ १३ ॥

वर्तते । अयते । लोटते । लोठते । स्यन्दते । कसति । सर्पति । स्यमति । स्रवति । स्रंसते । अवति । श्चोतति । ध्वंसति । वेनति । मार्ष्टि । भुरण्यति । शवति । कालयति । पेलयति । कण्टति । पिस्यति । विस्यति । मिस्यति । प्रवते । प्लवते । च्यवते । कवते । गवते । नवते । क्षोदति । नक्षति । सक्षति । म्यक्षति । सचति । ऋच्छति । तुरीयति । चतति । अतति । गाति । इयक्षति । सश्चति । स्मरति । रंहति । यतते । भ्रमति । भ्रजति । रजति । लजति । क्षियति । धमति । मिनाति । ऋण्वति । ऋणोति । स्वरति । सिसर्ति । वेविष्टि । योयोष्टि । रिणाति । रीयते । रेजति । दभ्नाति । दभ्नोति । युध्यति । धन्वति । अरुष्यति । आर्यति । ढीयते । तकति । दीयति । ईयति । फणाति । हनति । अर्दति । मर्दति । ससृते । असते । हर्यति । इयर्ति । ईर्ते । ईङ्खते । जयति । यशात्नति । गन्ति । आ गनीगन्ति । जङ्गन्ति । जिन्वति । जसति । गमति । घ्रति । घ्राति । घ्रयति । वहते । रणयति । जेहते । ध्वः कति । क्षुम्पति । स्माति । वाति । याति । इयति । द्राति । दूळति । एजति । जमति । जवति । वञ्चति । अनिति । पवते । हन्ति । सेधति । अगन् । अजगन् । जिगाति । पत्नि । दन्द्रति । द्रमति । द्रवति । वेति । इयन्तात् । एति । जगायात् । अपुप्रुः । इति द्वाविंशशतं गतिकर्माणः ॥ १४ ॥

नु । मक्षु । द्रवत् । ओषम् । जीराः । जूर्णिः । शूर्ताः । शूघनासः । शीभम् । तृषु । तूयम् । तूर्णिः । अजिरम् । भुरण्युः । शु । आशु । प्राशुः । तूतुजिः । तूतुजानः । तुज्यमानासः । अज्राः । साचीवित् । द्युगत् । ताजत् । तरणिः । वातरंहाः । इति षड्विंशतिः क्षिप्रनामानि ॥ १५ ॥

तळित् । आसात् । अम्बरम् । तुर्वशे । अस्तमीके । आके । उपाके । अर्वाके । अन्तमानाम् । अवमे । उपमः । इति एकादश अन्तिकनामानि ॥ १६ ॥

रणः । विवाक् । विखादः । नदनुः । भरे । आक्रन्दे । आहवे । आजौ । पृतनाज्यम् । अभीके । समीके । ममसत्यम् । नेमधिता । सङ्काः । समितिः । समनम् । मीळ्हे । पृतनाः । स्पृधः । मृधः । पृत्सु । समत्सु । समर्ये । समरणे । समोहे । समिथे । सख्य । सगे । संयुगे । सगथे । सगमे । वृत्रतूर्ये । पृक्षे । आणौ । शूरसातौ । वाजसातौ । समनीके । खले । खजे । पौंस्ये । महाधने । वाजे । अज्म । सद्म । संयत् । संवतः । इति षट्चत्वारिंशत् संग्रामनामानि ॥ १७ ॥

इन्वति । नक्षति । आक्षाणः । आनट् । आष्ट । आपानः । अशत् । नशत् । आनशे । अश्नुते । इति दश व्याप्तिकर्माणि ॥

दभ्नोति । श्नथयति । ध्वरति । धूर्वति । वृणक्ति । वृश्चति । कृणति । कृन्तति । श्नथिति । नमते । अर्दयति । स्तृणाति । स्नेहयति । यातयति । स्फुरति । स्फुलति । निवपन्तु । अवतिरति । वियातः । आतिरत । तळित् । आखण्डल । दृणाति । रणाति । शृणाति । शम्नाति । तृणेळ्हि । ताळ्हि । नितोशते । निबर्हयति । मिनाति । मिनोति । धमति । इति त्रयस्त्रिंशत् वधकर्माणः ॥ १९ ॥

दिद्युत् । नेमिः । हेतिः । नम । पविः । सृकः । वृकः । वधः । वज्रः । अर्कः । कुत्सः । कुलिशः । तुञ्जः । तिग्म । मेनिः । स्वधिति । सायकः । परशुः । इति अष्टादश वज्रनामानि ॥ २० ॥

इरज्यति । पत्यते । क्षयति । राजति । इति चत्वारि ऐश्वर्यनामानि ॥२१॥

राष्ट्री । अर्यः । नियुत्वान् । इन २ । इति चत्वारि ईश्वरनामानि ॥२२॥

पूर्णसंख्या ५१६

तृतीयोऽध्यायः[1]

उरु । तुवि । पुरु । भूरि । शश्वत् । विश्वम् । परीणसा । व्यानशिः । शतम् । सहस्रम् । सलिलम् । कुवित् । इति द्वादश बहुनामानि ॥ १ ॥

ऋहत् । ह्रस्वः । निधृष्वः । मायुकः । प्रतिष्ठा । कृधु । वम्रकः । दभ्रम् । अर्भकः । क्षुल्लकः । अल्पम् । इति एकादश ह्रस्वनामानि ॥ २ ॥

महत् । ब्रध्नः । ऋष्वः । बृहत् । उक्षितः । तवसः । तविषः । महिषः । अभ्वः । ऋभुक्षाः । उक्षा । विहायाः । यह्वः । ववक्षिथ । विवक्षसे । अम्भृणः । माहिनः । गभीरः । ककुहः । रभसः । व्राधन् । विरप्शी । अद्भुतम् । बर्हिष्ठः । बर्हिषत् । इति पञ्चविंशतिः महन्नामानि ॥ ३ ॥

गयः । कृदरः । गर्तः । हर्म्यम् । अस्तम् । पस्त्यम् । दुरोणे । नीळम् । दुर्याः । स्वसराणि । अमा । दमे । कृत्तिः । योनिः । सद्म । शरणम् । वरूथम् । छर्दिः । छदिः । छाया । शर्म । अज्म । इति द्वाविंशतिः गृहनामानि ॥ ४ ॥

इरज्यति । विधेम । सपर्यति । नमस्यति । दुवस्यति । ऋध्नोति । ऋणद्धि । ऋच्छति । सपति । विवासति । इति दश परिचरणकर्माणः ॥ ५ ॥

शिम्बाता । शतरा । शातपन्ता । शिल्गुः । स्यूमकम् । शेवृधम् । मयः । सुग्म्यम् । सुदिनम् । शूषम् । शुनम् । शग्मम् । भेषजम् । जलाषम् । स्योनम् । सुम्नम् । शेवम् । शिवम् । शम् । कम् । इति विंशतिः सुखनामानि ॥ ६ ॥

निर्णिक् । वव्रिः । वर्पः । वपुः । अमतिः । अप्सः । प्सुः । अप्नः । पिष्टम् । पेशः । कृशनम् । मरुत् । अर्जुनम् । ताम्रम् । अरुषम् । शिल्पम् । इति षोडश रूपनामानि ॥ ७ ॥

अस्रेमा । अनेमा । अनेद्यः । अनवद्यः । अनभिशस्त्यः । उक्थ्यः । सुनीथः । पाकः । वामः । वयुनम् । इति दश प्रशस्यनामानि ॥ ८ ॥

केतुः । केतः । चेतः । चित्तम् । क्रतुः । असुः । धीः । शची । माया । वयुनम् । अभिख्या । इति एकादश प्रज्ञानामानि ॥ ९ ॥

बट् । श्रत् । सत्रा । अद्धा । इत्था । ऋतम् । इति षट् सत्यनामानि ॥ १० ॥

चिकयत् । चाकनत् । आचक्ष्म । चष्टे । विचष्टे । विचर्षणिः । विश्वचर्षणिः । अवचाकशत् । इति अष्टौ पश्यतिकर्माणः ॥ ११ ॥

---

१. तृतीयाध्यायगतानि पदानि निरुक्ते तृतीयाध्यायेऽन्त्यपादयोर्व्याख्यातानि ।

हिरुम् । नुकम् । सुकम् । आहिरुम् । आकीम् । नकि: । माकि: । नकीम् । आकृतम् । इति नव उत्तराणि पदानि सर्वपदसमाम्नानाय ॥ १२ ॥

इदमिव । इद यथा । अग्निर्न ये । चतुरश्चिद्ददमानात् । ब्राह्मणा व्रतचारिण: । वृक्षस्य नु ते पुरुहूत वयाः । जार आ भगम् । मेषो भूतोऽभि यन्नयः । तद्रूपः । तद्वर्णः । तद्वत् । तथा । इति उपमा: ॥ १३ ॥

अर्चति । गायति । रेभति । स्तोभति । गूर्धयति । गृणाति । जरते । ह्वयते । नदति । पृच्छति । रिहति । धमति । कृपयति । कृपण्यति । पनस्यति । पनायते । वल्गूयति । मन्दते । मन्दरेति । छन्दति । छदयते । शशमानः । रञ्जयति । रजयति । शंसति । स्तौति । यौति । रौति । नौति । भनति । पणायति । पणते । सपति । पपृक्षाः । महयति । वाजयति । पूजयति । मन्यते । मदति । रसति । स्वरति । वेनति । मन्द्रयते । जल्पति । इति चतुश्चत्वारिंशदर्चतिकर्माणः ॥ १४ ॥

विप्रः । विग्रः । गृत्सः । धीरः । वेनः । वेधाः । कण्वः । ऋभुः । नवेदाः । कविः । मनीषी । मन्धाता । विधाता । विपः । मनश्चित् । विपश्चित् । विपन्यवः । आकेनिपः । उशिजः । कीस्तासः । अद्धातयः । मतयः । मतुथाः । वाघतः । इति चतुर्विंशतिः मेधाविनामानि ॥ १५ ॥

रेभः । जरिता । कारुः । नदः । स्तामुः । कीरिः । गौः । सूरिः । नादः । छन्दः । स्तुप् । रुद्रः । कृपण्युः । इति त्रयोदश स्तोतृनामानि ॥ १६ ॥

यज्ञः । वेनः । अध्वरः । मेधः । विदथः । नार्यः । सवनम् । होत्रा । इष्टिः । देवताता । मखः । विष्णुः । इन्दुः । प्रजापतिः । घर्मः । इति पञ्चदश यज्ञनामानि ॥ १७ ॥

भरताः । कुरवः । वाधतः । वृक्तबर्हिषः । यतस्रुचः । मरुतः । सबाधः । देवयवः । इति अष्टौ ऋत्विङ्नामानि ॥ १८ ॥

ईमहे । यामि । मन्महे । दद्धि । शग्धि । पूर्धि । मिमिढ्ढि । मिमीहि । रिरिड्ढि । रिरीहि । पीपरत् । यन्तारः । यन्धि । इषुध्यति । मदेमहि । मनामहे । मायते । इति सप्तदश याच्ञाकर्माणः ॥ १९ ॥

दाति । दाशति । दासति । राति । रासति । पृणक्षि । पृणाति । शिक्षति । तुञ्जति । मंहते । इति दश दानकर्माणः ॥ २० ॥

परिचरण । पक्ष । सपर्यं । अत्रिय: । इति चत्वारः । अध्येषणाकर्माणि ॥२१॥

स्वपिति । सस्ति । इति [illegible] स्वपितिकर्माणौ ॥ २२ ॥

कूपः । कातुः । कर्तः । वव्रः । काटः । खातः । अवतः । क्रिविः । सूदः । उत्सः । ऋश्यदात् । कारोतरात् । कुशयः । केवटः । इति चतुर्दश कूपनामानि । तृपुः । तक्वा । रिभ्वा । रिपुः । रिक्वा । रिहायाः । तायुः । तस्करः । वनर्गुः । हुरश्चित् । मुषीवान् । मलिम्लुचः । अघशंसः । वृकः । इति चतुर्दश स्तेननामानि ॥ २४ ॥

निण्यम् । सस्वः । सनुतः । हिरुक् । प्रतीच्यम् । अपीच्यम् । इति निर्णीतान्तर्हितनामधेयानि ॥ २५ ॥

आके । पराके । पराचैः । आरे । परावतः । इति पञ्च दूरनामानि ॥२६॥

प्रत्नम् । प्रदिवः । प्रवयाः । सनेमि । पूर्व्यम् । अह्नाय । इति षट् पुराणनामानि ॥ २७ ॥

नवम् । नूत्नम् । नूतनम् । नव्यम् । इदा । इदानीम् । इति षडेव नवनामानि ॥ २८ ॥

प्रपित्वे । अभीके । दभ्रम् । अर्भकम् । तिरः । सतः । त्वः । नेमः । ऋक्षाः । स्तृभिः । वम्रीभिः । उपजिह्विका । ऊर्दरम् । कृदरम् । रम्भः । पिनाकम् । मेना । ग्नाः । शेपः । वैतसः । अया । एना । सिषक्तु । सचते । भ्यसते । रेजते । इति षड्विंशतिः द्विशः उत्तराणि नामानि ॥ २९ ॥

स्वधे । पुरन्धी । धिषणे । रोदसी । क्षोणी । अम्भसी । नभसी । रजसी । सदसी । सद्मनी । घृतवती । बहुले । गभीरे । गम्भीरे । ओण्यौ । चम्वौ । पार्श्वौ । मही । उर्वी । पृथ्वी । अदिती । अही । दूरे अन्ते । अपारे २ । इति चतुर्विंशतिः द्यावापृथिव्योः नामधेयानि ॥ ३० ॥

पूर्णसंख्या—४१०



हिरुक् । नुकम् । सुकम् । आहिरम् । आकीम् । नकि । मकि । नकीम् । आकृतम् । इति नव उत्तराणि पदानि सर्वपदसमाम्नानाय ॥ १२ ॥

इदमिव । इद यथा । अग्निर्न ये । चतुरश्चिद्ददमानात् । ब्राह्मणा व्रतचारिण । वृक्षस्य नु ते पुरुहूत वया । जार आ भगम् । मेषो भूतोऽभि यन्नय । तद्रूप । तद्वर्ण । तद्वत् । तथा । इति उपमा ॥ १३ ॥

अर्चति । गायति । रेभति । स्तोभति । गूर्धयति । गृणाति । जरते । ह्वयते । नदति । पृच्छति । रिहति । धमति । कृपण्यति । कृपण्यति । पनस्यति । पनायते । वल्गूयति । मन्दते । भन्दते । छन्दति । छदयते । शशमान । रञ्जयति । रजयति । शसति । स्तौति । यौति । रौति । नौति । भनति । पणायति । पणते । सपति । पपृक्षाः । महयति । वाजयति । पूजयति । मन्यते । मदति । रसति । स्वरति । वेनति । मन्दयते । जल्पति । इति चतुश्चत्वारिंशदर्चतिकर्माण ॥ १४ ॥

विप्र । विप्र । गृत्स । धीर । वेन । मेधा । कण्व । ऋभु । नवेदा । कवि । मनीषी । मन्धाता । विधाता । विप । मनश्चित् । विपश्चित् । विपन्यव । आकेनिप । उशिज । कीस्तास । अद्धातय । मतय । मतुथा । वाघत । इति चतुर्विंशति मेधाविनामानि ॥ १५ ॥

रेभ । जरिता । कारु । नद । स्तामु । कीरि । गौ । सूरि । नाद । छन्द । स्तुप् । रुद्र । कृपण्यु । इति त्रयोदश स्तोतृनामानि ॥ १६ ॥

यज्ञ । वेन । अध्वर । मेध । विदथ । नार्य । सवनम् । होत्रा । इष्टि । देवताता । मख । विष्णु । इन्दु । प्रजापति । घर्म । इति पञ्चदश यज्ञनामानि ॥ १७ ॥

भरता । कुरव । वाघत । वृक्तबर्हिष । यतस्रुच । मरुत । सबाध । देवयव । इति अष्टौ ऋत्विङ्नामानि ॥ १८ ॥

ईमहे । यामि । मन्महे । दद्धि । शग्धि । पूर्धि । मिमिड्ढि । मिमीहि । रिरिड्ढि । रिरीहि । पीपरत् । यन्तार । यन्धि । इषुध्यति । मदेमहि । मनामहे । मायते । इति सप्तदश याच्ञाकर्माण ॥ १९ ॥

दाति । दाशति । दासति । राति । रासति । पृणक्ति । पृणाति । शिक्षति । तुञ्जति । मंहते । इति दश दानकर्माण ॥ २० ॥

परिग्रव । पवस्व । अभ्यर्ष । आशिष । इति चत्वार अध्येषणाकर्माण ॥२१॥
स्वपिति । सस्ति । इति द्वौ स्वपितिकर्माणौ ॥ २२ ॥

कूपः। कातुः। कर्तः। वव्रः। काटः। खातः। अवतः। क्रिविः। सूदः। उत्सः। ऋश्यदात्। कारोतरात्। कुशयः। केवटः। इति चतुर्दश कूपनामानि।

तृपुः। तक्वा। रिम्रा। रिपुः। रिक्वा। रिहायाः। तायुः। तस्करः। वनर्गुः। हुरश्चित्। मुषीवान्। मलिम्लुचः। अघशंसः। वृकः। इति चतुर्दश स्तेननामानि ॥ २४ ॥

निण्यम्। सस्वः। सनुतः। हिरुक्। प्रतीच्यम्। अपीच्यम्। इति निर्णीतान्तर्हितनामधेयानि ॥ २५ ॥

आके। पराके। पराचैः। आरे। परावतः। इति पञ्च दूरनामानि ॥२६॥

प्रत्नम्। प्रदिवः। प्रवयाः। सनेमि। पूर्व्यम्। अह्नाय। इति षट् पुराणनामानि ॥ २७ ॥

नवम्। नूत्नम्। नूतनम्। नव्यम्। इदा। इदानीम्। इति षडेव नवनामानि ॥ २८ ॥

प्रपित्वे। अभीके। दभ्रम्। अर्भकम्। तिरः। सतः। त्वः। नेमः। ऋक्षाः। स्तृभिः। वम्रीभिः। उपजिह्विका। ऊर्दरम्। कृदरम्। रम्भः। पिनाकम्। मेना। ग्नाः। शेपः। वैतसः। अया। एना। सिषक्तु। सचते। भ्यसते। रेजते। इति षड्विंशतिः द्विशः उत्तराणि नामानि ॥ २९ ॥

स्वधे। पुरन्धी। धिषणे। रोदसी। क्षोणी। अम्भसी। नभसी। रजसी। सदसी। सद्मनी। घृतवती। बहुले। गभीरे। गम्भीरे। ओण्यौ। चम्वौ। पार्थ्वी। मही। उर्वी। पृथ्वी। अदिती। अह्नी। दूरे अन्ते। अपारे २। इति चतुर्विंशतिः द्यावापृथिव्योः नामधेयानि ॥ ३० ॥

पूर्णसंख्या—४१०

चतुर्थोऽध्यायः[1]

जहा । निधा । शिताम । मेहना । दमूनाः । मूषः । इरिरेण । कुरुतन । जठरे । तितउ । शिप्रे । मध्या । मन्दू । ईर्मान्तासः । कायमानः । लोध्रम् । कीरम् । विद्रधे । द्रुपदे । तुग्वनि । नसन्ते । नक्षन्त । आहनसः । अश्वसत् । हरिमणः । वाहः । परितक्म्या । सुविते । दयते । नूचित् । नूच । दावने । अकूपारस्य । शिशीते । सुतुकः । सुप्रायणाः । अप्रायुवः । च्यवनः । रजः । हरः । जुहुरे । व्यन्तः । ऋाणः । वाशी । विष्पुणः । जामिः । पिता । शयोः । अदितिः । एरिरे । जसुरिः । जरते । मन्दिने । गौः । गातुः । दंसयः । तूताव । चयसे । वियुते । ऋधक् । अस्याः अस्य । इति द्विषष्टिः पदानि ॥ १ ॥

सस्निम् । वाहिष्ठः । दूतः । वावशानः । वार्यम् । अन्धः । असश्चन्ती । वनुष्यति । तरुष्यति । भन्दनाः । आहनः । नदः । सोमो अक्षाः । श्वात्रम् । ऊतिः । हासमाने । पद्भिः । सस्रम् । द्विता । व्राः । वराहः । स्वसराणि । शर्याः । अर्कः । पविः । वक्षः । धन्व । सिनम् । इत्था । सचा । चित् । आ । द्युम्नम् । पविश्रम् । तोदः । स्वञ्चाः । शिपिविष्टः । विष्णुः । आघृणिः । पृथुज्रयाः । अथर्युम् । काणुका । अध्रिगुः । आङ्गूषः । आपान्तमन्यु । श्मशा । उर्वशी । वयुनम् । वाजपस्त्यम् । वाजगन्ध्यम् । गध्यम् । गधिता । कौरयाण । तौरयाण । अह्रयाण । हरयाण । आरितः । वन्दी । निष्षपी । तूर्णाशम् । क्षुम्पम् । निचुम्पुण । पदिम् । पादुः । वृक । जोषवाकम् । कृत्ति । श्वघ्नी । समस्य । कुटस्य । चर्षणिः । शम्ब । केपयः । तूतुमा कृषे । अन्नम् । कावुदम् । बीरिटे । अच्छ परि । ईम् । सीम् । एनम् । एनाम् । सृण्यः । इति चतुरुत्तरम् अशीतिः पदानि ॥ २ ॥

आशुशुक्षणिः । आशाभ्यः । काशिः । कुणारुम् । अलातृणः । सललूकम् । कत्पयम् । विस्रुहः । वीरुधम् । नक्षद्दाभम् । अस्कृधोयुः । निशृम्भाः । बृबदुक्थम् । ऋदूदरः । ऋदूपे । पुलुकामः । असिन्वती । कपना । भाऋजीकः । रुजानाः । जूर्णिः । ओमना । उपलप्रक्षिणी । उपसि । प्रकलवित् । अभ्यर्धयज्वा । ईक्षे । क्षोणस्य । अस्मे । पाथः । सवीमनि । सप्रथाः । विदथानि । श्रायन्तः । आशीः

1. चतुर्थाध्यायगतानि त्रीणि खण्डानि निरुक्ते क्रमशश्चतुर्थपञ्चमषष्ठाध्यायेषु व्याख्यातानि ।

अजीगः । अमूरः । शशमानः । देवो देवाच्या कृपा । विजामातुः । ओमासः । सोमानम् । अनवायम् । किमीदिने । अमवान् । अमीवा । दुरितम् । अप्वा । अमतिः । श्रुष्टी । पुरन्धिः । रुशत् । रिशादसः । सुदत्रः । सुविदत्रः । आनुषक् । तुर्वणि । गिर्वणसे । असूर्ते सूर्ते । अम्यक् । यादृश्मिन् । जारयायि । अग्रिया । चनः । पचता । शुरुध. । अमिनः । जज्झतीः । अप्रतिष्कुतः । शाशदानः । सृप्रः । सुशिप्र । रिप्रे । रंसु । द्विबर्हाः । अक्र । उराणः । स्तियानाम् । स्तिपाः । जबारु । जरूथम् । कुलिशः । तुञ्जः । बर्हणा । ततनुष्टिम् । इलीबिशः । कियेधाः । भृमिः । विष्पितः । तुरीपम् । रास्पिनः । ऋञ्जति. । ऋजुनीती । प्रतद्वसू । हिनोत । चोष्कूयमाण. । चोष्कूयते । सुमत् । दिविष्टिषु । दूतः । जिन्वति । अमत्रः । ऋचीषमः । अनर्शरातिम् । अनर्वा । असामि । गल्दया । जल्हवः । बकुरः । बेकनाटान् । अभिधेतन । अंहुरः । बत । वाताप्यम् । धावन् । रथर्यति । असश्चाम् । आधवः । अनवब्रवः । सदान्वे । शिरिम्बिठ. । पराशरः । क्रिविर्दती । करूळती । दनः । शरारुः । इदयुः । कीकटेषु । बुन्द. । वृन्दम् । किः । उल्बम् । ऋबीसम् । इति त्र्यशीतिशतानि पदानि ॥ ३ ॥

पूर्णसंख्या—२७९

पञ्चमोऽध्यायः

अग्नि । जातवेदा । वैश्वानर । इति त्रीणि पदानि ॥ १ ॥ (निरु० ७)

द्रविणोदा । इध्म, । तनूनपात । नराशंस । इळ । बर्हि । द्वार । उषासानक्ता । दैव्या होतारा । तिस्रो देवी । त्वष्टा । वनस्पति । स्वाहाकृतय । इति त्रयोदश पदानि ॥ २ ॥ (नि० ८)

अश्व । शकुनि । मण्डूका । अक्षा । ग्रावाण । नाराशंस । रथ । दुन्दुभि । इषुधि । हस्तघ्न । अभीशव । धनु । ज्या । इषु । अश्वाजनी । उलूखलम् । वृषभ । द्रुघण । पितु । नद्य । आप । ओषधय । रात्रि । अरण्यानी । श्रद्धा । पृथिवी । अप्वा । अग्नायी । उलूखलमुसले । हविर्धाने । द्यावापृथिवी । विपाट्छुतुद्री । आर्त्नी । शुनासीरौ । देवी जोष्ट्री । देवी ऊर्जाहुती । इति षट्त्रिंशत् पदानि ॥ ३ ॥ (नि० ९)

वायु । वरुण । रुद्र । इन्द्र । पर्जन्य । बृहस्पति । ब्रह्मणस्पति । क्षेत्रस्य पति । वास्तोष्पति । वाचस्पति । अपां नपात । यम । मित्र । क । सरस्वान् । विश्वकर्मा । तार्क्ष्य । मन्यु । दधिक्रा । सविता । त्वष्टा । वात । अग्नि । वेन । असुनीति । ऋत । इन्दु । प्रजापति । अहि । अहिर्बुध्न्य । सुपर्ण । पुरूरवा । इति द्वात्रिंशत् पदानि ॥ ४ ॥ (नि० १०)

श्येन । सोम । चन्द्रमा । मृत्यु । विश्वानर । धाता । विधाता । मरुत । रुद्रा । ऋभव । अङ्गिरस । पितर । अथर्वाण । भृगव । आप्त्या । अदिति । सरमा । सरस्वती । वाक । अनुमति । राका । सिनीवाली । कुहू । यमी । उर्वशी । पृथिवी । इन्द्राणी । गौरी । गो । धेनु । अघ्न्या । पथ्या । स्वस्ति । उषा । इळा । रोदसी । इति षट्त्रिंशत् पदानि ॥ ५ ॥ (नि० ११)

अश्विनौ । उषा । सूर्या । वृषाकपायी । सरण्यू । त्वष्टा । सविता । भग । सूर्य । पूषा । विष्णु । विश्वानर । वरुण । केशी । केशिन । वृषाकपि । यम । अज एकपात । पृथिवी । समुद्र । अथर्वा । मनु । दध्यङ् । आदित्य । सप्तऋषय । देवा । विश्वेदेवा । साध्या । वसव । वाजिन । देवपत्न्य २ । इति एकत्रिंशत् पदानि ॥ ६ ॥ (नि० १२)

पुनरुक्त —१४८ एवमादित १७६७ ।

॥ श्री ॥

हिन्दी-निरुक्त

प्रथम अध्याय

प्रथम-पाद

ॐ समाम्नाय समाम्नात । स व्याख्यातव्य । तमिमं समाम्नाय 'निघण्टव' इत्याचक्षते । निघण्टव कस्मात्? निगमा इमे भवन्ति—छन्दोभ्य समाहृत्य समाहृत्य समाम्नाता । ते निगन्तव एव सन्तो निगमनात् निघण्टव उच्यन्ते इत्यौपमन्यव । अपि वा, आहननादेव स्यु । समाहता भवन्ति । यद्वा, समाहृता भवन्ति ॥

[शब्दों का] समाम्नाय (संग्रह संकलन) संकलित हुआ जिसकी व्याख्या करनी चाहिये । इस संग्रह को [कुछ लोग] निघण्टु कहते हैं । 'निघण्टु कैसे [कहलाया] ? ये [शब्द] अर्थ बतलानेवाले (नि√गम्) हैं—वेदों से चुन चुनकर जमा किये गये हैं । ये अर्थ बतलानेवाले (निगन्तु) ही बनकर व्युत्पत्ति (निगमन) से 'निघण्टु' कहलाये—यह औपमन्यव का विचार है । अथवा, आ+√हन् (विभाजित करना) से बना है क्योंकि [सभी शब्द] समाहत (साथ साथ कहे गये या विभाजित किये हुये) हैं । अथवा जमा किये जाने (सम् आ√हृ) के कारण [इन्हें निघण्टु कहते हैं] ॥

विशेष—समाम्नाय = निघण्टु के पाँचों अध्याय जिनमें वैदिक शब्द संकलित हैं । किसी शब्द की व्युत्पत्ति देने के समय यास्क प्रायः 'कस्मात्' का प्रयोग करते हैं जिसका अर्थ है किस धातु से और क्यों ? 'निघण्टु' शब्द की व्युत्पत्ति तीन तरह से करते हैं—(१) नि√गम्>निगमयितृ (निगन्तृ)>निगन्तु>

निघण्टु = अर्थ बतलानेवाला । (२) सम् आ √हन् > समाहन्तृ > समाहन्तु > निघण्टु = जमा किया हुआ । (३) सम् आ √हृ > समाहर्तृ > समाहर्तु > निघण्टु = चुना हुआ । दुर्गाचार्य ने अपनी व्याख्या मे व्युत्पत्ति की इन तीन अवस्थाओ को क्रमश प्रत्यक्षवृत्ति, परोक्षवृत्ति और अतिपरोक्षवृत्ति कहा है। प्रत्यक्षवृत्ति की अवस्था में धातु स्पष्ट रहता है जैसे—निगमयितृ; परोक्षवृत्ति की अवस्था मे वह सामान्य-प्रयोग से अलग हो जाता है जैसे—निगन्तु; अति-परोक्षवृत्ति की अवस्था मे धातु का पता ही नही लगता जैसे—निघण्टु। 'छन्दोभ्यः' का प्रयोग बतलाता है कि निरुक्त मे केवल वैदिक-शब्दों की व्याख्या हुई है ॥

तद्यान्येतानि चत्वारि पदजातानि नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च, तानीमानि भवन्ति—तत्रैतन्नामाख्यातयोर्लक्षण प्रदिशन्ति-भावप्रधानमाख्यातम्; सत्त्वप्रधानानि नामानि । तद्यत्र उभे, भावप्रधाने भवत. । पूर्वापरीभूत भावमाख्यातेनाचष्टे, व्रजति पचतीत्युपक्रमप्रभृति अपवर्गपर्यन्तम् । मूर्तं सत्त्वभूतं सत्त्वनामभि., व्रज्या पक्तिरिति । अद. इति सत्त्वानामुपदेश. । गौरश्व. पुरुषो हस्तीति, भवतीति भावस्य, आस्ते शेते व्रजति तिष्ठति इति ॥ इन्द्रियनित्यं वचनमौदुम्बरायण. ॥ १ ॥

पद के जो चार भेद—नाम और आख्यात, उपसर्ग और निपात—हैं वे इस प्रकार हैं—पहले नाम और आख्यात के लक्षण कहते हैं—जिनमे भाव (क्रिया) प्रधान हो वह आख्यात तथा जिनमे सत्त्व (सिद्ध क्रिया) प्रधान हो वे नाम हैं। जब [किसी वाक्य मे] दोनों मिलते हैं, तब भाव की प्रधानता मानी जाती है। पूर्वापर के क्रम से होनेवाले भाव को आख्यात नाम से पुकारते हैं जैसे चलता है, पकाता है जिनमे आरम्भ से लेकर अन्त तक का [कथन] है। ठोस अर्थात् सिद्ध क्रिया (सत्त्व) के रूप मे परिणत [भाव] को सत्त्व नाम से [पुकारते हैं] जैसे व्रज्या (गमन) पक्ति (पाक)। 'अद.' (वह) से वस्तुओं का (या सिद्ध क्रिया का) सामान्य निर्देश होता है। [विशेषत तो] गो, अश्व, पुरुष, हस्ती भाव का [निर्देश]—होता है; है, सोता है, चलता है, बैठता है। औदुम्बरायण के मत से शब्द की सत्ता इन्द्रियों तक ही है।

विशेष—यास्क शब्दो के चार ही भेद स्वीकार करते हैं। इन भेदो का उल्लेख पहले-पहल निरुक्त मे ही हुआ है। पाणिनीय-व्याकरण ने भी इन्हे स्वीकार कर लिया है। 'भाव' का अर्थ है क्रिया, जैसे—पढ़ना; 'सत्त्व' का अर्थ है पूरी की गई क्रिया, पाठ। पाणिनि का सिद्धावस्थापन्न भाव ही सत्त्व है किन्तु वह ठोस रूप मे परिणत हो जाय। यह स्मरणीय है कि दोनों ही अवस्थाओं मे—चाहे आख्यात हो या नाम—आरम्भ से लेकर अन्त तक होनेवाली क्रिया की व्यवस्था होनी है जैसे 'व्रजति' (जाता है) मे पैर बढ़ाना, हाथ फेंकना आदि से लेकर लक्ष्य तक पहुँचने तक का संग्रह होना है। किन्तु जब ये ही क्रियायें मूर्त रूप ग्रहण कर लेती हैं, सिद्ध हो जाती है, एकाकार हो जाती हैं तब नाम कहलाती हैं जैसे—पाठ, लेख, गमन आदि। साधारणतया इन्हें ही लोग भाव कहते हैं। वस्तुओं को सामान्य रूप से हम 'वह' कह देते हैं, किन्तु इनके विशेष उदाहरण हैं—गौ आदि। इसी तरह 'भाव' को भी सामान्य रूप से कह देते हैं कि—होता है। किन्तु विशेष उदाहरण तो 'आस्ते, शेते' आदि हैं। अन्तिम वाक्य के लिये आगे देखें ॥ १ ॥

तत्र चतुष्ट्व नोपपद्यते। अयुगपदुत्पन्नाना वा शब्दानामितरेतरोपदेश.। शास्त्रकृतो योगश्च। व्याप्तिमत्वात्तु शब्दस्य। अणीयस्त्वाच शब्देन सज्ञाकरण व्यवहारार्थं लोके। तेषा मनुष्यवद् देवताभिधानम्। पुरुषविद्यानित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे॥

इस प्रकार ये चारो (पद-भेद) असिद्ध हो जाते हैं, एक साथ उत्पन्न न होनेवाले शब्दो का परस्पर सम्बन्ध [भी असिद्ध हो जाता है।] व्याकरण मे कहा गया प्रकृति और प्रत्यय का सयोग [भी असिद्ध हो जाता है।] किन्तु शब्द व्यापक होने के साथ-साथ सरलतर है इसलिए शब्द से ही [वस्तुओ का] नामकरण लोक मे व्यवहार के लिये होता है। इनके अर्थ मनुष्यों के समान ही देवताओ के लिए भी हैं। पुरुषो के ज्ञान के अनित्य होने के कारण कर्म का फल बतलानेवाले मन्त्र वेद मे हैं॥

विशेष—औदुम्बरायण का मत है—शब्द अनित्य हैं क्योंकि ये इन्द्रियों से निष्पन्न होते हैं। चूंकि सभी दार्शनिक इन्द्रियों को अनित्य मानते हैं इसलिए उनपर आश्रित शब्द भी अनित्य ही होंगे। तब तो उपर्युक्त चारों पद-भेद बेकार ही हो जायेंगे, अनित्य शब्दो का भेद करना व्यर्थ है। फिर कई शब्दो का मेल नही हो सकता क्योंकि वे भिन्न-भिन्न समयों पर उत्पन्न होते हैं तथा

नष्ट हो जाते हैं। प्रकृति और प्रत्यय भी अनित्य है, इसलिए इनका व्याकरण मे लिखा हुआ सयोग भी नही होगा। किन्तु शब्दो और अर्थों की पृथक् सत्ता वक्ता और श्रोता दोनो के मन मे रहती है, शब्द के सुनने पर वही अर्थ जाग्रत् हो जाता है, भले ही उस समय तक शब्द की सत्ता न रहे। यही सिद्धान्त 'स्फोट' कहलाता है जिसके अनुसार शब्द नित्य हैं (विशेष विवरण के लिए देखें—सर्वदर्शन-सग्रह मे पाणिनि दर्शन।)—अर्थात् शब्द व्यापक है। शब्द केवल वस्तुओ के प्रतीक हैं जो लौकिक व्यवहार के लिए दिये गये है कि वस्तुओ का बोध हो सके। देवता की भाषा भी मनुष्यो के समान ही है। जिस वस्तु के लिए जो सकेत दिया जाता है वह मनुष्यो और देवताओ दोनों के लिए है। जब देवता मनुष्यो की भाषा समझते ही हैं तो उनकी स्तुति किसी शब्द से कर सकते हैं? नही, फल देनेवाले स्तोत्र या मन्त्र वेदो मे ही हैं—उनसे ही स्तुति करने पर फल प्राप्त हो सकता है क्योंकि मानवीय ज्ञान नित्य नही है।

षड् भावविकारा भवन्तीति वार्ष्यायणि। जायतेऽस्ति विपरिणमते वर्धतेऽपक्षीयते विनश्यतीति। जायते इति पूर्वभावस्यादिमाचष्टे। नापरभावमाचष्टे—न प्रतिषेधति। अस्तीत्युत्पन्नस्य सत्त्वस्यावधारणम्। विपरिणमते इत्यप्रच्यवमानस्य तत्त्वाद्विकारम्। वर्धते इति स्वाङ्गाभ्युच्चयम्। सायौगिकाना वाऽर्थानाम्। वर्धते विजयेनेति वा, शरीरेणेति वा। अपक्षीयते इति एतेनैव व्याख्यात प्रतिलोमम्। विनश्यतीत्यपरभावस्यादिमाचष्टे। न पूर्वभावमाचष्टे, न प्रतिषेधति ॥ २ ॥

वार्ष्यायणि का मत है कि क्रिया के ■ रूप हैं—जन्म लेना, होना, बदलना, बढना, घटना और नष्ट होना। (१) 'जन्म' से पूर्व क्रिया (जन्म) का बोध होता है, आगेवाली क्रिया (= अस्ति) का नही, फिर [आगेवाली क्रिया से] उसे कोई विरोध भी नही। (२) 'होना' से उत्पन्न वस्तु की सत्ता मालूम होती है। (३) 'बदलना' से अपनी प्रकृति न छोडनेवाली वस्तु के परिवर्तन का बोध होता है। (४) 'बढना' से अपने अगो (जैसे हाथ, पैर) या सयुक्त वस्तुओं (जैसे स्वर्ण, धान्य) की वृद्धि का बोध होता है जैसे—विजय से बढता है, शरीर से बढता है। (५) 'घटना' की

व्याख्या तो इसी से हो गई, वह इसका उलटा है। (६) 'नाश' से आगे आनेवाली (अन्तिम) क्रिया (नाश) के आरम्भ का बोध होता है, पूर्व क्रिया (घटना) का नहीं, किन्तु उस [पूर्व क्रिया] का विरोध भी नहीं होता ॥ २ ॥

विशेष—क्रियाओं की भिन्न-भिन्न अवस्थायें हैं किन्तु उपर्युक्त छः अवस्थाओं में ही सभी का अन्तर्भाव हो जाता है। पूर्वभाव = दो क्रियाओं के सम्बन्ध दिखलाने पर जो क्रिया पहली हो, जैसे—जायते और अस्ति के सम्बन्ध के समय—'जायते' पूर्वभाव है और 'अस्ति' अपर-भाव। पुनः अपक्षय और विनाश के सम्बन्ध में 'अपक्षय' पूर्वभाव है, 'विनाश' अपर भाव। पहली क्रिया पूर्वभाव और दूसरी अपर-भाव कही जाती है ॥ २ ॥

अतोऽन्ये भावविकारा एतेषामेव विकारा भवन्तीति ह स्माह। ते यथावचनमभ्यूहितव्या। न निर्बद्धा उपसर्गा अर्थान्निराहुरिति शाकटायनः। नामाख्यातयोस्तु कर्मोपसंयोगद्योतका भवन्ति। उच्चावचाः पदार्था भवन्तीति गार्ग्यः। तद्य एषु पदार्थः प्राहुरिमे तन्नामाख्यातयोरर्थविकरणम्।

इनके अलावे क्रिया की जो भी अवस्थायें हैं वे इन्हीं के रूप हैं—ऐसा कहा गया है। ये वाक्य के अनुसार खोज लिये जायें। शाकटायन का मत है कि [नाम-आख्यात से] अलग होने पर उपसर्ग अर्थ का निश्चय नहीं कर सकते। लेकिन नाम और आख्यात का [अन्य] अर्थ से संयोग बतलाते हैं। गार्ग्य का मत है कि इन पदों (उपसर्गों) के बहुत तरह के अर्थ हैं। तब इनमें जो 'अर्थ का होना' कहा गया है वह नाम और आख्यात के अर्थों का परिवर्तन मात्र है।

विशेष—वचन = वाक्य। निरुक्त में 'कर्म' का मतलब प्रायः 'अर्थ' होता है। कर्मोपसंयोग = नये अर्थ से सम्बन्ध; संज्ञा और क्रियाओं में उपसर्गों के योग से नये अर्थ का आगमन होता है, यह परिवर्तन शब्द में ही होता है उपसर्ग में नहीं। उपसर्ग यह द्योतित करते हैं कि ऐसा परिवर्तन हुआ है—वे अर्थ के वाचक नहीं। कहा भी है—

उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते।
प्रहाराहारसंहारविहारपरिहारवत् ॥

उपसर्गों के द्योतकत्व-पक्ष के विवेचन के लिये, महाभाष्य देखें—'उपसर्गाः क्रियायोगे' सूत्र पर (भूमिका देखें)। आगे जो उपसर्गों के अर्थ कहे जायेंगे उनका

मतलब यही है कि संज्ञा और क्रियाओं का वैसा ही अर्थ परिवर्तित होगा। गार्ग्य का मत है कि पद होने [redacted] कारण उपसर्गों का अर्थ अवश्य है ॥

आ इत्यर्वागर्थे । प्र परा इत्येतस्य प्रातिलोम्यम् । अभीत्याभिमुख्यम् । प्रतीत्येतस्य प्रातिलोम्यम् । अति-सु इत्यभिपूजितार्थे । निर्दुरित्येतयोः प्रातिलोम्यम् । नि अव इति विनिग्रहार्थीयौ । उत् इत्येतयोः प्रातिलोम्यम् । समित्येकीभावम् । वि अप इत्येतस्य प्रातिलोम्यम् । अनु इति सादृश्यापरभावम् । अपीति संसर्गम् । उप इत्युपजनम् । परीति सर्वतोभावम् । अधीत्युपरिभावम् । ऐश्वर्यं वा । एवमुच्चावचानर्थान् प्राहुः । ते उपेक्षितव्याः ॥ ३ ॥

आ—'इधर' के अर्थ में; प्र, परा—इसका उलटा (उधर); अभि—सामने; प्रति—इसका उलटा (उलटे); अति, सु—आदर के अर्थ में; निर्, दुर्—इसका उलटा (निरादर); नि, अव—'नीचे' के अर्थ में, उत्—इसका उलटा (ऊपर); सम्—एक साथ; वि, अप—इसका उलटा (अलग); अनु 'समान' और 'पीछे होना', अपि—संसर्ग; उप-समीप; परि—चारों ओर; अधि—'ऊपर होना' या सबसे ऊँचा । इस प्रकार भिन्न-भिन्न अर्थ बतलाते हैं। उनपर ध्यान देना चाहिये ॥३॥

विशेष—उपेक्षितव्या=समीप जाकर देखना चाहिये । बाद में इसका अर्थ तिरस्कार हो गया है । परन्तु निरुक्त में यह पुराने अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। आँखों के अत्यन्त निकट रहने से अनादर होता ही है, इस प्रकार यह अर्थ आया । (देखें—Poona Orientalist के जनवरी ५९ का अङ्क, हरदत्तजी का लेख—Semantics in Sanskrit.) ॥ ३ ॥

द्वितीय-पाद

अथ निपाताः । उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति । अप्युपमार्थे । अपि कर्मोपसंग्रहार्थे । अपि पदपूरणाः । तेषामेते चत्वार उपमार्थे भवन्ति ।

अब निपातों का [वर्णन होगा] । ये विभिन्न अर्थों में आते हैं । कुछ तो उपमा के अर्थ में हैं, कुछ संयोजक (Conjunction) के अर्थ में और कुछ केवल पद पूरा करनेवाले हैं । इनमें ये चार (निपात) उपमा के अर्थ में होते हैं ।

विशेष—निपातो (Particles) के तीन भेद हुए—(१) उपमार्थक (२) कर्मोपसंग्रहार्थक (३) पदपूरणार्थक। अभी चार उपमार्थक निपातो का उदाहरण दिया जा रहा है। पिछले दोनो का उदाहरण इसके बाद देंगे।

इवेति भाषायां चान्वध्यायं च। 'अग्निरिव'। 'इन्द्र इव' इति। नेति प्रतिषेधार्थीयो भाषायाम्। उभयमन्वध्यायम्। 'नेन्द्रं देवममंसत' इति प्रतिषेधार्थीय.। पुरस्तादुपचारस्तस्य यत्प्रतिषेधति। 'दुर्मदासो न सुरायाम्' इत्युपमार्थीय.। उपरिष्टादुपचारस्तस्य येन उपमिमीते।

(१) इव–भाषा (संस्कृत) और वेद दोनो मे [यह उपमार्थक है] जैसे—अग्नि-सा (ऋ० १०।८४।२), इन्द्र-सा (ऋ० १०।१७३।२)। (२) न–भाषा मे निषेधार्थक, किन्तु वेद मे दोनो (निषेध + उपमा) है—(अ) इन्द्र देव को नहीं माना (ऋ० १०।८६।१)–यहाँ निषेधार्थक है: जब निषेध करता है तब इसका प्रयोग पहले होता है। (आ) शराब पिये मतवालो के समान (ऋ० ८।२।१२)–यहाँ उपमार्थक है; जिससे उपमा दी जाती है (वाचक) उसका प्रयोग बाद मे होता है।

विशेष—अन्वध्याय = स्वाध्याय की पुस्तक (वेद) मे। जब 'न' का अर्थ उपमा होता है तब शब्द के बाद रखा जाता है जैसे—मृगो न, इन्द्रो न। किन्तु जब निषेध करता है तब शब्द के पहले रखा जाता है जैसे–न मृग., न जायते।

चिदित्येषोऽनेककर्मा। 'आचार्यश्चिदिदं ब्रूयात्' इति पूजायाम्। आचार्य. आचारं ग्राहयति। आचिनोति अर्थान्। आचिनोति बुद्धिमिति वा। 'दधिचित्' इत्युपमार्थे। 'कुल्माषांश्चिदाहर' इत्यवकुत्सिते। कुल्मा.पा. कुलेषु सीदन्ति॥ 'नु' इत्येषोऽनेककर्मा। 'इदं नु करिष्यति' इति हेत्वपदेशे। 'कथ नु करिष्यति' इत्यनुपृष्टे। 'नन्वेतदकार्षीत्' इति च। अथाप्युपमार्थे भवति। 'वृक्षस्य नु ते पुरुहूत ! वया.'। वृक्षस्य इव ते पुरुहूत ! शाखा.। वया. शाखा: वेते.। वातायना. भवन्ति। शाखा खशया.। शक्नोतेर्वा॥

(३) चित्—इसके अनेक अर्थ हैं—'मान्य आचार्य यह बोलें'—यहाँ सम्मान का अर्थ है। आचार्य आचार (परम्परागत उपदेश) ग्रहण कराता है,

अर्थों का चयन करता है या बुद्धि का चयन करता है (क्रमशः बढ़ाता है)। 'दही-सा'—यहाँ उपमार्थक है। 'कुलथियो (एक अन्न) को लाओ'—यहाँ निन्दार्थक है। 'कुल्माष कुलों मे नष्ट होते हैं। (४) नु—इसके अनेक अर्थ हैं। 'क्योकि इसे करेगा'—यहाँ कारण देने के लिए है। 'कैसे करेगा ?'-यहाँ दुबारा पूछने के अर्थ मे है। 'चूँकि यह तो किया ही होगा !'—यह भी उसी अर्थ मे। यह (नु) उपमा के अर्थ मे भी होता है जैसे—'हे बहुत प्रकार से बुलाये गये (इन्द्र), तुम्हारी शाखायें वृक्ष सी हैं (ऋ० ६।२४।३)।' वया = शाखायें, √वा (बहना) से। ये हवा के घर है। शाखा = आकाश (ख) मे शयन करने वाली, अथवा √शक् से।

विशेष—यास्क निर्वचन के अत्यन्त प्रेमी हैं। निपातों के उदाहरण में आनेवाले शब्दों को भी नही छोड़ते। उनका निर्वचन (व्युत्पत्ति से अर्थ का पता लगाना etymology) करना ही चाहिए। आचार्य शब्द या तो √चर् से या √चि से बना है। यास्क की विचार-शृङ्खला पर भी ध्यान दें—नु के उदाहरणवाली ऋचा मे 'वयाः' शब्द आया है, उसका प्रतिशब्द दिया 'शाखा'। अब शाखा का निर्वचन करना आवश्यक हो गया। 'शाखा' वर्ण-विपर्यय (Metathesis) का फल हो सकता है, ख (आकाश) मे शयन करने वाला—√शी। √शक् से शाक बनकर 'शाखा' हुआ हो। इस प्रकार के विषयान्तर यास्क मे बहुत हैं जिन्हें व अपने निर्वचन-प्रेम का प्रदर्शन करने के लिए लाये हैं।

अथ यस्य आगमात् अर्थपृथक्त्वम् अह विज्ञायते, न तु औद्देशिकमिव, विग्रहेण पृथक्त्वात्, स कर्मोपसंग्रहः।

अर्थ संयोजक (कर्मोपसंग्रह conjunction) उसे कहते हैं, जिसके आगमन से वस्तुओं का अलग-अलग होना निश्चित रूप से मालूम हो, किन्तु यह (पार्थक्य) सामान्य-गणना के समान [स्पष्ट नहीं रहता], बल्कि [समास के पदों को] अलग-अलग करने पर ही पृथक् मालूम पड़ता है।

विशेष—कर्मोपसंग्रह निपातों का दूसरा भेद है, इसके उदाहरण हैं—च, वा इत्यादि। दुर्गाचार्य का कथन है कि समास के भिन्न-भिन्न पदों मे जिससे पार्थक्य मालूम हो, यह पार्थक्य स्पष्ट रूप से कहा नही गया हो किन्तु विग्रह करने पर अलग मालूम हो—वही कर्मोपसंग्रह है। डा० गुणे कहते हैं कि चूँकि निपातों के तीन ही भेद हैं इसलिए कर्मोपसंग्रह में वे सभी निपात आ जाते हैं

जो उपमार्थक या पदपूरण नही है। इसलिए वे 'अर्थपृथक्त्व' का अर्थ करते हैं—तरह तरह के अर्थ' (a variety of senses), किन्तु वस्तुओ की साधारण गणना के समान नही। उनमे प्रत्येक का अलग अलग उल्लेख हुआ है। 'न तु० पृथक्त्वात्' की संगति बैठाना कठिन है। सम्भवत यही अर्थ है कि किसी समास मे वस्तुओ का पार्थक्य औद्देशिक (उद्दिष्ट) रहता है वस्तुत कहा नही जाता। हो सकता है प्राचीन पाण्डुलिपि मे यह अश मूल के बगल मे किसी अध्यापक द्वारा लिख दिया गया हो जिसे लेखक ने मूल ही समझकर जोड दिया हो—क्योकि कर्मोपसग्रह की परिभाषा तो पहले वाक्य मे ही पूरी हो जाती है।

'च' इति समुच्चयार्थ. । उभाभ्या संप्रयुज्यते । 'अह च त्व च वृत्रहन्' इति । एतस्मिन्नेवार्थे 'देवेभ्यश्च पितृभ्य आ' इति आकार । 'वा' इति विचारणार्थे । 'हन्ताहं पृथिवीमिमा निदधानीह वेह वा' इति । अथापि समुच्चयार्थे भवति ॥ ४ ॥

(१) च—जोडने के अर्थ मे दोनों शब्दों के बाद मे प्रयुक्त होता है। जैसे—हे वृत्र को मारनेवाले ! तुम और मैं—(ऋ० ८।६२।११)। (२) आ—इसी (जोडने के) अर्थ मे जैसे—देवताओं और पितरो के लिए (ऋ० १०। १६।११)। (३) वा—सन्देह के अर्थ मे जैसे—कहाँ रखूँ मही को मैं, यहाँ पर या वहाँ इसे ? (ऋ० १०।११९।९)। यह जोडने के अर्थ मे भी होता है जैसे—॥ ४ ॥

'वायुर्वा त्वा मनुर्वा त्वा' इति । 'अह' इति च, 'ह' इति च,—विनिग्रहार्थीयौ, पूर्वेण सप्रयुज्येते । 'अयम् अह इद करोतु, अयमिदम्' । 'इद ह करिष्यति, इद न करिष्यति' इति । अथापि उकार. एतस्मिन् एवार्थे उत्तरेण । 'मृषा इमे वदन्ति, सत्यम् उ ते वदन्ति' इति । अथापि पदपूरण. । 'इदमु', 'तदु' इति ।

तुम्हे वायु या मनु—(मैत्रा० स० १।११।१)। (४५) रुकावट के अर्थ-वाले 'अह' और 'ह' पहले [शब्द] के बाद प्रयुक्त होते हैं जैसे—एक इसे ही करे, एक उस करे। इसे करेगा, उसे नही। (६) उ—इसी अर्थ मे अन्तिम [शब्द] के बाद प्रयुक्त होता है। जैसे—ये झूठ बोलत हैं वे सच। यह पद-पूरण भी है जैसे—यह, वह ।

'हि' इत्येषोऽनेककर्मा। 'इद हि करिष्यति' इति हेत्वपदेशे। 'कथ हि करिष्यति' इति अनुपृष्टे। 'कथ हि व्याकरिष्यति' इति असूयायाम्। 'किल' इति विद्याप्रकर्षे। 'एव किल' इति। अथापि 'न' 'ननु' इत्येताभ्यां सम्प्रयुज्यते अनुपृष्टे। 'न किलैवम्', 'ननु किल एवम्'। 'मा' इति प्रतिषेधे। 'मा कार्षीः'। 'मा हार्षीः' इति च। 'खलु' इति च। 'खलु कृत्वा'। 'खलु कृतम्'। अथापि पदपूरण। 'एव खलु तद्भूव' इति।

(७) हि—इसके अनेक अर्थ हैं। कारण देने में, जैसे—क्योंकि इसे करेगा। दुबारा पूछने में जैसे—कैसे करेगा? ईर्ष्या में, जैसे—कैसे करेगा? (८) किल—निश्चय करने के लिए, जैसे—ऐसा ही। यह 'न' और 'ननु' के बाद प्रयुक्त होने से प्रश्नवाचक हो जाता है जैसे—क्या ऐसा नहीं? (९) मा—निषेध के लिए, जैसे—मत करो, मत हरो। (१०) खलु—इसी अर्थ में, जैसे—न करके, नहीं किया। यह कभी कभी पदपूरण भी (निरर्थक, केवल पद की पूर्ति के लिए) होता है जैसे—वह ऐसा हुआ।

'शश्वत्' इति विचिकित्सार्थीयो भाषायाम्। 'शश्वत् एवम्' इति अनुपृष्टे। 'एवं शश्वत्' इति अस्वयंपृष्टे। 'नूनम्' इति विचिकित्सार्थीयो भाषायाम्। उभयम् अन्वध्यायम्। विचिकित्सार्थीयश्च पदपूरणश्च॥ अगस्त्य इन्द्राय हविर्निरुप्य मरुद्भ्यः सम्प्रदित्सांचकार। स इन्द्र एत्य परिदेवयांचक्रे॥ ५॥

कई जगह हैं। इसका शाब्दिक अर्थ होगा—देने की इच्छा की। परिदेवयं चक्रे—शिकायत की। तुल० गीता—तत्र का परिदेवना (२।२८) ॥ ५ ॥

तृतीय-पाद

न नूनमस्ति नो श्वः, कस्तद्वेद यदद्भुतम्।
अन्यस्य चित्तमभिसचरेण्यम्, उताधीतं विनश्यति ॥

(न) न तो (नूनम्) आज (अस्ति) है, (न) और न (श्वः) कल ही होगा; (यत्) जो (अद्भुतम्) नहीं हुआ है, (तत्) उसे (कः) कौन (वेद) जानता है ? (अन्यस्य) दूसरे का (चित्तम्) मन (अभिसचरेण्यम्) अत्यन्त चलायमान है, जिससे (अधीतम्) सुनिश्चित वस्तु (उत) भी (विनश्यति) समाप्त हो जाती है = उसे भूल जाते हैं (ऋ० १।१७०।१)।

विशेष—इस ऋचा मे दो छन्दों का मेल है—प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ चरणों मे अनुष्टुप् (८ अक्षर), किन्तु तृतीय चरण मे जगती (१२ अक्षर) है। प्रथम चरण के 'श्वः' को छन्द के लिए 'शुअः' पढना होगा। 'नूनम्' का सम्बन्ध आधुनिक विद्वान् 'नु' (Now) से मानते हैं, यद्यपि यास्क 'नूनम्' अद्यतनम् (आज) कहते हैं।

न नूनमस्ति अद्यतनम्। नो एव श्वस्तनम्। अद्य=अस्मिन् द्यवि। 'द्यु.' इत्यह्नो नामधेयम्। द्योतते इति सतः। श्व. उपाशंसनीय. काल.। ह्य. हीन. काल.। कस्तद्वेद यदद्भुतम्=क. तद् वेद, यद् अभूतम्? इदमपि इतरत् 'अद्भुतम्' अभूतमिव। अन्यस्य चित्तम् अभिसचरेण्यम्=अभिसचारि। अन्य.=नानेय.। चित्त चेततेः। उताधीतं विनश्यति इति=अपि आध्यातं विनश्यति। आध्यातम्=अभिप्रेतम् ॥ अथापि पदपूरण. ॥ ६ ॥

न नूनमस्ति=(न) आज (है), न (आगामी) कल ही। अद्य = इस दिन मे। 'द्यु' दिन का पर्याय है और √द्युत् (चमकना) से बना है। श्व = आशा करने योग्य समय (√शस्)। ह्यः = हीन (बीता हुआ) समय। कः तद्वेद यदद्भुतम् = जो अभूत (वस्तु) है उसे कौन जाने? यह

दूसरा 'अद्भुत' (विचित्र) भी अभूत (नहीं हुआ) के ही समान है। दूसरे का मन अभिसचरेण्य = चलायमान है। अन्य = न लाने योग्य (√नी)। 'चित्'√चित्त (जानना) से। उत अधीत विनश्यति = ध्यान की गई (वस्तु) भी नष्ट हो जाती है। ध्यान की गई = इच्छा की गई। ['नूनम' कभी-कभी] पदपूरण भी होता है जैसे—॥ ६ ॥

विशेष—उपर्युक्त ऋचा की व्याख्या यास्क ने की है जिसमें प्रधान लक्ष्य निर्वचन (प्रकृति बतलाकर अर्थ निकालना) है। अद्भुत—अ + √भू = नहीं हुआ है। इसके बाद अद्भुत के तत्कालीन अर्थ पर भी विचार करते हैं—'विचित्र' अर्थवाला अद्भुत भी अभूत (अपूर्व) ही है। किसी अपूर्व वस्तु को ही विचित्र कहते हैं। अर्थविज्ञान (Semantics) की दृष्टि से इन पंक्तियों पर ध्यान दें। अभिसचरेण्य—√चर्+वैदिक प्रत्यय एेन्य (पा० ३।४।१४)। 'सचरणीय' संस्कृत रूप है।

नून सा ते प्रति वरं जरित्रे, दुहीयदिन्द्र दक्षिणा मघोनी।
शिक्षा स्तोतृभ्यो माति धग्भगो नो, बृहद्वदेम विदथे सुवीराः॥

(इन्द्र) हे इन्द्र! (नूनम्) अभी (ते) तुम्हारा (सा) वह (मघोनी) उत्तम (दक्षिणा) पुरस्कार (जरित्रे) गायक को (वरं) वरदान (प्रति दुहीयत्) प्रदान करे, दोहन करे। (स्तोतृभ्यः) स्तुति करनेवालों के लिए (शिक्ष) लाभप्रद बनो, (भग) भाग्य (नः) हमसे (मा अति धक्) दूर न हो; हम (सुवीराः) वीर पुरुषों से युक्त होकर (विदथे) यज्ञ में (बृहद्) महान् शब्द (वदेम) बोलें॥ (ऋ० २।११।२१)।

विशेष—उपर्युक्त अनुवाद जर्मन विद्वान् गेल्डनर के अनुसार है, यास्क की व्याख्या इसके बाद मिलेगी। प्रति दुहीयत्—वैदिक भाषा में उपसर्ग 'धातु' को छोड़कर कहीं भी रह सकता है√दुह्—दूहना। शिक्षा—'शिक्ष' का छन्द के लिए दीर्घ।

सा ते प्रतिदुग्धा वरं जरित्रे। वरो वरयितव्यो भवति। जरिता=गरिता। दक्षिणा। मघोनी=मघवती। मघमिति धन-नामधेयम्। मंहते. दानकर्मण.। दक्षिणा दक्षते. समर्धयति कर्मण.। व्यृद्धं समर्धयति इति। अपि वा प्रदक्षिणागमनात् दिशामभिप्रेत्य। दिक् हस्तप्रकृति.। दक्षिणो हस्तो दक्षते. उत्साहकर्मण.। दाशतेर्वा स्यात् दानकर्मण.। हस्तो हन्ते.। प्राशु. हनने॥

वह (दक्षिणा) तुम्हें—साधक को—वर दे (दोहन करे)। वर चुनने के लायक होता है (√वृ)। जरिता = गानेवाला। मघोनी = मघ से युक्त; मघ = धन जो दानार्थक √मह् से बना है। दक्षिणा √दक्ष् से = समृद्ध करना। जो ऋद्धिहीन को समृद्ध करे। अथवा [बायें से] दायें जाने के कारण दिशा को लक्ष्य करके बना हो। दिशा की उत्पत्ति हाथ से ही हुई है। दक्षिण हस्त—उत्साहार्थक √दक्ष् से या दानार्थक √दाश् से बना है। हस्त √हन् (मारना) से बना है क्योंकि मारने मे तेज है।

देहि स्तोतृभ्य कामान्। मा अस्मान् अतिदही । मा अस्मान् अतिहाय दा । भगो नोऽस्तु । बृहद् वदेम स्वे वेदने । भगो भजते । बृहत् इति महतो नामधेयम्। परिवृढ भवति । वीरवन्त । कल्याणवीरा. वा । वीरो वीरयति अमित्रान्। वेतेर्वा स्याद् गतिकर्मण । वीरयतेर्वा ॥

स्तुति करनेवालो को काम (इष्ट वस्तु) दो। हमे मत जलाओ। हम छोड़ते हुए [किसी दूसरे को] मत दो। हमारा कल्याण हो। हम अपने घर मे जोरों से बोलें। भग √भज् (पूजन) से बना है। बृहत = महान, क्योंकि परिवृढ (मजबूत) है। [सुवीरा =] पुत्रवाले या कल्याणकारी पुत्रवाले। वीर शत्रुओं को छिन्न भिन्न करता है (वि + √ईर्) या गत्यर्थक √वी से, या √वीरय (वीर-सा काम करना) से बना है।

'सीम्' इति परिग्रहार्थीयो वा। पदपूरणो वा। 'प्र सीमादित्यो असृजत्'। प्रासृजत् इति वा। प्रासृजत् सर्वत इति वा। 'वि सीमत सुरुचो वेन आव' इति च। व्यावृणोत् सवत आदित्य । सुरुच आदित्यरश्मय सुरोचनात्। अपि वा, 'सीम' इत्येतत् अनर्थकम् उपबन्धम् आददीत पञ्चमीकर्माणम्। सीम्न = सीमत –सीमात –मर्यादात । सीमा=मर्यादा, विषीव्यति देशाविति ॥ 'त्व' इति विनिग्रहार्थीय सर्वनाम अनुदात्तम्। अर्धनाम इत्येके ॥ ७ ॥

(१३) सीम्—सर्वत्र के अर्थ मे या पदपूरण होता है जैसे—अदिति का पुत्र (वरुण) तेजी से जाय (ऋ० २।२८।४)। तेजी से जाय (पदपूरण होने पर) या—सर्वत्र तेजी से जाय (दोनों अर्थ सम्भव हैं)। चमकनेवाले आदित्य ने

सर्वत्र खोल दिया (मैत्रा० सं० २।७।१५) = आदित्य ने सब खोल दिया। आदित्य की किरणें अधिक चमकने के कारण 'सुरुच' हैं। अथवा 'सीम' शब्द अपादान ग्रहण करनेवाले [तः] प्रत्यय (उपबन्ध) को बिना किसी विशेष अर्थ के (स्वार्थ में ही) लगाता है। सीमन्–सीम–सीमा–मर्यादा से। सीमा= मर्यादा, क्योंकि दो देशों को अलग करती है (वि + √षिवु)। (१४) त्व– इकाइट के अर्थ में अनुदात्त सर्वनाम है, कुछ लोग इसे 'आधा' का पर्याय मानते हैं ॥ ७ ॥

विशेष—'च' से लेकर 'सीम्' तक तेरह कर्मोपसंग्रह हैं। चौदहवाँ सर्वनाम है।

ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान्, गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां वि मिमीत उ त्वः ॥

(त्व) एक (पुपुष्वान्) पोषण करनेवाला पुरोहित (ऋचाम्) ऋचाओं की (पोषम्) वृद्धि करने में (आस्ते) लगा है। (त्व) एक दूसरा पुरोहित (शक्वरीषु) शक्वरी नामक छन्दों में (गायत्रम्) गायत्री छन्द को = गेय छन्द को (गायति) गाता है। (त्व) एक दूसरा पुरोहित (ब्रह्मा) ब्रह्मा है, जो (जातविद्याम्) समय-समय पर समाधान (वदति) बतलाता है। (उ) और (त्व) एक पुरोहित तो (यज्ञस्य) यज्ञ का (मात्राम्) परिमाण विमिमीत मापता है = सम्पादन करता है ॥ (ऋ० १०।७१।११) ॥

विशेष—पुपुष्वान्—√पुष् + क्विप् (क्वसु प्रत्यय) = पोषक। चारों वेदों में क्रमशः होता (ऋग्वेद) उद्गाता (साम) ब्रह्मा (अथर्व) तथा अध्वर्यु (यजु) का उल्लेख है। इससे यह न समझें कि इस ऋचा के समय सभी वेद विद्यमान थे। यज्ञ का प्रयोजन देखकर ही इसका संग्रह किया गया है। शक्वरी ॥ पदोंवाला छन्द है जिसे तीन पदोंवाली गायत्री बनाकर उद्गाता गाता है।

इति ऋत्विक्कर्मणां विनियोगम् आचष्टे। ऋचाम् एक. पोषम् आस्ते पुपुष्वान्–होता। ऋक्=अर्चनी। गायत्रम् एको गायति शक्वरीषु–उद्गाता। गायत्रं गायतेः स्तुतिकर्मणः। शक्वर्य. ऋचः शक्नोतेः। 'तद् यदाभि वृत्रमशकद् हन्तुं तत् शक्वरीणां शक्वरीत्वम्'—इति विज्ञायते।

इस प्रकार याज्ञिको के कार्यों का विभाजन कहा गया है। एक पोषण करनेवाला ऋचाओं की वृद्धि में लगा हुआ है—वह 'होता' है। ऋक = पूजा का साधन (√अर्च)। एक शक्वरियो (छ पाद वाली ऋचाओ) म गायत्री छ द का गान करता है—वह 'उद्गाता' है। 'गायत्र' स्तुति अर्थवाले √गै से बना है। शक्वरी ऋचाएँ √शक् से। 'जिनके द्वारा वृत्र राक्षस मारा जा सका यही शक्वरियो की विशेषता है—यह मालूम होता है।

विशेष—निरुक्त म ब्राह्मण ग्रथो के बहुत से वाक्य उद्धृत हैं जो निर्वचन से सम्बन्ध रखते हैं। 'विज्ञायते' के द्वारा जितने उद्धरण हैं वे ब्राह्मण ग्रन्थो के ही हैं। ब्राह्मणो के ये ही विषय हैं—

हेतुर्निर्वचनं निन्दा प्रशसा सशयो विधि ।
परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारणकल्पना ॥ (श० मा० ॥)

ब्रह्मा एको जाते जाते विद्या वदति । ब्रह्मा सर्वविद्य । सर्व वेदितुम् अर्हति । ब्रह्मा परिवृढ श्रुतत । ब्रह्म परिवृढ सर्वत । यज्ञस्य मात्रा विमिमीते एक अध्वर्यु । अध्वर्यु=अध्वरयु । अध्वर युनक्ति । अध्वरस्य नेता । अध्वर कामयते इति वा । अपि वा अधीयाने 'यु' उपबन्ध । अध्वर इति यज्ञनाम । ध्वरति हिंसाकर्मा । तत्प्रतिषेध ॥

एक ब्रह्मा' है जो प्रत्येक कठिन प्रसङ्ग का समाधान बतलाता है। ब्रह्मा सर्वज्ञ है; सब कुछ जान सकता है। 'ब्रह्मा' वेदों मे पूरा कुशल है। ब्रह्मा सब से बडा (परिवृढ) है। एक अध्वर्यु' है जो यज्ञ का परिमाण नापता है (सम्पन्न करता है)। अध्वर्यु=अध्वरयु (र के अ का लोप)=अध्वर को जोडने-वाला। अध्वर का नेता या अध्वर की कामना करनेवाला (क्यङ् प्रत्यय)। अथवा अध्ययन [redacted] अथ मे यु' प्रत्यय लगा है। अध्वर' यज्ञ का पर्याय है। √ध्वर=हिंसा करना, इसका निषेध (अहिंसा) ॥

निपात इत्येके । तत्कथम् अनुदात्तप्रकृति नाम स्यात् ? दृष्ट-व्यय तु भवति । 'उत त्व सख्ये स्थिरपीतमाहु' इति द्वितीया-याम् । 'उतो त्वस्मै तन्व विसस्रे' इति चतुर्थ्याम् । अथापि प्रथमा-बहुवचने ॥ ८ ॥

कुछ लोगो के अनुसार [त्व] निपात है। नही तो सर्वा-शब्द जिस प्रकार अनुदात्त हो सकता है ? फिर भी इस (त्व का) रूप-परिवर्तन देखा जाता है

जैसे—मित्रता के विषय में कुछ को स्थिर होकर (अर्थ) ज्ञान करनेवाला कहते हैं (ऋ० १०।७१।५)—यहाँ द्वितीया में। कुछ के लिये वह शरीर फैलाती है (ऋ० १०।७१।४)—यहाँ चतुर्थी में। प्रथमा बहुवचन में भी होता है—॥ ८ ॥

विशेष—चूँकि रूप-परिवर्तन होनेवाली संज्ञाओं में अन्तिम स्वर उदात्त होता है परन्तु 'त्व' अनुदात्त है इसलिए यह अवश्य ही निपात (अव्यय) होगा, तथापि इसका रूप परिवर्तन देखा गया है। इसलिए यह कहना कठिन है कि यह सर्वनाम (अनुदात्त) है कि निपात। दोनों ऋचाओं की व्याख्या आगे देखें (नि० १।१९–२०) ॥ ८ ॥

अक्षण्वन्त. कर्णवन्त. सखायो मनोजवेष्वसमा वभूवु.।
आदघ्नास उपकक्षास उ त्वे ह्रदा इव स्नात्वा उ त्वे ददृश्रे ॥

(अक्षण्वन्त) आँख से युक्त और (कर्णवन्तः) कान से युक्त (सखाय) मित्रगण (मनोजवेषु) बुद्धि के वेग में = ज्ञान में (असमाः) बराबर नहीं (बभूवु) हुए (उ त्वे) और कुछ तो (आदघ्नास.) मुँह तक जलवाले (ह्रदा इव) तालाब के समान, कुछ (उपकक्षासः) काँख तक जलवाले [तालाब के समान] तथा (उ त्वे) कुछ लोग (स्नात्वाः) स्नान करने योग्य [तालाब के समान] (ददृश्रे) दिखलाई पड़े। (ऋ० १०।७१।७) ॥

विशेष—जिस प्रकार तालाबों की गहराई भिन्न-भिन्न होती है—किसी में भरमुँह पानी, किसी में काँखभर, किसी में केवल स्नान करने ही योग्य—उसी प्रकार विद्वानों की बुद्धि भी भिन्न-भिन्न है अर्थात् वे बुद्धि के वेग में विषम हैं। सखा का अर्थ यहाँ कवि है जो कई प्रकार के हैं—उत्तम, मध्यम और अधम।

अक्षिमन्त. कर्णवन्तः सखाय । 'अक्षि' चष्टे: । अनक्तेः इति आग्रायण. । 'तस्मादेते व्यक्ततरे इव भवत' इति ह विज्ञायते । 'कर्ण.' कृन्तते. । निकृत्तद्वारो भवति । ऋच्छतेः इति आग्रायण.। ऋच्छन्ति इव, खे उदगन्तामिति ह विज्ञायते ।

आँख से युक्त और कान से युक्त मित्रगण। 'अक्षि' √चष् (देखना) से बना है। आग्रायण कहते हैं कि √अञ्ज (प्रकाशित करना) से बना है। इसलिये ये [आँखें समूचे शरीर की अपेक्षा] अधिक व्यक्त-सी होती हैं—यह

मालूम होता है। 'कर्ण' √कृन्त (काटना) से बना है। इसका द्वार कटा हुआ होता है। आग्रायण कहते है कि √ऋच्छ (जाना) से बना है, क्योंकि [शब्द कानों मे] जाते हुए-से मालूम पडते हैं या ये कान ही आकाश में जाते हैं—यह मालूम होता है॥

मनसां प्रजवेषु असमाः बभूवुः। आस्यदघ्नाः अपरे। उपकक्षदघ्नाः अपरे। आस्यम् अस्यतेः। आस्यन्दते एनत् अन्नम् इति वा। दघ्नं दघ्यतेः स्रवतिकर्मणः। दस्यतेः वा स्यात्। विदस्ततरं भवति। प्रस्नेया=ह्रदा इव एके प्रस्नेया ददृशिरे। स्नानार्हाः। ह्रदो ह्रादतेः शब्दकर्मणः। ह्लादने वा स्यात् शीतीभावकर्मणः॥

मन (बुद्धि) के वेग मे समान नहीं हुए। दूसरे केवल मुंह (आस्य) तक (दघ्न) ही थे। कुछ लोग काँख भर थे। 'आस्य' √अस् (फेंकना) से बना है। या अन्न इसमे बहता है (आ √स्यन्द)। 'दघ्न' √दघ् से बना है जिसका अर्थ है—बहना। या √दस् (क्षीण) से बना है क्योंकि विशेषतया क्षीणतर (दस्ततर) होता है=(सीमित कर देना)। नहाने लायक=कुछ लोग तालाब के समान नहाने लायक दिखे। स्नान के योग्य। 'ह्रद' √ह्राद=शब्द करना से या 'शीतल करना' अर्थ वाले √ह्लाद से बना है॥

विशेष—आदघ्न=आस्यदघ्न। दघ्न=मात्र। स्नात्वा=स्नान योग्य।

अथापि समुच्चयार्थे भवति। 'पर्याया इव त्वदाश्विनम्'। आश्विनं च पर्यायाश्च इति॥ अथ ये प्रवृत्ते अर्थे अमिताक्षरेषु ग्रन्थेषु वाक्यपूरणाः आगच्छन्ति, पदपूरणास्ते मिताक्षरेषु। अनर्थकाः। कम् ईम् इत् उ इति॥ ९॥

[यह 'त्व'] जोडने के अर्थ मे भी होता है जैसे—[एक मत्र मे] आश्विन को पर्याय-सा गाते हैं (कौषी० ब्रा० १४।४)। आश्विन को और पर्यायों को। अर्थ बतलाते हुए असीमित अक्षरों के खण्डो मे (गद्य मे) जो वाक्य की पूर्ति करने के लिये आते हैं वे सीमित अक्षरो वाले [पद्य मे] पद की पूर्ति करते हैं। ये निरर्थक होते हैं। जैसे—कम् ईम्, इत् और उ॥ ९॥

विशेष—निपातो के तीसरे भेद—पदपूरण—के विषय में कहा जा रहा है। ग्रन्थ=खण्ड। अमिताक्षर=गद्य जिसमे कई अक्षर रहते हैं, कोई सीमा नही। मिताक्षर=निश्चित अक्षरो का पद्य॥ ९॥

निष्ट्वक्त्रासश्चिदिन्नरो भूरितोका वृकादिव ।
विभ्यस्यन्तो ववाशिरे शिशिर जीवनाय कम् ॥

(नि त्वक्त्रास) बिना वस्त्र के (नर) मनुष्य (चित् इत्) ही (भूरितोकाः) बहुत सन्तान वाले वनकर (वृकान् इव) मानो भेडिये से (बिभ्यस्यन्त) डरते हुए (ववाशिरे) रोने-चिल्लाने लगे कि (शिशिरम्) शिशिर ऋतु (जीवनाय) जीवन दान करे (कम्)—॥

विशेष—'कम्' पदपूरण है। गरीब आदमी जाड़े मे कपडे न रहने पर रोते हैं मानो भेडियो से डरकर रो रहे हो ॥

शिशिर जीवनाय । शिशिर श्रृणाते शम्नाते वा । 'एमेन सृजता सुते' । आसृजत एन सुते । 'तमिद्वर्धन्तु नो गिर' । त वर्धयन्तु नो गिर स्तुतय । गिरो गृणाते.। 'अयमु ते समतसि' । अय ते समतसि। इवोऽपि दृश्यते। 'सुविदुरिव' । 'सुविज्ञायेते इव' । अथापि 'न' इति एष 'इत्' इत्येतेन सप्रयुज्यते परिभये ॥ १० ॥

शिशिर जीवन के लिये [हो] । 'शिशिर' √शॄ या √शम् (मारना) से । (आ ईम् एनम्०) निचोडने पर इसे बहने दो (ऋ० १।९।२) । उसे हमारी स्तुतियाँ बढायें (ऋ० ९।६१।१४) । गिरः=स्तुतियाँ । 'गिर' √गॄ (स्तुति) से । यही [वह सोम] है जिस पर तुम गिरते हो (ऋ० १।३०।४) । 'इव' भी [पद पूरण के रूप मे] देखा जाता है जैसे—उन्होने जाना (काठकस ८।१३) । मालूम होते हैं (काठकस ६।२) । इसके अलावे 'न' के साथ 'इत्' भय दिखाने मे आता है ॥ १० ॥

हविर्भिरेके स्वरित. सचन्ते सुन्वन्त एके सवनेषु सोमान् ।
शचीर्मदन्त उत दक्षिणाभिर्नेज्जिह्मायन्त्यो नरक पताम ॥

(एके) कुछ लोग (हविभि) हवि के द्वारा (इत) यहीं से (स्व) स्वर्ग (सचन्त) पाते हैं, (एके) कुछ लोग तो (सवनेषु) सोम चुआने के समय म (सोमान्) सोमो को (सुन्वन्त) चुआते चुआते [स्वर्ग पाते है] । (उत) फिर (दक्षिणाभि) दान स (शची) शक्तियो को (मदन्तः) प्रसन्न करत [कहती हैं कि] (जिह्मायन्त्य) पाप करते-करते (नरक) नरक म (न इत्) कहीं न (पताम) गिर पडें ॥ (खिल २४।१) ।

विशेष—असुरों की पत्नियों की यह उक्ति है। प्रो० राजवाडे का कहना है कि यास्क ने केवल अन्तिम चरण ही उद्धृत किया होगा क्योंकि उतने अंश की ही व्याख्या आगे करते हैं। 'पताम' में 'उपसंवादाशङ्कयोश्च (पा० सू० ३।४।८)' सूत्र के अनुसार आशंका के अर्थ में लेट् लकार हुआ है (देखें सिद्धान्त-कौमुदी, वैदिकी प्रक्रिया का तृतीय अध्याय)।

नरक नि अरकम्। नीचैः गमनम्। न अस्मिन् रमणं स्थानम् अल्पम् अपि अस्ति इति वा। अथापि 'न च' इत्येष 'इत्' इत्येतेन संप्रयुज्यते अनुपृष्टे। 'न चेत्सुरा पिबन्ति' इति। सुरा सुनोतेः। एवम् उच्चावचेषु अर्थेषु निपतन्ति। ते उपेक्षितव्याः ॥ ११ ॥

नरक = नि अरक = नीचे जाना। अथवा जिसमें रमणीय-स्थान थोड़ा भी नहीं। 'न च' के बाद 'इत्' मिलने से दुबारा पूछने के अर्थ में आता है जैसे—यदि वे सुरा न पीते हों तब ? 'सुरा' √सु (चुआना) से, इसी प्रकार भिन्न-भिन्न अर्थों में आते हैं। इन पर ध्यान देना चाहिये ॥ ११ ॥

विशेष—यहाँ शब्दभेद का प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ११ ॥

चतुर्थ-पाद

इति इमानि चत्वारि पदजातानि अनुक्रान्तानि नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च। तत्र नामानि आख्यातजानि इति शाकटायनः नैरुक्तसमयश्च। न सर्वाणि इति गार्ग्यः वैयाकरणानां चैके ॥

इस प्रकार से चार पदभेद बताये गये—नाम और आख्यात, उपसर्ग और निपात। शाकटायन और निरुक्तकारों का मत है कि सभी नाम आख्यात से उत्पन्न हैं। गार्ग्य और कुछ वैयाकरणों का मत है कि सभी [नाम आख्यात से उत्पन्न] नहीं हैं ॥

विशेष—वैयाकरण पाणिनि भी स्वीकार करते हैं कि सभी नाम (प्रातिपदिक) धातुओं से उत्पन्न नहीं। प्रातिपदिक की सिद्धि के लिए वे दो सूत्र रखते हैं (१) धातु से न उत्पन्न होने वाले प्रातिपदिकों के लिये—अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् (१।२।४५) तथा (२) धातु से उत्पन्न होने वाले कुछ प्रातिपदिकों के लिए—कृत्तद्धितसमासाश्च (१।२।४६)। भाषाशास्त्र स्वीकार करता है कि शब्दों की उत्पत्ति धातु से अवश्य हुई है परन्तु सभी धातु क्रियात्मक ही नहीं। निरुक्तकार तो व्युत्पत्ति के प्रेमी हैं ही।

तद् यत्र स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेन अन्वितौ स्याता……संविज्ञातानि तानि। यथा गौ अश्व. पुरुष. हस्तीति। अथ चेत्सर्वाणि आख्यातजानि नामानि स्यु., य. कश्च तत्कर्म कुर्यात् सर्व तत्सत्त्व तथा आचक्षीरन्। य. कश्च अध्वानम् अश्नुवीत, अश्व. स वचनीय. स्यात्। यत् किञ्चित् तृन्द्यात् तृण तत्। अथापि चेत् सर्वाणि आख्यातजानि नामानि स्यु., यावद्भिः भावे. सप्रयुज्येत तावद्भ्य· नामधेयप्रतिलम्भ. स्यात्। तत्र एव स्थूणा दरशया च आसञ्जनी च स्यात्॥ १२॥

तो जहाँ स्वर (उदात्तादि) और बनावट अर्थ से युक्त होकर अपने अधीनस्थ अर्थसम्बन्धी (प्रादेशिक) विकार (गुण) स सम्बद्ध हो [वे नाम आख्यातज हैं, जहाँ वे सम्बद्ध नही वे नाम] रूढ हैं जैसे गौ, अश्व, पुरुष, हस्ती। [गार्ग्य कहते हैं कि] (१) यदि सभी नाम आख्यात से उत्पन्न होते तो जो चीज भी वह काम करती, उसे वैसा ही कहते ! जो कोई भी अध्व (मार्ग) का अशन (पार) करता उसे 'अश्व' कह देते !! जो कुछ भी तोडी जाती उसे 'तृण' कहते !!! पुन (२) यदि सभी नाम आख्यात से उत्पन्न होते तो जिन-जिन क्रियाओं से कोई वस्तु सम्बद्ध होती उन-उन क्रियाओं के आधार पर उसका नामकरण होता ! खम्भे (स्थूणा) को दर शया (छेद में सोनेवाली), या आसजनी (शहतीर धारण करनेवाली) कहते !! ॥ १२॥

विशेष—*प्रथम वाक्य मे निश्चित रूप से कुछ शब्द छूट गए हैं जिनका* अनुवाद काल्पनिक रूप से कोष्ठो के बीच किया गया है। सविज्ञात = रूढ जैसे गौ आदि, जिसमे धातु का पता नही। ये शब्द आख्यातज नही हैं। किन्तु वाक्य का प्रथम खण्ड आख्यातज शब्दो का निर्देश करता है। अतएव 'स्याता' और 'सविज्ञातानि' के बीच कुछ शब्द छूटे हैं। दुर्गाचार्य ने अपनी व्याख्या में ऐसा ही किया है। कर्ता, कारक, पाचक आदि शब्दो मे धातु स्पष्ट है, स्वर और बनावट सरल है, धातु का भी वही अर्थ है जो शब्द का—अतएव ये शब्द धातु से उत्पन्न हैं। किन्तु गौ, पुरुष आदि शब्द ऐसे नही, व रूढ हैं। प्रदेश = क्षेत्र, अर्थात् शब्द का अपने क्षेत्र के ही = अपने अधीनस्थ धातु से सम्बन्ध, जैसे √कृ और कारक का सम्बन्ध प्रादेशिक है क्योंकि दोनो समान अर्थ रखते हैं। कुछ लोगो क अनुसार 'प्रदेश' का अर्थ व्याकरण या लक्षणशास्त्र है। यह

अर्थ रखने पर (प्रादेशिक गुण = व्याकरण-सम्मत विकार) भी दुर्गाचार्य की व्याख्या ठीक ही है । प्रो० मैक्समूलर उक्त वाक्य को पूर्ण मानते हुए कहते हैं कि यास्क गो इत्यादि उदाहरण आख्यातज शब्दों के देते हैं परन्तु यह विचार गलत है । प्रो० रॉथ लिखते हैं—गार्ग्य तथा कुछ वैयाकरण केवल उन्हीं शब्दों को आख्यातज मानते हैं जो स्वर और बनावट से युक्त हैं तथा किसी क्रियात्मक धातु (प्रादेशिक गुण) से सम्बद्ध हैं, इसके विरुद्ध गो आदि शब्द यदृच्छा से उत्पन्न हैं । डा० गुणे रॉथ के इस विचार से सहमत हैं तथा छूटे हुये शब्दों के लिए एक प्रस्ताव रखते हैं—यास्क इसके बाद गार्ग्य के विचारों का पूर्ण उद्धरण देकर उसका खण्डन करेंगे । १४ वें परिच्छेद में उद्धरण देते समय 'स्याता' के बाद 'सर्वं तत् प्रादेशिकम्' मिलता है, सम्भव है कि यह खंड छूट गया हो । इसके बाद गार्ग्य अपने विरोधी का मत खण्डित करते हैं ॥१२॥

अथापि य एषा न्यायवान् कार्मनामिकः संस्कारः, यथा चापि प्रतीतार्थानि स्युः, तथा एनानि आचक्षीरन् । पुरुषं पुरिशय इति आचक्षीरन् । अष्टा इति अश्वम् । तर्दनमिति तृणम् । अथापि निष्पन्ने अभिव्याहारे विचारयन्ति—प्रथनात् पृथिवी इति आहुः । क एनाम् अप्रथयिष्यत् ? किमाधारः चेति ?

पुनः (३) इनमें जो व्याकरण के नियमों से युक्त, किसी [समानार्थक] क्रिया से उत्पन्न, नाम की बनावट (संज्ञा शब्द की रचना) है तथा जिनका अर्थ तुरत मालूम हो जाय—उन्हें (नामों को) लोग उन (धातुओं) के अनुसार ही पुकारते । 'पुरुष' को लोग पुरि-शय कहते । 'अश्व' को अष्टा कहते । 'तृण' को तर्दन कहते ! ! पुनः (४) किसी शब्द के व्यवहार में चल पड़ने पर लोग उसकी उत्पत्ति पर विचार करते हैं—√प्रथ (फैलाना) से पृथिवी बनी । तो इसे किसने फैलाया ? और कहाँ बैठकर ?

विशेष—न्याय = व्याकरण के नियम । 'कर्म (क्रिया) से निकला नाम-कर्मनाम, उसमें उत्पन्न = कार्मनामिक संस्कार'—दुर्ग । उसी अर्थवाले धातु से बने शब्द की बनावट, जैसे, पुरुष—पुर् में शयन करनेवाला = पुर् + √शी से 'पुरुष' की बनावट । तब तो पुरिशय का भी अर्थ होता ! अश्व और अष्टा दोनों √अश् (खाना) से बने हैं । तर्दन और तृण—√तृदिर् (तोड़ना) से । आचक्षीरन् = √चक्षिङ् + विधिलिङ् = कहते !

अथ अनन्वितेऽर्थे, अप्रादेशिके विकारे, पदेभ्य· पदेतरार्द्धान् सचस्कार शाकटायन । एते· कारितं च यकारादिं च अन्त-करणम् । अस्ते· शुद्ध च सकारादि च । अथापि सत्त्वपूर्वो भाव· इति आहु । अपरस्मात् भावात् पूर्वस्य प्रदेशो न उपपद्यते इति । तत् एतत् न उपपद्यते ॥ १३ ॥

(५) अर्थ के असगत होने पर और बनावट व्याकरण-सम्मत (या अधीनस्थ धातु से सम्बद्ध) न होने पर, शाकटायन, कई [आख्यात-] शब्दो से किसी शब्द के भिन्न भिन्न खण्डो की बनावट करते हैं । ['सत्य' की बनावट मे] √इ (जाना) के प्रेरणार्थक रूप (णिजन्त) यकार को अन्त मे रखा । √अस् (होना) के मूल-रूप के सकार को आदि मे रखा । (६) इसके अलावे, कहा गया है कि क्रिया के पहले ही नाम पड जाता है । इसलिए बाद मे होनेवाली क्रिया के आधार पर नामकरण नही होता । इस प्रकार यह [सिद्धान्त कि 'क्रिया से नाम पडता है'] उचित नही ॥ १३ ॥

विशेष—शाकटायन नामक, निरुक्त के प्रणेता जब देखते हैं कि शब्द और उसमे वर्तमान धातु दोनो का अर्थ असगत है तब एक ही शब्द, मे कई धातुओ की स्थिति समझते है जैसे 'सत्य' मे √अस् और √इ । यास्क के व्याकरण सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दो के लिए, देखिए, भूमिका ॥ १३ ॥

यथो हि नु वै एतत् । तद् यत्र स्वरसस्कारौ समर्थौ—प्रादेशिकेन गुणेन अन्वितौ स्याता सर्वं प्रादेशिकम् इति । एव सति अनुपालम्भ एप भवति ।

यह जो कहा सो देखें—जहां स्वर और बनावट अर्थ से युक्त होकर, अपने अधीनस्थ अर्थ सम्बन्धी (प्रादेशिक) विकार (गुण) से सम्बद्ध हो वे सारे शब्द आख्यात से निकले (प्रादेशिक) है । इस प्रकार तो यह [हमारे सिद्धान्त से) उल्टा नही ही हुआ ।

विशेष— यथो एतत्' का प्रयोग यास्क तब करते है जब पूर्वपक्ष का मत स्थापित करते हैं । इसका अर्थ होगा—'इस क्रम से जो कहा कि', इसके बाद वे पूर्वपक्ष का पूरा वाक्य रखते हैं । इसलिए १२ वें परिच्छेद मे निश्चित रूप से यही अश होगा जिसे लेखक अपनी असावधानी से छोड गया है । इस मत से यास्क का कोई विरोध नही, क्योकि जहाँ कारक, पाचक-जैसे शब्दो की ही

व्युत्पत्ति पूर्वपक्षी के मत से सम्भव है, यास्क के मत से सभी शब्द व्युत्पन्न हैं। कारक, पाचक-जैसे शब्दों को तो ये व्युत्पन्न मानते ही हैं। अत केवल 'प्रदेश' (व्युत्पन्न होने वाले शब्दों का क्षेत्र) लेकर ही मतभेद है।

यथो एतत्। य क. च तत्कर्म कुर्यात् सर्व तत् सत्त्वं तथा आचक्षीरन् इति। पश्याम. समानकर्मणा नामधेयप्रतिलम्भम् एकेषा, न एकेषाम्। यथा तक्षा परिव्राजक. जीवन. भूमिज इति। एतेन एव उत्तर. प्रत्युक्त. ॥

यह जो कहा कि 'जो चीज भी वह काम करती उसे वैसा ही कहते' (परि० १२); [इस सिद्धान्त से] देखते हैं कि कुछ समानार्थक शब्दों का नामकरण होता है, कुछ का नहीं, जैसे—तक्षा (लकड़ी काटनेवाला—बढ़ई), परिव्राजक (घूमनेवाला, सन्यासी), जीवन (जीनेवाला, ईख का रस), भूमिज (भूमि से उत्पन्न, मगलग्रह)। इसी से दूसरे आक्षेप का समाधान हुआ॥

विशेष—इन वाक्यों मे यास्क गार्ग्य के आक्षेपों का उत्तर दे रहे हैं। 'तक्षा' का वास्तविक अर्थ हुआ 'लकड़ी काटनेवाला' पर रूढ अर्थ है—बढ़ई। सभी लकड़ी काटनेवालों को 'तक्षा' नहीं कह सकते। उत्तर=आगे का आक्षेप—देखें परि० १२—जिन जिन क्रियाओं से कोई ..॥

- यथो एतत्। यथा चापि प्रतीतार्थानि स्युस्तथा एनानि आचक्षीरन् इति। सन्त्यल्पप्रयोगा. कृतोऽपि ऐकपदिका.। यथा व्रतति., दमूना., जाट्य., आट्णार, जागरूक., दर्विहोमी इति।

यह जो कहा कि 'जिनका अर्थ तुरत मालूम हो जाय, उन (नामों को) लोग (धातुओं के) अनुकूल कहते' (परि० १३)—इस तरह के कृदन्त से बने शब्द तो प्रयोग मे कम आनेवाले हैं तथा ऐकपदिक-काण्ड मे गिनाये गये हैं जैसे—व्रतति दमूना, जाट्य (जटावाला), आट्णार (घूमनेवाला), जागरूक (जागने वाला), दर्विहोमी (कलछी से होम करनेवाला)।

विशेष—ये उदाहरण ऐसे हैं जिन्हें ऐकपदिक काण्ड मे गिनाया गया है जहाँ प्राय सभी शब्द कठिन तथा अनियमित हैं। व्रतति—वरणाच्च सयनाच्च, ततनाच्च (नि० ६।२८)। दमूना—दममना वा, दानमना. वा, दान्तमना वा, अपि वा—दम इति गृहनाम, तन्मना स्यात् (नि० ४।४)। दुर्ग के अनुसार ये सभी शब्द नियम के अनुकूल निष्पन्न हैं तथा स्पष्ट अर्थ वाले हैं।

यथो एतत्। निष्पन्ने अभिव्याहारे अभिविचारयन्ति इति। भवति हि निष्पन्ने अभिव्याहारे योगपरोष्टिः। प्रथनात् पृथिवीत्याहुः, क एनाम् अप्रथयिष्यत् किमाधारश्च इति। अथ वै दर्शनेन पृथुः, अप्रथिता चेत् अपि अन्यैः। अथापि एवं सर्व एव दृष्टप्रवादाः उपालभ्यन्ते।

यह कहा कि 'किसी शब्द के व्यवहार में चल पड़ने पर लोग उसकी उत्पत्ति पर विचार करते हैं' क्योंकि व्यवहार होने पर ही शब्द के निर्माण की जाँच होती है। √प्रथ् (फैलाना) से पृथिवी बनी तो इसे किसने फैलाया और कहाँ बैठकर? देखने में तो यह फैली हुई लगती है न? भले ही किसी ने इसे नहीं फैलाया हो। इसके अलावे, सभी लोग तो देखकर (दृष्ट) नाम देनेवाले (प्रवाद) पाये जाते हैं।

विशेष—योगपरोष्टि = शब्द-निर्माण पर विचार। दृष्ट-प्रवाद = वस्तुओं को देखकर नाम देनेवाले लोग। अनुभव के बाद ही नाम दिये जाते हैं।

यथो एतत्। पदेभ्यः पदेतरार्धान् सचस्कार इति। यः अनन्विते अर्थे सचस्कार स तेन गर्ह्यः। सा एषा पुरुषगर्हा॥

यह कहा कि 'कई [आख्यात] शब्दों से किसी शब्द के भिन्न-भिन्न खण्डों की बनावट करते हैं। जो असम्बद्ध अर्थ में बनावट करते हैं वे उस तरह की बनावट के द्वारा निन्दनीय हैं। यह [व्युत्पत्ति करनेवाले] पुरुष की निन्दा है॥

यथो एतत्। अपरस्मात् भावात् पूर्वस्य प्रदेशः न उपपद्यते इति। पश्यामः पूर्वोत्पन्नानां सत्त्वानाम् अपरस्मात् भावात् नामधेय-प्रतिलम्भमेकेषां न एकेषाम्। यथा बिल्वादः लम्बचूडकः इति। बिल्वं भरणात् वा भेदनात् वा॥ १४॥

यह कहा कि 'बाद में होनेवाली क्रिया के आधार पर पूर्व में [होनेवाले शब्द का] नामकरण नहीं होता', यहाँ देखते हैं कि पूर्व में होनेवाली वस्तुओं का नामकरण बाद में होनेवाली क्रिया के आधार पर कुछ दशाओं में होता है, कुछ में नहीं। जैसे—बिल्वाद, लम्बचूडक। 'बिल्व' √भृ (भरण) या √भिद् (फोड़ना) से बना है॥ १४॥

विशेष—प्रदेश = नामकरण। बिल्वाद = बेल का फल खानेवाला एक पक्षी। लम्बचूडक—यद्यपि इस पक्षी की लम्बी चोटी बहुत बाद में होती है फिर भी इसे लम्बचूडक कहते हैं। यहीं शब्दों का आख्यातजवाद समाप्त हो गया। यास्क का निष्कर्ष है कि सभी शब्द आख्यात से उत्पन्न हैं (देखिये भूमिका)॥ १४॥

पञ्चम-पाद

अथापि इदमन्तरेण मन्त्रेषु अर्थप्रत्ययो न विद्यते। अर्थम् अप्रतियतो नात्यन्तं स्वरसंस्कारोद्देशः। तदिदं विद्यास्थानम्। व्याकरणस्य कार्त्स्न्यम्। स्वार्थसाधकं च। यदि मन्त्रार्थप्रत्ययाय, अनर्थकं भवति इति कौत्सः। अनर्थका हि मन्त्राः। तदेतेन उपेक्षितव्यम्।

इस (निरुक्त) के बिना मन्त्रों में अर्थ का बोध नहीं होता। अर्थ का ज्ञान नहीं रखनेवाला निश्चित-रूप से स्वर और बनावट का निर्णय नहीं कर सकता। यह (निरुक्त) एक विद्यास्थान है, व्याकरण का पूरक तथा अपने कार्य (वेद-व्याख्या) का भी साधक है। कौत्स कहते हैं कि यदि [निरुक्त] मन्त्र का अर्थबोध कराने के लिए है तो व्यर्थ है क्योंकि मन्त्र स्वयं अर्थ से रहित हैं। इस [निरुक्त] के द्वारा इसका निर्णय देखें।

विशेष—'अथापि' का प्रयोग बतलाता है कि निरुक्त का कोई अन्य प्रयोजन भी है—वह है 'शब्दों का निर्वचन करना' जिसका वर्णन होने जा रहा है। उद्देश = निर्णय। विद्यास्थान कुल चौदह हैं—

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥ (या० स्मृ० १।३)

अर्थात् ४ वेद, ६ अङ्ग, पुराण, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र। मीमांसा दर्शन के मन्त्राधिकरण (१।२।३१-१।२।५३) में पूर्वपक्ष से सम्भवतः कौत्स या उनके मतवादी ही बोलते हों। आगे हम उनके मतों की तुलना सूत्रों से करेंगे।

नियतवाचोयुक्तयः, नियतानुपूर्व्याः भवन्ति। अथापि ब्राह्मणेन रूपसम्पन्नाः विधीयन्ते। 'उरु प्रथस्व' इति प्रथयति। 'प्रोहाणि' इति प्रोहति। अथापि अनुपपन्नार्थाः भवन्ति। 'ओषधे त्रायस्व एनम्'। 'स्वधिते मा एनं हिंसीः' इत्याह हिंसन्॥

(१) निश्चित शब्दों की योजना हुई है (=उनके स्थान पर दूसरे शब्द नहीं रख सकते) और (२) उनका क्रम भी निश्चित है। (३) इसके अलावे ब्राह्मणों के द्वारा उनके प्रयोजन (रूप) निश्चित किये जाते हैं। 'चारों ओर फैलाओ' (मैं० स० १।१।९) तो फैलाता है (मैं० स० ६।१।१)। 'ठेलूँ' तो ठेलता है। (४) इसके अलावे उनके अर्थ असगत हैं—'हे ओषधि ! इसे बचाओ' (मैं० स० ३।९।२। काठक० २६।३)। मारते हुए कहना है—हे कुल्हाड़ी, इसे मारो मत' ॥

विशेष—जैमिनि अपने मीमांसा-दर्शन के मन्त्राधिकरण में इन तर्कों को सूत्र के रूप में उपस्थित करते हैं—(१) और (२) के लिए वे 'वाक्यनियमात्' (१।२।३२), (३) के लिये 'तदर्थशास्त्रात्' (१।२।३३), तथा (४) के लिये 'अचेतने अर्थबन्धनात्' (१।२।३५) सूत्र देते हैं। विशेष विवरण के लिए इन पर शबरभाष्य या सायण को ऋग्वेदभाष्यभूमिका देखें।

अथापि विप्रतिपिद्धार्था भवन्ति । 'एक एव रुद्रोऽवतस्थे न द्वितीय.'×'असख्याता सहस्राणि ये रुद्रा अधि भूम्याम्'। 'अशत्रुरिन्द्र जज्ञिषे'×'शतं सेना अजयत्साकमिन्द्र.' इति। अथापि जानन्त सप्रेष्यति । अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहि' इति । अथापि आह. अदितिः सर्वमिति —'अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम्' इति । तदुपरिष्टात् व्याख्यास्याम.। अथापि अविस्पष्टार्था. भवन्ति। अम्यक्, यादृश्मिन्, जारयायि, काणुका इति ॥ १५ ॥

(५) इसके अलावे विरोधी अर्थवाले भी हैं—'एक ही रुद्र था दूसरा नहीं' और 'जो असख्य, हजारों रुद्र पृथ्वी पर हैं ' (मैं० स० २।९।९)। हे इन्द्र, तुम शत्रुहीन उत्पन्न हुए हो' (ऋ० १०।१३३।२) और 'इन्द्र ने सैकड़ो शत्रुसेनायें एक साथ जीत लीं' (ऋ० १०।१०३।१)। (६) पुन, जानकार को हो विधि बतलाते हैं—[अध्वर्यु सर्वज्ञ होता को कहता है कि] 'अग्नि के लिए सामिधेनी ऋचायें पढो (मैं० स० १।४।११)। (७) यह भी कहा है कि अदिति सब कुछ है—'अदिति स्वर्ग है, अदिति अन्तरिक्ष है' (ऋ० १।८९।१०)। इसकी व्याख्या बाद मे करेंगे (नि० ४।२३)। (८) पुन, वे (मन्त्र) अस्पष्ट अर्थवाले हैं जैसे—अम्यक्, यादृश्मिन्, जारयायि, काणुका ॥ १५ ॥

विशेष—इन तर्कों के लिये जैमिनि निम्नलिखित सूत्र देते हैं—(५) के लिये 'अर्थविप्रतिषेधात्' (१।२।३६), (६) के लिये 'बुद्धशास्त्रात्' (१।२।३३), (७) के लिये वही 'अर्थविप्र०', (८) के लिये 'अविज्ञेयात्' (१।२।३८)। उत्तरपक्ष अब आरम्भ होगा जिसमें प्रत्येक तर्क काटा जायगा ॥ १५ ॥

अर्थवन्त शब्दसामान्यात्। 'एतद्वै यज्ञस्य समृद्ध, यद्रूपसमृद्ध, यत्कर्म क्रियमाणम् ऋग्यजु वा अभिवदतीति च ब्राह्मणम्'। 'क्रीळन्तौ पुत्रैर्नप्तृभि'। यथो एतत्। 'नियतवाचोयुक्तयो, नियतानुपूर्व्या भवन्ति' इति। लौकिकेषु अपि एतत्। यथा—इन्द्राग्नी, पितापुत्रौ इति। यथो एतत्। 'ब्राह्मणेन रूपसम्पन्ना विधीयन्ते' इति। उदितानुवाद स भवति। यथो एतत्। 'अनुपपन्नार्था भवन्ति' इति। आम्नायवचनादहिंसा प्रतीयेत ॥

[लौकिक और वैदिक वाक्यो में] शब्द की समानता होने के कारण ये (मन्त्र) अर्थयुक्त हैं। 'यज्ञ की पूर्णता यही है कि प्रयोजन बतलाये जाने पर पूर्ण होते हैं तथा किये जाने वाले कर्म का वर्णन ऋग् या यजु करते हैं'—ऐसा भी ब्राह्मण में कहा है (गोपथ ब्रा० २।२।६ या २।४।२)। [विवाह का प्रयोजन बतलानेवाला मन्त्र है—] बेटो और पोतो के साथ तुम दोनो खेलते हुए……' (१०।८५।४२)।

(१–२) यह जो कहा कि 'निश्चित शब्दो की योजना हुई और उनका क्रम भी निश्चित है।' ऐसा तो लोक मे भी देखते है जैसे—इन्द्राग्नी, पितापुत्रौ।

(३) यह जो कहा कि 'ब्राह्मणो के द्वारा उनके प्रयोजन (रूप) निश्चित होते हैं।' यह कहे हुए की आवृत्ति है। [तुल० जै० गुणार्थेन पुनःश्रुति १।२।४१, परिसख्या १।२।४२, अर्थवादो वा १।२।४३]।

(४) यह जो कहा कि 'उनके अर्थ असगत हैं'। इसमे वेद के वाक्य से अहिंसा का ज्ञान हो सकता है [तुल० अभिधानेऽर्थवाद १।२।४६] ॥

यथो एतत्। 'विप्रतिषिद्धार्था भवन्ति' इति। लौकिकेषु अपि एतत्। यथा असपत्नोऽयं ब्राह्मण। अनमित्रो राजा इति। यथो एतत्। 'जानन्त सम्प्रेष्यति' इति। जानन्तम् अभिवादयते।

जानते मधुपर्क प्राह। यथो एतत्। 'अदितिः सर्वमिति'। लौकिकेषु अपि एतत्। यथा–सर्वरसाः अनुप्राप्ताः पानीयम् इति। यथो एतत्। 'अविस्पष्टार्था. भवन्ति' इति। नैष स्थाणो. अपराध. यदेनम् अन्धो न पश्यति। पुरुषापराधः स भवति। यथा जानपदीषु विद्यात. पुरुषविशेषो भवति। पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्य. प्रशस्यो भवति ॥ १६ ॥

(५) यह जो कहा कि 'विरोधी अर्थवाले हैं', ऐसा तो लौकिक वाक्यो मे भी है जैसे—यह ब्राह्मण शत्रुहीन है, यह राजा शत्रुहीन है। [तुल० जै० गुणादविप्रतिषेधः स्यात् १।२।४७]।

(६) यह कहा कि 'जानकार को ही विधि बतलाते हैं', यह जानकार का अभिवादन है। जाननेवाले के सामने ही (विवाह मे) 'मधुपर्क' कहा जाता है। [तु० सम्प्रैषकर्मणो गर्हानुपलम्भ संस्कारत्वात् १।२।५५]।

(७) यह कहा कि 'अदिति सब कुछ है', ऐसा लौकिक वाक्यों मे भी है जैसे—पानी मे सब रस प्राप्त हैं।

(८) यह कहा कि 'अस्पष्ट अर्थवाले हैं'। यह सूखे वृक्ष का दोष नहीं कि उसे अन्धा नही देख पाता। यह उस व्यक्ति का ही दोष है। जैसे—मनुष्यो के साधारण कामो मे (जानपदी) ज्ञान के कारण मनुष्यो मे अन्तर होता है [वैसे ही वेद मे भी अर्थज्ञान के विषय मे मनुष्यों मे भेद होता है, सभी वेद नही समझ सकते]। परम्परा से ज्ञान पानेवाले लोगो मे तो अधिक विद्यावाला ही प्रशसनीय होता है। [तु० सत. परमविज्ञानम् १।२।४९] ॥ १६ ॥

विशेष—मधुपर्क = दही और मधु का घोल जिसे पुरोहित, ब्रह्मचारी, राजा, आचार्य, ससुर या जामाता को देते हैं। मधुपर्क देनेवाले को 'मधुपर्क' शब्द का उच्चारण तीन बार करना पडता है (आश्व० गृह्य० १।२४।७)। पारोवर्य = पर + अवर—आचार्य की परम्परा। दुर्गाचार्य कहते है कि कौत्स के सभी तर्कों का उत्तर यास्क ने अच्छी तरह से दिया है। वे कहते हैं—

इति प्रभिन्नेषु परस्य हेतुषु स्वपक्षसिद्धावुदिते च कारणे।
अवस्थिता मन्त्रगणस्य सार्थता तदर्थमेतत्खलु शास्त्रमर्थवत् ॥

षष्ठ-पाद

अथापि इदमन्तरेण पदविभागो न विद्यते। 'अवसाय पद्वते रुद्र मृळ' इति। पद्वत् अवसम्। गावः पथ्यदनम्। अवतेः गत्यर्थस्य। असो नामकरणः। तस्मात् न अवगृह्णन्ति। 'अवसायाश्वान्' इति। स्यतिः उपसृष्टो विमोचने। तस्मात् अवगृह्णन्ति ॥

पुनः, इस (निरुक्त) के बिना [सन्धिबद्ध] पदों का विभाग नहीं होता। 'हे रुद्र! पैरवाले भोजन पर कृपा करो' (ऋ० १०।१६९।१)। पैरों से युक्त भोजन = गायें, जो रास्ते का भोजन हैं। गति-अर्थवाले √अव् से 'अस' प्रत्यय लगा जो संज्ञा बनाता है। इसीलिए [पद-कार] इसका ग्रहण नहीं करते। 'घोड़ों को खोलकर' (ऋ० १।१०४।१)। उपसर्ग के साथ (उपसृष्ट) √सो छोड़ने के अर्थ में होता है, इसलिए [पद-विभाग को] ग्रहण करते हैं ॥

विशेष—पहले उदाहरण में 'अवसाय' एक पद है, पद-पाठ करनेवाले यहाँ पद-विभाग नहीं मानते क्योंकि उसकी व्युत्पत्ति है √अव् + अस। किन्तु दूसरे उदाहरण में 'अव' और 'साय' अलग पद माने गये हैं। निरुक्त जाननेवाला ही पदों का विभाग कर सकता है।

'दूतो निर्ऋत्या इदमा जगाम' इति। पञ्चम्यर्थप्रेक्षा वा षष्ठ्यर्थप्रेक्षा वा। आःकारान्तम्। 'परो निर्ऋत्या आ चक्ष्व' इति। चतुर्थ्यर्थप्रेक्षा। ऐकारान्तम्। परः संनिकर्षः संहिता। पदप्रकृतिः संहिता। पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि ॥

'निर्ऋति से, या निर्ऋति का दूत आया' (ऋ० १०।१६५।१)। [illegible] या षष्ठी के अर्थ का निर्देशक 'आः' है (निर्ऋति + आ)। [illegible] को कहो' (ऋ० १०।१६४।१)। चतुर्थी के अर्थ का निर्देशक [illegible] है। [illegible] समीप हो जाने को संहिता कहते हैं या पदों के [illegible] कहते हैं (ऋक्प्राति० २।१)। [वेद की] सभी [illegible] ऋक् मूल में पद ही है। [पद के बिना ऋक् भी [illegible] है।]

जानते मधुपर्कं प्राह। यथो एतत्। 'अदितिः सर्वमिति'। लौकिकेषु अपि एतत्। यथा—सर्वरसाः अनुप्राप्ताः पानीयम् इति। यथो एतत्। 'अविस्पष्टार्थाः भवन्ति' इति। नैष स्थाणोः अपराध. यदेनम् अन्धो न पश्यति। पुरुशापराधः स भवति। यथा जानपदीषु विद्यात. पुरुषविशेषो भवति। पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति॥ १६॥

(५) यह जो कहा कि 'विरोधी अर्थवाले हैं', ऐसा तो लौकिक वाक्यों मे भी है जैसे—यह ब्राह्मण शत्रुहीन है, यह राजा शत्रुहीन है। [तुल० जै० गुणादविप्रतिषेधः स्यात् १।२।४७]।

(६) यह कहा कि 'जानकार को ही विधि बतलाते हैं', यह जानकार का अभिवादन है। जाननेवाले के सामने ही (विवाह मे) 'मधुपर्क' कहा जाता है। [तु० सर्वप्रकमणो गर्ह्यानुपलम्भ. सस्कारत्वात् १।२।५५]।

(७) यह कहा कि 'अदिति सब कुछ है', ऐसा लौकिक वाक्यों मे भी है जैसे—पानी मे सब रस प्राप्त हैं।

(८) यह कहा कि 'अस्पष्ट अर्थवाले हैं'। यह सूखे वृक्ष का दोष नही कि उसे अन्धा नही देख पाता। यह उस व्यक्ति का ही दोष है। जैसे—मनुष्यो के साधारण कामो मे (जानपदी) ज्ञान के कारण मनुष्यो मे अन्तर होता है [वैसे ही वेद मे भी अर्थज्ञान के विषय मे मनुष्यों मे भेद होता है, सभी वेद नही समझ सकते]। परम्परा से ज्ञान पानेवाले लोगो मे तो अधिक विद्यावाला ही प्रशसनीय होता है। [तु० सतः परमविज्ञानम् १।२।४९] ॥ १६॥

विशेष—मधुपर्क = दही और मधु का घोल जिसे पुरोहित, ब्रह्मचारी, राजा, आचार्य, ससुर या जामाता को देते हैं। मधुपर्क देनेवाले को 'मधुपर्क' शब्द का उच्चारण तीन बार करना पडता है (आश्व० गृह्य० १।२४।७)। पारोवर्य = पर + अवर—आचार्य की परम्परा। दुर्गाचार्य कहते है कि कौत्स के सभी तर्कों का उत्तर यास्क ने अच्छी तरह से दिया है। वे कहते हैं—

इति प्रश्निनेषु परस्य हेतुषु स्वपक्षसिद्धावुदिते च कारणे।
अवस्थिर्था मन्त्रगणस्य सार्थता तदर्थमेतत्खलु शास्त्रमर्थवत्॥

षष्ठ-पाद

अथापि इदमन्तरेण पदविभागो न विद्यते। 'अवसाय पद्वते रुद्र मृळ' इति। पद्वत् अवसम्। गाव. पथ्यदनम्। अवते: गत्यर्थस्य। असो नामकरण.। तस्मात् न अवगृह्णन्ति। 'अवसायाश्वान्' इति। स्यति. उपसृष्टो विमोचने। तस्मात् अवगृह्णन्ति ॥

पुनः, इस (निरुक्त) के विना [सन्धिबद्ध] पदो का विभाग नही होता। 'हे रुद्र! पैरवाले भोजन पर कृपा करो' (ऋ० १०।१६९।१)। पैरो से युक्त भोजन = गायें, जो रास्ते का भोजन हैं। गति-अर्थवाले √अव् से 'अस' प्रत्यय लगा जो सज्ञा बनाता है। इसीलिए [पद-कार] इसका ग्रहण नही करते। 'घोडो को खोलकर' (ऋ० १।१०४।१)। उपसर्ग के साथ (उपसृष्ट) √सो छोडने के अर्थ मे होता है, इसलिए [पद-विभाग को] ग्रहण करते हैं ॥

विशेष—पहले उदाहरण मे 'अवसाय' एक पद है, पद पाठ करनेवाले यहाँ पद विभाग नही मानते क्योंकि उसकी व्युत्पत्ति है √अव् + अस। किन्तु दूसरे उदाहरण में 'अव' और 'साय' अलग पद माने गये हैं। निरुक्त जाननेवाला ही पदो का विभाग कर सकता है।

'दूतो निर्ऋत्या इदमा जगाम' इति। पञ्चम्यर्थप्रेक्षा वा षष्ठ्यर्थप्रेक्षा वा। आ.कारान्तम्। 'परो निर्ऋत्या आ चक्ष्व' इति। चतुर्थ्यर्थप्रेक्षा। ऐकारान्तम्। पर सनिकर्ष· सहिता। पदप्रकृति. सहिता। पदप्रकृतीनि सर्वचरणाना पार्षदानि ॥

'निर्ऋति से, या निर्ऋति का दूत आया' (ऋ० १०।१६५।१)। पचमी या षष्ठी के अर्थ का निर्देश 'आ' है (निर्ऋति+आ)। 'पीछे—निर्ऋति को कहो' (ऋ० १०।१६४।१)। चतुर्थी के अर्थ का निर्देश 'ऐ' है। अत्यन्त समीप हो जाने को सहिता कहते हैं या पदो के स्वाभाविक रूप को सहिता कहते हैं (ऋक्प्राति० २।१)। [वेद की] सभी शाखाओं के प्रातिशाख्य में ऋक् मूल मे पद ही है। [पद के बिना ऋक् की व्याख्या असम्भव है।]

विशेष—चरण = वेद की शाखायें, उनके विभिन्न संस्करण। पार्षद = प्रातिशाख्य अर्थात् वैदिक पदपाठ का नियम बतलानेवाला ग्रन्थ। 'संहिता' की यही परिभाषा पाणिनि (१।४।१०९) में भी है जिसे उन्होंने ऋक्प्रातिशाख्य से लिया है॥

अथापि याज्ञे दैवतेन बहवः प्रदेशा भवन्ति। तद् एतेन उपेक्षितव्यम्। ते चेद् ब्रूयु-'लिङ्गज्ञा अत्र स्म.' इति। 'इन्द्रं न त्वा शवसा देवता वायुं पृणन्ति' इति। वायुलिङ्गं च इन्द्रलिङ्गं च आग्नेये मन्त्रे। 'अग्निरिव मन्यो त्विषित सहस्व' इति। तथा अग्निर्मान्यवे मन्त्रे। त्विषित ज्वलित। त्विषिरिति अपि अस्य दीप्तिनाम भवति। अथापि ज्ञानप्रशंसा भवति अज्ञाननिन्दा च॥१७॥

इसके अलावे यज्ञकर्म में देवताओं के विषय में बहुत-सी विधियाँ (प्रदेश) होती हैं। उन्हें इस (निरुक्त) के द्वारा देखें। वे (निरुक्त के ज्ञाता) कहते हैं कि हम इस विषय में (देवताओं के) चिह्न पहचानते हैं। 'तुम्हें बल के कारण देवता लोग इन्द्र सा या वायु सा पूजते हैं' (ऋ० ६।४।७)। यहाँ अग्नि के मंत्र में वायु और इन्द्र के चिह्न हैं। हे मन्यु (क्रोध देव), प्रज्वलित होकर अग्नि सा विजय पाओ (ऋ० १०।८४।२)—उसी प्रकार मन्यु के मंत्र में अग्नि [का चिह्न है]। त्विषित = ज्वलित। त्विषि' भी इसी से होता है जो दीप्ति का पर्याय है।

इसके अलावे ज्ञान की प्रशंसा और अज्ञान की निन्दा होती है॥ १७॥

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा॥

(यः) जो (वेदम्) वेद को (अधीत्य) पढ़कर (अर्थम्) अर्थ (न विजानाति) नहीं जानता, (अयं) वह (स्थाणुः) सूखा वृक्ष (किल) बस (भारहारः) भार ही ढोनेवाला (अभूत्) हुआ। (यः अर्थज्ञः) जो अर्थ जाननेवाला है (सकलम्) समूचे (इत्) ही (भद्रम्) कल्याण को (अश्नुते) पाता है, वह (ज्ञानविधूतपाप्मा) ज्ञान से पापों को धोकर (नाकम्) स्वर्ग (एति) जाता है॥

यद् गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्॥

(यद्) जिसे (गृहीतम्) पाया = रट लिया, पर (अविज्ञातम्) समझा नहीं, वह केवल (निगदेन) शब्द से (एव) ही (शब्द्यते) ध्वनित होता है। (तत्) वह (शुष्कैध) सूखी लकड़ी (अनग्नौ इव) जैसे अग्निहीन स्थान में (कर्हिचित्) कभी (न) नहीं (ज्वलति) जलती।

विशेष—जिसे केवल रट लिया गया है उसका फल पाठमात्र में ही है बाद में नहीं इसलिए अर्थज्ञान आवश्यक है।

स्थाणुः तिष्ठतेः। अर्थः अर्तेः। अरणस्थः वा ॥ १८ ॥

स्थाणु √स्था (बैठाना) से अर्थ √ऋ (जाना) [illegible] या √अर् + √स्था से बनता है। १८ ॥

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥

(उत) और (त्व) कुछ तो (वाचम्) वाणी को (पश्यन्) देखते हुए भी (न) नहीं (ददर्श) देखते; (उत त्व) और कुछ (एनाम्) इसे (शृण्वन्) सुनते हुए भी (न शृणोति) नहीं सुनते। (उतो त्वस्मै) और कुछ को तो वह (तन्वम्) शरीर (विसस्रे) खोल देती है, दिखाती है, (उशती) कामना करने वाली (सुवासाः) सुन्दर कपड़े पहने हुए (जाया इव) पत्नी जैसे (पत्ये) पति को [शरीर दिखाती है।] (ऋ० १०।७१।४) ॥

विशेष—इस मन्त्र में कई स्वरभक्तियाँ हैं—शृणोतिएनाम्, तुअस्मै, तनुअ पत्ये। तभी छन्द की रक्षा सम्भव है। विसस्रे-√सृज्-छोड़ देना, खोल देना।

अपि एकः पश्यन् न पश्यति वाचम्। अपि च शृण्वन् न शृणोति एनाम्। इति अविद्वांसम् आह अर्द्धम्। अपि एकस्मै तन्वं विसस्रे इति स्वम् आत्मानं विवृणुते ज्ञानम्। प्रकाशनम् अर्थस्य आह अनया वाचा। उपमा उत्तमया वाचा। जाया इव पत्ये कामयमाना सुवासा ऋतुकालेषु। यथा स एनां पश्यति स शृणोति। इति अर्थज्ञप्रशंसा। तस्य उत्तरा भूयसे निर्वचनाय ॥ १९ ॥

और कुछ वाणी को देखते हुए भी नहीं देखते, और इसे सुनते हुए भी नहीं सुनते—इस आधे में मूर्ख के विषय में कहा है। और कुछ के लिये शरीर खोल देती है अर्थात् ज्ञान अपने आप को प्रकाशित कर देता है—इस वाक्य से अर्थ का प्रकाशन बतलाया गया है। अंतिम वाक्य से उपमा बतलाई गई है। जैसे इच्छा करती हुई सुवसना पत्नी ऋतुकाल में पति को [शरीर खोलती

। जैसे वह इसे (पत्नी को) देखता है और सुनता है। यह अर्थ जानने वाले की प्रशंसा है ॥ इसके बाद की ऋचा स्पष्टतर उदाहरण के लिए है ॥१९॥

विशेष—यहाँ पर प्रत्येक पंक्ति के लिए यास्क की टिप्पणी (Comments) ध्यान देने योग्य है ॥ १६ ॥

उत त्व सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु ।
अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्॥

(उत) और (त्व) कुछ को (सख्ये) वाणी की मित्रता के विषय में (स्थिरपीतम्) सुनिश्चित ज्ञान वाला (आहु) कहते हैं, (एनं) इसे (वाजिनेषु) कठिन शब्द के स्थानों में (अपि) भी (न) नहीं (हिन्वन्ति) हरा सकते। (एष) दूसरे ये लोग (अधेन्वा) झूठी गाय की (मायया) माया से (चरति) चलते हैं, ये (अफला) फलरहित (अपुष्पाम्) फूलरहित (वाच) वाणी को (शुश्रुवान्) सुने हुए होते हैं। (ऋ० १०।७१।५) ॥

विशेष—सभी प्राचीन व्याख्याकारों के अनुसार इस ऋचा में आधा अर्थज्ञ की प्रशंसा करता है, आधा अर्थ न जाननेवाले की निन्दा करता है। परन्तु श्रीराजवाडे एक सुझाव देते हैं कि पूरी ऋचा में झूठे कवि का वर्णन है। सख्य = कवि का कर्म। स्थिरपित = जिसका ज्ञान स्थिर है, नई सृष्टि में असमर्थ। वाजिन = कवियों की सभा। कुछ कवि अपने कर्म में स्थिर ज्ञान-वाले हैं, नई कविता की रचना नहीं कर सकते इसलिए सभाओं में लोग उन्हें नहीं भेजते ॥

अपि एकं वाक्सख्ये स्थिरपीतम् आहुः रममाणं विपीतार्थम्। देवसख्ये रमणीये स्थाने इति वा। विज्ञानार्थं यं न आप्नुवन्ति वाग्ज्ञेयेषु बलवत्सु अपि। अधेन्वा हि एष चरति मायया वाक्प्रतिरूपया। न अस्मै कामान् दुग्धे वाक् दोह्यान् देवमनुष्यस्थानेषु। यो वाचं श्रुतवान् भवति अफलाम् अपुष्पाम् इति। अफला अस्मै अपुष्पा वाक् भवति इति वा। किञ्चित्पुष्पफला इति वा। अर्थं वाचः पुष्पफलमाह। याज्ञदैवते पुष्पफले। देवताध्यात्मे वा ॥

वचन से मित्रता के विषय में (जैसे कवितादि) कुछ लोगों को स्थिरपीत अर्थात् रमण करनेवाला या अर्थ जाननेवाला कहा गया है। अथवा देवता की मित्रता से युक्त रमणीय स्थान (देवलोक) में। अर्थ जाननेवाले को

समानता [दूसरे लोग] वचन के द्वारा ज्ञेय कठिन–[स्थलों] में भी नहीं कर सकते । वह (दूसरा) धेनु हीन होकर माया से वाणी के भ्रम में चलता है । देवों और मनुष्यों के बीच दुही जानेवाली (दी जानेवाली) कामनाओं को, वाणी, ऐसे व्यक्ति को प्रदान नहीं करती । जो फल और फूल से रहित वाणी को सुने हुए होता है, या वाणी उसके लिए फल और फूल से रहित हो जाती है । अथवा थोड़ा फूल फलवाली हो जाती है । वाणी के अर्थ को फूल-फल कहा गया है । यज्ञ और देवता के ज्ञान क्रमश: फूल और फल हैं अथवा देवताज्ञान और आत्मज्ञान ही [फूल फल हैं] ॥

साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवु । ते अवरेभ्य. असाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादु । उपदेशाय ग्लायन्त अवरे बिल्मग्रहणाय इम ग्रन्थ समाम्नासिषु. । वेद च वेदाङ्गानि च । बिल्म = भिल्मम् । भासनमिति वा ॥

ऋषिगण धर्म का साक्षात्कार किये हुए थे । उन्होंने धर्म का साक्षात्कार न किये हुए दूसरे लोगों को उपदेश द्वारा मन्त्र दिये । उपदेश [की रक्षा] में कष्ट पाते हुए उन दूसरे लोगों ने वर्गीकरण के लिये यह ग्रन्थ, वेद और वेदांग बनाये । बिल्म = भिल्म (भेदन) या भासन (चमकना) से ॥

विशेष—डा० बेलवलकर इन पंक्तियों से व्याकरण शास्त्र की तीन अवस्थाओं का निर्देश करते हैं । देखिये—Systems of Sanskrit Crammar पृष्ठ ६ ('Three Periods of intellectual development')

'एतावन्त समानकर्माणो धातव' । धातु दधाते. । 'एतावन्ति अस्य सत्त्वस्य नामधेयानि' । 'एतावताम् अर्थानाम् इदम् अभिधानम्' । नैघण्टुकमिद देवतानाम । प्राधान्येन इदमिति । तत् अन्यदेवते मन्त्रे निपतति नैघण्टुक तत् । 'अश्व न त्वा वारवन्तम्' । अश्वमिव त्वा वालवन्तम् । वाला. दंशवारणार्था भवन्ति । दंशो दशते. ॥

'इतने धातु समान अर्थवाले हैं' । धातु √धा (धारण) से । इतने नाम इस वस्तु के हैं', 'इतनी वस्तुओं का यह नाम है'—यह देवता के नाम ॥ सम्बद्ध नैघण्टुक है । यहाँ [देवता का नाम] प्रधानतया होता है । जब दूसरे देवता वाले मन्त्र में आता है वह भी नैघण्टुक ही है । जैसे—'[हे अग्नि !] तुम्हें बालवाले घोड़े के समान' (ऋ० १।२७।१) । बाल दंश से बचानेवाले हैं । दंश √दंश् (काटना) से ॥

विशेष—यद्यपि नैघण्टुक का लक्षण यास्क देते हैं परन्तु यह कहीं मिलता नहीं, कहीं तो देवता मुख्य रहते हैं, कहीं दूसरे के मन्त्र में स्थान पाते हैं ? उपर्युक्त मन्त्र में अग्नि के मन्त्र में 'अश्व' आ गया है। अश्व के मुख्य गुण (केश होना) अग्नि के गुण हो गये हैं ॥

'मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः'। मृगः इव भीमः कुचरः गिरिष्ठाः। मृगः मार्ष्टेः गतिकर्मणः। भीमः बिभ्यति अस्मात्। भीष्मः अपि एतस्मादेव। कुचर. इति चरति कर्म कुत्सितम्। अथ चेत् देवताभिधानं, क अयं न चरति इति। गिरिष्ठाः गिरिस्थायी। गिरिः पर्वतः। समुद्गीर्णो भवति। पर्ववान् पर्वतः। पर्व पुनः पृणातेः प्रीणातेः वा। अर्धमासपर्व देवान् अस्मिन् प्रीणन्ति इति। तत्प्रकृति इतरत् सन्धिसामान्यात्। मेघस्थायी। मेघोऽपि गिरिः एतस्मात् एव ॥

'मृग-सा भयकर, कुचर और पहाड़ पर बैठनेवाला' (ऋ० १०।१८०।२)। 'मृग' गति अर्थवाले √मार्ज से। 'भीम'= जिससे डरें (√भी), भीष्म भी इसी से। कुचर = बुरे ढंग से चलना। यदि देवता का अर्थ लें तो 'कहाँ यह नहीं चलता'—[यह निर्वचन होगा]। गिरिष्ठाः = गिरि पर बैठनेवाला। गिरि = पर्वत क्योंकि ऊबड़-खाबड़ (सम्+उद्+√गृ) होता है। पर्वत = पर्व (सन्धि) से युक्त। 'पर्व' √पृ (भरना) या √प्री (प्रसन्न करना) से। अर्धमासपर्व = जिसमें देवताओं को प्रसन्न करें। इसी के आधार पर अन्य (अर्थ) सयोग की समानता के कारण होते हैं। [देवता-पक्ष में]—मेघ पर बैठने वाला; मेघ भी इसी कारण से गिरि कहलाता है।

तद् यानि नामानि प्राधान्यस्तुतीनां देवतानां तद् दैवतम् इति आचक्षते। तद् उपरिष्टात् व्याख्यास्यामः। नैघण्टुकानि नैगमानि इह इह ॥ २० ॥

जो नाम प्रधान स्तुतिवाले देवताओं के हैं, उसे दैवत कहते हैं। उसकी व्याख्या बाद में करेंगे (नि० ७-१२ अध्याय)। यहाँ पर नैघण्टुक और नैगम के नामों की [व्याख्या करेंगे] ॥ २० ॥

विशेष—अध्याय के अन्त में 'इह' शब्द की द्विरुक्ति हुई ॥ २० ॥

इति निरुक्ते प्रथमोऽध्यायः ॥

द्वितीय अध्याय

प्रथम-पाद

अथ निर्वचनम्। तद्येषु पदेषु स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेन अन्वितौ स्याताम्, तथा तानि निर्ब्रूयात्। अथ अनन्विते अर्थे, अप्रादेशिके विकारे अर्थनित्यः परीक्षेत केनचित् वृत्तिसामान्येन। अविद्यमाने सामान्येऽपि अक्षरवर्णसामान्यात् निर्ब्रूयात्। न तु एव न निर्ब्रूयात्। न संस्कारम् आद्रियेत। विशयवत्यः हि वृत्तयः भवन्ति। यथार्थं विभक्तीः सनमयेत्॥

अब निर्वचन आरम्भ होता है। तो जिन शब्दों में स्वर और बनावट अर्थ से युक्त होकर, अपने अधीनस्थ अर्थ सम्बन्धी (प्रादेशिक) विकार से सम्बद्ध हों, उनका निर्वचन उसके अनुसार ही करें (१)। किन्तु [शब्द में दिखलाई पड़नेवाले धातु का] अर्थ असंगत होने पर या [शब्द का अर्थ रखनेवाले धातु से उस शब्द की व्युत्पत्ति करने में] विकार (आन्तरिक परिवर्तन) के व्याकरण-सम्मत न होने पर किसी रूप (धातु का या शब्द का) की समानता से अर्थ की सत्ता जाँच लें (२)। इस प्रकार की समानता न मिलने पर किसी स्वर या व्यञ्जन की समानता देखकर निर्वचन करें (३)। किन्तु ऐसा न हो कि निर्वचन ही न करें। व्याकरण की व्युत्पत्ति का सहारा न लें क्योंकि रूप (संज्ञा या क्रिया की बनावट) सन्देहात्मक होते हैं। [ऋचाओं की व्याख्या के समय] अर्थ के अनुसार विभक्तियों को बदल दें॥

विशेष—निर्वचन=व्युत्पत्ति द्वारा अर्थ बतलाना; 'राम' शब्द की व्युत्पत्ति है √रम्+घञ् (अ), किन्तु निर्वचन है 'रमन्ते योगिनो यस्मिन्'—इसमें धातु के साथ अर्थ का भी ज्ञान हो जाता है। यास्क निर्वचन करने के लिए तीन नियम बतलाते हैं (१) याग, पाक आदि शब्दों का निर्वचन तो साधारण रीति से ही सम्भव है। (२) कभी कभी जो धातु शब्द में दिखलाई पड़ता है उसका अर्थ शब्द में नहीं, जैसे 'हंस' में √हस् (अनन्वित अर्थ)। कभी-कभी ऐसा होता है कि जिस धातु में उस शब्द का अर्थ है उस धातु से उक्त शब्द की व्युत्पत्ति करने में व्याकरण बाधा पहुँचाता है जैसे 'हंस' में √हन् (अना-

दैशिक विकार)—ऐसी दशाओ मे हम दोनो के रूपो की तुलना करेंगे कि कहीं समानता है या नहीं जैसे √हन् से निघण्टु बना क्योंकि 'हन्' का कहीं कहीं 'घ्' भी होता है। (३) यदि ऐसा अवसर भी न मिले तो एकाध अक्षर (स्वर) या वर्ण (व्यंजन) की समानता देखकर भी निर्वचन करें। जैसे 'शृंग' का निर्वचन √शम् (मारना) से केवल 'श' की समानता पर। इन तीन नियमों का पालन यास्क सदा करते हैं। निर्वचन न करना अपनी मूर्खता प्रकट करना है—आखिर निरुक्त है किस लिए ? कभी-कभी वैदिक मन्त्रो मे ऐसी विभक्तियाँ मिलती हैं जिनका कार्य संस्कृत मे दूसरी विभक्तियाँ करती हैं। उन्हें तदनुसार बदल देना चाहिए। यहाँ यास्क भाषा के परिवर्तन का संकेत कर रहे हैं। इसी प्रकार 'स तस्मै कथयति' का अनुवाद 'वह उससे कहता है' करते हैं। यास्क का यह अपूर्व अनुभव (Observation) है। इसीके अनुसार वे 'हृत्सु' को 'हृदयानि' कर देते हैं॥

प्रत्तम् अवत्तम् इति धात्वादी एव शिष्येते। अथापि अस्तेः निवृत्तिस्थानेषु आदिलोपो भवति—स्तः सन्तीति। अथापि अन्तलोपो भवति—गत्वा गतमिति। अथापि उपधालोपो भवति—जग्मतुः, जग्मुः इति। अथापि उपधाविकारो भवति—राजा दण्डी इति। अथापि वर्णलोपो भवति—'तत्त्वा यामि' इति। अथापि द्विवर्णलोपः—तृचः इति। अथापि आदिविपर्ययो भवति—ज्योतिः, घनः, बिन्दुः, वाट्यः इति। अथापि आद्यन्तविपर्ययो भवति—स्तोकाः, रज्जुः, सिकताः, तर्कु इति। अथापि अन्तव्यापत्तिः भवति ॥ १ ॥

'प्रत्त' और 'अवत्त' में धातु (√दा) का पहला अक्षर (द्) ही बचता है। गुण और वृद्धि से रहित स्थानों मे (Weak terminations) √अस् का पहला अक्षर लुप्त हो जाता है—स्तः, सन्ति। कहीं पर अन्तिम अक्षर का लोप होता है—गत्वा, गतम् (√गम्)। कहीं उपधा का लोप होता है—जग्मतु (गये) जग्मुः (गये बहु०) (√गम् के 'अ' का लोप)। कहीं उपधा में परिवर्तन होता है—(राजन् से) राजा, (दण्डिन् से) दण्डी। कहीं वर्ण का लोप भी होता है—तत्त्वा यामि (त्वाम् के 'म्' का, या 'त्' का लोप)। दो वर्णों का भी लोप होता है—तृच (त्र्यृच के र् और य् का लोप)। आदि वर्ण का भी परिवर्तन होता है—ज्योति (√द्युत्), घनः (√हन्),

बिन्दु (√भिद्) वाट्य (√वट्)। आदि और अन्त—दोनों का भी परिवर्तन (Metathesis) होता है—स्तोक (√श्चुत्) रज्जु (√सृज्), सिकता (√कस्) तर्कु, (√कृत्)। कहीं अन्त का भी परिवर्तन होता है ॥१॥

विशेष—प्रत्त = प्र + √दा + क्त = प्रदद्त = प्रदत = प्रत्त। देखिए पाणिनि० 'दो दद्घोः' (७।४।४६) तथा 'अच उपसर्गात् तः' (७।४।४७)। निवृत्ति-स्थान = जहाँ गुण और वृद्धि न हो, धातु मूलावस्था में हो। आधुनिक भाषा-विज्ञान में इसे Weak Termination कहते हैं। उपधा = अन्तिम से पूर्व-वर्ण (Penultimate) जैसे—गम् में 'अ'। उपधाविकार—राजन् में 'अ' का 'अ' लोप हो जाता है—राज्ञा। वर्णलोप—दुर्ग कहते हैं कि 'तत्त्वायामि' के 'या' का लोप हुआ, परन्तु 'वा' में दो वर्ण हैं। निरुक्त के एक प्राचीन टीकाकार महेश्वर कहते हैं कि 'दनित्वा' के 'नि' का लोप हुआ, परंतु यहाँ भी यही बात है। मेरा विचार है कि या तो 'तत + त्वा' के एक त् का लोप हुआ (तत्वा) अथवा 'त्वाम्' के 'म्' का। वर्ण का अर्थ अक्षर व्यञ्जन लिया है, उसका भी निर्वाह हो जाता है। आद्यन्तविपर्यय—श्चुत् श् + च् + उ + त् स् क् उ त् (विपर्यय) स्त् + उक्=स्तुक् स्तोक। सृज् सर्ज् रस्ज् रज्जु। ये सभी परिवर्तन Sporadic Changes के अन्तर्गत आते हैं (देखिये, भूमिका) ॥ १ ॥

ओघ, मेघ, नाध, गाध, वधू, मधु इति। अथापि वर्णोपजन—आस्थत्, द्वार, भरूजा इति ॥ तद् यत्र स्वरात् अनन्तरान्तःस्थान्तर्धातु भवति, तद् द्विप्रकृतीनां स्थानमिति प्रदिशन्ति। तत्र सिद्धायामनुपपद्यमानायाम् इतरया उपपिपादयिषेत्। तत्रापि एके अल्पनिष्पत्तयो भवन्ति। तद् यथा एतत्—ऊति, मृदु, पृथु, पृषत, कुणारुम् इति ॥

जैसे ओघ (√वह्) मेघ (√मिह्), नाध (√नह्) गाध, (√गाह्) वधू (√वह्), मधु (√मद्)। यहाँ वर्ण का आगमन भी होता है—आस्थत (√अस् में थ् का आगमन), द्वार (√वृ), भरूजा (√भ्रस्ज्)।

जहाँ स्वर से अव्यवहित अन्तःस्थ वर्ण (य र ल व) धातु के भीतर रहे, वह दो प्रकृतिवाले शब्दों (सम्प्रसारण) का स्थान है—ऐसा कहते हैं। जब सिद्ध धातु असिद्ध हो जायें तब किसी दूसरे (धातु) से उसकी व्युत्पत्ति करें।

वहाँ भी कुछ शब्द अल्प-परिवर्तनवाले हैं जैसे, ऊति (√अव्) मृदु (√म्रद), पृथुः (√प्रथ्), पृषत् (√प्रुष्), कुणारु (√क्वण्) ॥

विशेष—द्विप्रकृति स्थान = सम्प्रसारण जिसमे 'य् व् र् ल्' का 'इ उ ऋ ऌ' हो जाता है। जब धातु मे स्वर के अनन्तर कोई अन्तस्थ वर्ण आये तो उसका दो प्रकार का रूप हो जाता है—√यज से यष्टा, यष्टु तथा √इज् से इष्ट, इष्टि. । √यज् मे य् (अन्तस्थ) और अ (स्वर) के बीच में कोई व्यवधान नही। यह लक्षण अतिव्याप्ति दोष से दूषित है क्योंकि याच्, यम्, रम् आदि सम्प्रसारण की प्रक्रिया से रहित धातुओ मे भी यह हो जायगा। उपपिपादयिषेत्—सन् प्रत्यय व्यर्थ है परन्तु यह उस युग का व्यवहार रहा होगा ॥

अथापि भाषिकेभ्यः धातुभ्यः नैगमाः कृतः भाष्यन्ते । दमूनाः क्षेत्रसाधाः इति । अथापि नैगमेभ्यः भाषिकाः । उष्णं घृतमिति । अथापि प्रकृतय एव एकेषु भाष्यन्ते, विकृतयः एकेषु । शवतिः गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाष्यते । कम्बोजाः कम्बलभोजाः । कमनीयभोजा वा । कम्बलः कमनीयो भवति । विकारम् अस्य आर्येषु भाषन्ते । शव इति । दातिः लवनार्थे प्राच्येषु । दात्रम् उदीच्येषु । एवम् एकपदानि निर्ब्रूयात् ।

कभी-कभी संस्कृत (भाषा) के धातुओं से वैदिक कृदन्त बनते हैं जैसे—दमूना (√दम्), क्षेत्रसाधा (√साध्)। कभी वैदिक (धातुओं) से संस्कृत के कृदन्त बनते हैं जैसे—उष्ण (√उष् = जलाना), घृत (√घृ = चमकना, चमक)। इसके अलावे प्रकृति को एक स्थान में बोलते हैं, विकृति को दूसरे स्थान में। गति अर्थवाला √शव् कम्बोज देश में बोला जाता है। कम्बोज = कम्बल का उपभोग करनेवाले, कमनीय द्रव्यों का उपभोग करनेवाले। कम्बल कमनीय (सुन्दर) होता है। इससे बने शब्द को (विकृति) आर्यदेश में बोलते हैं—शव (मृत देह)। उसी प्रकार √दा = काटना, प्राच्य-देश में और 'दात्र' को उदीच्य-देश मे बोलते हैं। इस प्रकार एक पदवाले शब्दों का निर्वचन करें ॥

अथ तद्धितसमासेषु एकपर्वसु च अनेकपर्वसु च पूर्वं पूर्वम्, अपरम् अपरं प्रविभज्य निर्ब्रूयात् । दण्ड्यः पुरुषः । दण्डमर्हतीति वा । दण्डेन संपद्यते इति वा । दण्डो ददतेः धारयतिकर्मणः ।

'अक्रूरो ददते मणिम्' इति अभिभाषन्ते । दमनात् इति औपमन्यवः । 'दण्डमस्य आकर्षत' इति गर्हायाम् ॥

एक या अनेक सन्धि (पर्व) वाले तद्धित या समास मे पहले पूर्ववाले (=तद्धित या समास) का खण्ड करें, बाद मे उनका निर्वचन करें। जैसे—(तद्धित)—दण्ड्य पुरुष=दण्ड के योग्य, या दण्ड से युक्त। 'दण्ड' √दद् = धारण करना, से बना है। लोग बोलते भी हैं—अक्रूर मणि धारण करता है। औपमन्यव के मत से √दम् (दबाना) है। निन्दा में कहते हैं—'इसका दण्ड छीन लो' ॥

कक्ष्या रज्जुः अश्वस्य । कक्षां सेवते । कक्षो गाहतेः । क्सः इति नामकरणः । ख्यातेः वा । अनर्थकः अभ्यासः । किम् अस्मिन् ख्यानमिति ? कषतेः वा । तत्सामान्यात् मनुष्यकक्ष । बाहुमूलसामान्यात् अश्वस्य ॥ २ ॥

कक्ष्या=घोड़े की रस्सी, क्योंकि काँख में लगी रहती है। ('कक्ष' √गाह् से बना, 'क्स' नाम बनानेवाला प्रत्यय है। अथवा √ख्या से बना है जिसमें द्वित्व (अभ्यास) निरर्थक है (ख्याख्या—कख्या—कक्ष्या)। या 'इसमें क्या कहना ?' से बना हो। या √कष् (खुजलाना) से। इसी की समानता से मनुष्य की काँख होती है। बाहुओं के मूल की समानता के कारण अश्व का [भी कक्ष होता है—उसमें रहने वाली 'कक्ष्या'] ॥ २ ॥

राज्ञः पुरुषः राजपुरुष । राजा राजतेः । पुरुषः पुरिषादः, पुरिशयः, पूरयतेः वा । 'पूरयति अन्तः' इति अन्तरपुरुषमभिप्रेत्य । यस्मात्परं नापरमस्ति किंचिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति किंचित् । वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥ इत्यपि निगमो भवति ॥

राजा का पुरुष—राजपुरुष । राजा √राज् (शोभना) से, 'पुरुष' = पुर (शरीर या बुद्धि) मे बैठनेवाला, पुर मे शयन करने वाला, या पूरय् (पूरा करना) से बना है। जब व्यक्ति को लक्ष्य करके कहा जाता है तब कहते हैं 'जो भीतर को भर देता है'। "जिससे ऊँचा या नीचा कुछ नहीं है, जिससे छोटा या बड़ा कुछ नहीं है। स्वर्ग मे जो वृक्ष के समान स्थिर होकर अकेला

ठहरा है, उसी पुरुष के द्वारा यह समूचा (विश्व) भरा हुआ है।" (श्वेता० उप० ३।९)—यह उदाहरण भी है ॥

विश्वकद्राकर्ष । वि इति, चकद्र इति श्वगतौ भाष्यते । द्राति इति गतिकुत्सना । कद्राति इति द्रातिकुत्सना । 'चकद्राति' कद्रातीति सत अनर्थकोऽभ्यास । तदस्मिन् अस्तीति विश्वकद्र । [विश्वकद्रमाकर्षति इति विश्वकद्राकर्ष ।] कल्याणवर्णरूप । कल्याणवर्णस्य इवास्य रूपम् । कल्याण कमनीय भवति । वर्णो वृणोते । रूप रोचते ॥

'विश्वकद्राकर्ष' [का निर्वचन]—वि, 'श्वचद्र' का प्रयोग कुत्ते की गति के अर्थ मे होता है। 'द्राति'=गति की निन्दा, 'कद्राति'='द्राति' की निन्दा। 'कद्राति' से निरर्थक द्वित्व (अभ्यास) करके 'चकद्राति' बना। वह (अत्यन्त कुत्सित गति) जिसमे है वह—विश्वकद्र। [उसे आकृष्ट करनेवाला विश्वकद्राकर्ष = नगररक्षक]। कल्याण वर्णरूप—कल्याणवर्ण के समान जिसका रूप हो। कल्याण = कमनीय (सुन्दर)। 'वर्ण' √वृ (चुनना) से और 'रूप' √रुच् (अच्छा लगना) से ॥

विशेष—यास्क ने एक आदर्श रखा कि तद्धित और समास का किस प्रकार निर्वचन करें। तद्धितान्त के नमूने हैं—दण्ड्य' और 'कक्ष्या'। समास के नमूनो मे 'राजपुरुष' दो पदो का, 'कल्याणवर्णरूप' तीन पदो का, विश्वकद्राकर्ष' तद्धित और समास दोनो का उदाहरण है। दुर्गाचार्य के अनुसार वि और चकद्र दोनो कुत्ते की गति बतलाते हैं किन्तु यास्क का यह मत नही। 'वि' तद्धित का चिह्न है, पहले होने के कारण 'वि' को पहले लिखा गया है, वस्तुत शब्द मे तो यह तब जुडा है जब 'तदस्मिन्०' कहकर तद्धित निर्देश किया गया है। वैदिक भाषा मे कई शब्दो के आदि मे स(श)कार था जो बाद मे लुप्त हो गया, इसके उदाहरण कुछ शब्दों मे मिलते हैं। 'श्चद्र' वैसा ही शब्द है, श्चन्द्र (= चमकना, तुल० हरि श्चन्द्र), स्पश्य् (= देखना, तुल० स्पश = चर, Eng Spy = गुप्तचर)—बाद मे ये चकद्र, चन्द्र, पश्य् हो गये। ये भी Sporadic changes के उदाहरण हैं।

एवं तद्धितसमासान् निर्ब्रूयात् । नैकपदानि निर्ब्रूयात् । न अवै-

याकरणाय। न अनुपसन्नाय। अनिदंविदे वा। नित्यं हि अविज्ञातु विज्ञानेऽसूया। उपसन्नाय तु निर्ब्रूयात्। यो वा अलं विज्ञातुं स्यात्। मेधाविने, तपस्विने वा ॥ ३ ॥

इस प्रकार तद्धित और समास का निर्वचन करें। अकेले पदों का (बिना प्रकरण जाने हुए) निर्वचन न करें। व्याकरण न जाननेवाले के सामने शिष्य बनकर न आनेवाले के सामने और इसे (निरुक्त) न जाननेवाले के सामने भी [निर्वचन] न करें क्योंकि अज्ञानी पुरुष विज्ञान में सदा दोष खोजता है। शिष्य बनकर आनेवाले के सामने निर्वचन करें, या जो जानने में समर्थ हो, मेधावी हो, या तपस्वी हो ॥ ३ ॥

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि।
असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम् ॥
य आतृणत्त्यवितथेन कर्णावदुःखं कुर्वन्नमृतं संप्रयच्छन्।
तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत्कतमच्चनाह ॥
अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा।
यथैव ते न गुरोर्भोजनीयास्तथैव तान्न भुनक्ति श्रुतं तत् ॥
यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम्।
यस्ते न द्रुह्येत्कतमच्चनाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन् ॥ इति।

एक बार विद्या ब्राह्मण से बोली—'मेरी रक्षा करो, मैं तुम्हारी निधि (धन) हूँ, दोष खोजनेवाले टेढ़े व्यक्ति या असंयमी को मुझे न दो, जिससे मैं बलवती बनूँ। जो सत्य (अवितथ) के द्वारा, [दुःख को] दुःख नहीं समझते हुए अमृत दान करते हुए, दोनों कान खोलते हैं, उन्हें माता पिता समझें, उनसे कभी द्वेष न करें। जो ब्राह्मण पढ़ाये जाने के बाद मन, वचन या कर्म से गुरु का आदर नहीं करते, जिस प्रकार वे लोग गुरु के द्वारा माननीय नहीं, सुना हुआ ज्ञान भी उन्हें नहीं मानता है (=वे ज्ञान नहीं पाते)। जिसे तुम पवित्र, प्रमाद न करनेवाला, मेधावी और ब्रह्मचर्य से युक्त समझो (विद्या), जो कभी तुमसे द्वेष न करे, हे ब्रह्मन्! ऐसे निधि-पालक को ही मुझे दो।'

निधिः शेवधिरिति ॥ ४ ॥

निधि = शेवधि ॥ ४ ॥

विशेष—Bloomfield साहब अपने Vedic Concordance नामक ग्रन्थ में प्रथम श्लोक का स्थान 'संहितोपनिषद् ब्राह्मण' में बतलाते हैं। मनु ने इसी की छाया ली है—

विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिस्तेऽस्मि रक्ष माम् ।
असूयकाय मा मा दास्तथा स्यां वीर्यवत्तमा ॥ (मनु० २।११४)

पुन, य आवृणोत्यवितथं ब्रह्मणा श्रवणावुभौ ।
स माता स पिता ज्ञेय त न द्रुह्येत् कदाचन ॥

ये श्लोक अल्प परिवर्तन के साथ वसिष्ठधर्मस्मृति (२।१४-१७) में भी हैं ॥४॥

द्वितीय-पाद

अयातोऽनुक्रमिष्याम । गौ इति पृथिव्या नामधेयम्। यत् दूरगता भवति। यत् च अस्या भूतानि गच्छन्ति। गाते· वा। ओकारो नामकरण·। अथापि पशुनाम इह भवति। एतस्मादेव। अथापि अस्या ताद्धितेन कृत्स्नवत् निगमा भवन्ति। 'गोभि· श्रीणीत मत्सरम्' इति पयस। मत्सरः सोमः। मन्दतेः तृप्तिकर्मणः। मत्सरः इति लोभनाम। अभिमत्तः एनेन धनं भवति। पय· पिबते· वा, प्यायते· वा। क्षीर क्षरतेः, घसेः वा—ईरो नामकरणः। उशीरम् इति यथा ॥

अब हम क्रमशः वर्णन करेंगे। (१) गौ-पृथिवी का पर्याय है क्योंकि दूर तक गई (फैली, √गम्) है। अथवा इसमें सभी जीव जाते (रहते) हैं। या √गा (जाना) से 'ओ' नाम बनानेवाला प्रत्यय लगा है। इसके अलावे यह (गो-शब्द) पशु का पर्याय है, वह भी इसी (धातु) से बना है। केवल इसी (गो) के (=पशु के अवयवों के गो शब्द से) तद्धितार्थक प्रयोग भी होते हैं जैसे—'गो (=दुग्ध) से सोम को मिला दो' (ऋ० ९।४६।४) यहाँ दूध का अर्थ है। मत्सर = सोम तृप्ति करनेवाले √मद् से बना है। 'मत्सर' लोभ का पर्याय है। इसी (लोभ) से लोग धन के प्रति मतवाले हुए रहते हैं (√मद्)। 'पय' √पा, या √प्या (बढ़ना) से। 'क्षीर' √क्षर् (बहना)

या √अस् (खाना) से; 'ईर' नाम बनानेवाला प्रत्यय है, जिस प्रकार 'उशीर' (खस) बनता है ॥

विशेष—वस्तुतः निरुक्त यहीं से आरम्भ होता है क्योंकि निघण्टु के शब्दों की व्याख्या यहीं से आरम्भ होती है। यास्क निर्वचन की धुन में इतने मतवाले हो जाते हैं कि विषय-वस्तु से बहुत दूर भटक जाते हैं। गो का निर्वचन करते हुए—'मत्सर' का दो तरह से निर्वचन, 'पय' 'क्षीर'—जैसे शब्दों का निर्वचन करना निश्चय ही विषयान्तर है। किन्तु यदि वे ऐसा नहीं करते तो बहुत कम शब्दों का ही निर्वचन हम जान पाते ॥

'अंशुं दुहन्तो अध्यासते गवि' इत्यधिषवणचर्मणः। अंशुः शमष्टमात्रो भवति। अननाय शं भवतीति वा। चर्म चरतेर्वा। उच्चृत्तं भवतीति वा। अथापि चर्म च श्लेष्मा च। 'गोभिः संनद्धो असि वीळयस्व'—इति रथस्तुतौ। अथापि स्नाव च श्लेष्मा च। 'गोभिः संनद्धा पतति प्रसूता'—इति इषुस्तुतौ। ज्यापि गौरुच्यते। गव्या चेत् ताद्धितम्। अथ चेन्न गव्या—गमयतीषून् इति ॥ ५ ॥

'सोम को निचोड़ते हुए गो (-चर्म) पर बैठे' (ऋ० १०।९४।९)—यहाँ (सोम) चुआनेवाले चमड़े का (अर्थ है)। अंशु—व्याप्त होते ही (अष्ट मात्र) सुखद होता है (√अश्+शम्), या जीवन के लिए सुखद है (√अन्+शम्)। 'चर्म' √चर् (चलना) या उत्-पूर्वक √चृत् (काटना) से बना। [गो शब्द से] चमड़े और कफ का भी [बोध होता है]। जैसे—'गो [के चमड़े और कफ] से दृढ़ हो गये हो, अभेद्य बनो' (ऋ० ६।४७।२६)—यह रथ का वर्णन है। [गो शब्द से] तांत और कफ का भी [बोध होता है] जैसे—'गो [के तांत और कफ] से दृढ़ होकर छोड़ने पर उड़ता है' (ऋ० ६।७५।११)—यह बाण का वर्णन है। धनुष की रस्सी को भी 'गो' कहते हैं। यदि यह गो के तांत से बनी है तो तद्धितार्थक प्रत्यय [गो = गो के तांत से बनी रस्सी]। यदि गो के तांत से बनी (गव्या) नहीं तो [इस 'गो' का निर्वचन होगा—] जो बाणों को प्रेरित करे ॥ ५ ॥

'वृक्षे वृक्षे नियता मीमयद्गौस्ततो वयः प्र पतान् पूरुषादः।'

(वृक्षे वृक्षे) धनुष धनुष में (नियता) बँधी हुई (गो) रस्सी

(मीमयत्) शब्द करती है (ततः) तब (पुरुषादः) मनुष्यों के भोजनस्वरूप (वय) पक्षी (प्रपतान्) गिरते हैं—(लेट् लकार) (ऋ० १०।२७।२२) ॥

वृक्षे वृक्षे धनुषि धनुषि । वृक्षो व्रश्चनात् । नियता मीमयत् गौः । शब्दं करोति । मीमयतिः शब्दकर्मा । ततो वयः प्रपतन्ति पुरुषान् अदनाय । विः इति शकुनिनाम । वेतेः गतिकर्मणः । अथापि इषुनाम इह भवति । एतस्मादेव ॥

वृक्षे वृक्षे = हरेक धनुष में । 'वृक्ष' √व्रश्च् (छेदना) से । बँधकर गौ (धनुष की डोरी) मीमयत् = शब्द करती है । √मि = आवाज करना । तब पक्षिगण (वयः) मनुष्यों के खाने के लिए गिरते हैं । 'वि' पक्षी का पर्याय है । √वी = जाना, से । यहाँ (गौशब्द) 'बाण' का पर्याय है । इसी धातु से बना है ॥

आदित्योऽपि गौः उच्यते । 'उतादः परुषे गवि' । पर्ववति । भास्वति इति औपमन्यव । अथापि अस्य एको रश्मिः चन्द्रमसं प्रति दीप्यते । तद् एतेन उपेक्षितव्यम् । आदित्यतः अस्य दीप्तिः भवतीति । 'सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः' इत्यपि निगमो भवति । सोऽपि गौः उच्यते । 'अत्राह गोरमन्वत' इति । तदुपरिष्टात् व्याख्यास्यामः । सर्वेऽपि रश्मयः गाव उच्यन्ते ॥६॥

आदित्य भी 'गौ' कहलाता है जैसे—'वह उस चमकीले मण्डल में' (ऋ० ६।५६।३)। [परुष] 'सन्धियुक्त' या औपमन्यव के विचार से 'चमकीला'। उसकी एक किरण चन्द्रमा की ओर चमकती है, उसे देखें। आदित्य से ही उसकी दीप्ति होती है। 'सुखद, सूर्यकिरण गन्धर्व चन्द्रमा है' (यजु० वा० स० १०।४०)—यह उदाहरण भी है। वह (चन्द्रमा) भी गौ कहलाता है जैसे—'चन्द्रमा से समझा' (१।८४।१५)—इसकी व्याख्या बाद में करेंगे (निरु० ४।२५)। सभी किरणें 'गौ' कहलाती हैं ॥ ६ ॥

ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः ।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमव भाति भूरि ॥

(वां) तुम दोनों के (ता = तानि) उन (वास्तूनि) घरों पर (गमध्यै)

जाना (उश्मसि) हम चाहते हैं, (यत्र) जहाँ (भूरिशृङ्गाः) बहुत कान्ति-वाली तथा (अयासः) गतिशील (गावः) किरणें हैं। (अत्र अह) यहाँ (उरुगायस्य) विशाल गतिवाले (वृष्णः) वृषभ = विष्णु का (तत्) वह (परमं) सुन्दर (पदम्) स्थान (भूरि) अच्छी तरह, (अवभाति) चमकता है ॥ (ऋ० १।१५४।६)।

तानि वां वास्तूनि कामयामहे गमनाय। यत्र गावः भूरिशृङ्गाः बहुशृङ्गाः। भूरि इति बहुनो नामधेयम्। प्रभवति इति सतः। शृङ्गं श्रयतेः वा, शृणातेः वा, शम्नातेः वा, शरणाय उद्गतमिति वा। शिरसो निर्गतम् इति वा। अयासः=अयनाः। तत्र तद् उरुगायस्य विष्णोः महागतेः परमं पदं परार्ध्यस्थम् अवभाति भूरि। पादः पद्यतेः। तन्निधानात् पदम्। पशुपादप्रकृतिः प्रभागपादः। प्रभागपादसामान्यात् इतराणि पदानि। एवमन्येषामपि सत्त्वानां सन्देहाः विद्यन्ते। तानि चेत् समानकर्माणि समाननिर्वचनानि। यथार्थं निर्वक्तव्यानि ॥

तुम दोनो के उन निवास-स्थानो को जान की इच्छा [हम] करते हैं, जहाँ किरणें अत्यन्त कान्तियुक्त हैं। भूरि=बहुत, जो प्रभूत हो (√भू)। 'शृग' √श्रि (ठहरना) √शृ (मारना) या √शम् (मारना) से बना है। अथवा शरण (रक्षा) के लिए निकला हो (√शृ + √गम्), या सिर से निकला हो। अयासः = गतिशील (√इ) वहाँ उरुगाय = विशाल गतिवाले, विष्णु का, परम = सबसे ऊँचा, पद अच्छी तरह सबों पर चमकता है। 'पाद' √पद् (जाना) से, उसीसे 'पद' भी बना है। पशु के पाद (पैर) के आधार पर 'भाग' (टुकड़ा) अर्थवाला 'पाद' होता है। 'भाग' अर्थवाले पाद से अन्य अर्थवाले 'पद' भी बनते हैं।

इसी प्रकार दूसरी वस्तुओं के भी सन्देह हैं; यदि उनके अर्थ समान हैं तो निर्वचन भी समान होंगे। भिन्नार्थक होने पर निर्वचन भी भिन्न होंगे। अर्थ के अनुसार ही निर्वचन करें ॥

इति इमानि एकविंशतिः पृथिवीनामधेयानि अनुक्रान्तानि। तत्र निर्ऋतिः निरमणात्। ऋच्छतेः कृच्छ्रापत्तिः इतरा। सा पृथिव्या सन्दिह्यते। तयोः विभागः। तस्या एषा भवति ॥७॥

पृथिवी के ये इक्कीस नाम क्रमशः वर्णित हैं। (२) उनमे 'निर्ऋति' नि√रम् (रमण करना) से बना है। यदि 'दुःख (कृच्छ्र) का आगमन (आपत्ति)' अर्थ हो तो √ऋ से बना है। इस (अर्थ) का पृथिवी से सन्देह हो जाता है। इन दोनो (अर्थों) का विभाग करें, उस (निर्ऋति) की यह (ऋचा) है।

य ईं चकार न सो अस्य वेद य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात्।
स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिमा विवेश॥

(य) जो (ईम्) इसे (चकार) उत्पन्न करता है, (स) वह (अस्य) इसे (न वेद) नहीं जानता; (यः) जो (ईम्) इसे (ददर्श) देखता है, (तस्मात्) उससे (हिरुक्) छिपा हुआ (इत् नु) ही है। (सः) वह (मातु) माता की, उत्पन्न करने वाले की (योनौ) योनि में (अन्तः) भीतर से (परिवीत) घिरा हुआ है, (बहुप्रजा) बहुत सन्तानो से युक्त होकर (निर्ऋतिम) दुःख में (आ विवेश) प्रवेश करता है॥ (ऋ० १।१६४।३२)।

विशेष—गेल्डनेर का मत है कि इस ऋचा में 'प्राणवायु' का वर्णन है, रॉथ तथा ह्वॉग के अनुसार मेघ के गर्जन का वर्णन, ब्लूमफील्ड और हेनरी के अनुसार सूर्य का वर्णन, और दुर्गाचार्य बहु-सन्तान का वर्णन समझते हैं। यास्क मेघ का ही अर्थ लेते हैं।

बहुप्रजाः कृच्छ्रम् आपद्यते इति परिव्राजकाः। वर्षकर्म इति नैरुक्ताः। य ईं चकार इति। करोति-किरती सन्दिग्धौ वर्षकर्मणा। न सोऽस्य वेद मध्यम। स एवास्य वेद मध्यमो, यो ददर्श आदित्योपहितम्। स मातु योनौ। माता=अन्तरिक्षम्। निर्मीयन्ते अस्मिन् भूतानि। योनि=अन्तरिक्षम्। महान् अवयव, परिवीत वायुना। अयमपीतरो योनि एतस्मादेव। परियुतो भवति। बहुप्रजा भूमिमापद्यते वर्षकर्मणा॥

बहुत सन्तानवाले दुःख मे गिरते हैं—यह परिव्राजको (एक सम्प्रदाय) का कथन है। निरुक्तकार कहते हैं कि वर्षा का अर्थ है। जो इसे (वर्षा को) करता है—वर्षा के अर्थ मे ['चकार' क्रिया से] √कृ (करना) तथा √कॄ (बिखेरना) का सन्देह हो जाता है। वह मध्यम [मेघ] इसे नहीं जानता

है, जो सूर्य के द्वारा छिपाये गये को देखता है। वह माता की योनि में— माता = अन्तरिक्ष, क्योंकि इसमें जीवों का निर्माण होता है। योनि = अन्तरिक्ष क्योंकि [वह विश्व का] एक बड़ा अवयव (खण्ड,√यु) है, वायु से घिरा है। यह दूसरा योनि-शब्द भी इसी से बना है क्योंकि घिरा हुआ होता है। बहुत सन्तानों से युक्त (जलबिन्दु) वर्षा के अर्थ से भूमि पर गिरते हैं ॥

शाकपूणि. संकल्पयाचक्रे सर्वा देवता जानामि इति। तस्मै देवता उभयलिङ्गा प्रादुर्बभूव। ता न जज्ञे। तां प्रपच्छ। विविदिषाणि त्वा इति। सा अस्मै एतामृचम् आदिदेश। एषा मद्देवतेति ॥ ८ ॥

शाकपूणि ने गर्व किया कि मैं सभी [मन्त्र के] देवताओं को जानता हूँ। उनके लिए दो चिह्न वाले देवता उत्पन्न हुए। उनको वे न जान सके तो उनसे पूछा—मैं आपको जानना चाहता हूँ। उन्होंने यह ऋचा कही कि इसका देवता मैं हूँ ॥ ८ ॥

अयं स शिङ्क्ते येन गौरभीवृता मिमाति मायुं ध्वसनावधिश्रिता। सा चित्तिभिर्नि हि चकार मर्त्यं विद्युद्भवन्ती प्रति वव्रिमौहत ॥

(अयं स) वही (शिङ्क्ते) आवाज करता है (येन) जिसके द्वारा (अभिवृता) ढँके जाने पर (ध्वसनौ) वर्षा करनेवाले मेघ पर (अधिश्रिता) बैठी हुई (गौ·) अन्तरिक्ष की वाणी (मायु) घोर शब्द (मिमाति) करती है। (सा) उसने (चित्तिभि.) गर्जनरूपी कर्म से (मर्त्यं हि) मनुष्य को (निचकार) झुका दिया, (विद्युत्) बिजली (भवन्ती) होकर (वव्रिम्) अपने रूप को (प्रति औहत) खींच लिया है ॥ (ऋ० १।१६४।२९)।

अयं स शब्दायते येन गौ. अभिप्रवृता, मिमाति मायुम् = शब्द करोति। मायुमिव आदित्यमिति वा। वाक् एषा माध्यमिका। ध्वसने मेघे अधिश्रिता। सा चित्तिभि. = कर्मभि: नीचै. निकरोति मर्त्यम्। विद्युद्भवन्ती प्रत्यूहते वव्रिम्। वव्रि. इति रूपनाम। वृणोतीति सत. । वर्षेण प्रच्छाद्य पृथिवीं पुनरादत्ते ॥ ९ ॥

वही आवाज करता है जिसके द्वारा ध्वनि प्रेरित हुई और मायु मिमाति = आवाज करती है या मायु के समान = आदित्य। यह मध्यस्थानवाली ध्वनि है जो ध्वसन अर्थात् मेघ पर चढ़ी हुई है। वह, चित्तिभि = कर्मों से, मनुष्य को

नीचे कर देती है; बिजली बनकर वव्रि को खींच लेती है। वव्रि = रूप। √वृ (ढँकना) से। वर्षा से पृथ्वी को ढँक कर पुनः (वर्षा को) लेती है ॥ ९ ॥

तृतीय-पाद

हिरण्यनामानि उत्तराणि पञ्चदश। 'हिरण्यं' कस्मात्? ह्रियते आयम्यमानमिति वा, ह्रियते जनात् जनमिति वा, हितरमणं भवतीति वा, हृदयरमणं भवति इति वा, हर्यतेः वा स्यात् प्रेप्साकर्मणः ॥

इसके बाद के पंद्रह नाम हिरण्य के हैं। (३) 'हिरण्य' कैसे? गढ़े जाने पर ले जाते हैं (√हृ + √यम्), या एक आदमी से दूसरे आदमी तक ले जाते हैं, या हित के लिए रमणकारी होता है (√धा + √रम्), या हृदय के लिए रमणकारी है, या 'इच्छा' अर्थवाले √हर्य् से बना है ॥

अन्तरिक्षनामानि उत्तराणि षोडश। 'अन्तरिक्षं' कस्मात्? अन्तरा क्षान्त भवति, अन्तरा इमे इति वा, शरीरेषु अन्तः अक्षयमिति वा। तत्र समुद्र इत्येतत् पार्थिवेन समुद्रेण सन्दिह्यते। समुद्रः कस्मात्? समुद्द्रवन्ति अस्मात् आपः, समभिद्रवन्ति एनम् आपः, संमोदन्ते अस्मिन् भूतानि, समुदको भवति, समुनत्तीति वा ॥

इसके बाद के सोलह नाम अन्तरिक्ष के हैं। (४) 'अन्तरिक्ष' कैसे? बीच में (अन्तरा) तथा पृथ्वी के पास (क्षा + अन्त) है, या दोनों (स्वर्ग और पृथिवी) के बीच में है, या शरीर के बीच में है और अक्षय है। इन (नामों) में समुद्र भी है जिसका भ्रम पार्थिव समुद्र (सागर) में हो जाता है। (५) 'समुद्र' कैसे? इससे जल निकलता है (सम् उत् √द्रु), या जल इसी में जाता है (सम् अभि √द्रु), या इसमें जीव मोद मानते हैं (√मुद्), या जलयुक्त है, या भिगा देता है (√उन्द्)।

तयोः विभागः। तत्र इतिहासमाचक्षते। देवापिः च आर्ष्टिषेण शंतनुश्च कौरव्यौ भ्रातरौ बभूवतुः। स शंतनुः कनीयान् अभिषेचयांचक्रे। देवापिः तपः प्रतिपेदे। ततः शंतनोः राज्ये द्वादश वर्षाणि देवो न ववर्ष। तमूचुः ब्राह्मणाः—'अधर्मः त्वयाऽऽचरितः, ज्येष्ठं भ्रातरम् अन्तरित्य अभिषेचितम्। तस्मात् ते देवो न वर्षति' इति।

स शंतनुः देवापिं शिशिक्ष राज्येन । तमुवाच, देवापिः—'पुरोहितः ते असानि, याजयानि च त्वा' इति । तस्य एतत् वर्षकामसूक्तम् । तस्य एषा भवति ॥ १० ॥

[समुद्र के] इन दोनो (वर्षों) का विभाग करें। इसमे एक इतिहास कहते हैं—कुरुवंश मे ऋष्टिषेण के दो पुत्र देवापि और शन्तनु हुए। छोटे भाई शन्तनु ने अपना अभिषेक करा लिया और देवापि तपस्या करने लगा। इससे शन्तनु के राज्य में बारह वर्ष तक पानी नही बरसा। ब्राह्मणो ने उससे कहा—'तुमने अधर्म किया है, बडे भाई को छोड कर तुमने अभिषेक करा लिया। इसीसे तुम्हारे यहाँ पानी नही बरसता।' शन्तनु ने देवापि को राज्य लेने को कहा। देवापि ने उत्तर दिया—'मैं तुम्हारा पुरोहित रहूँगा और तुम्हें यज्ञ कराऊँगा'। उसी के विषय मे यह वर्षकाम-सूक्त है। उसकी यह (ऋचा) है॥

आर्ष्टिषेणो होत्रमृषिर्निषीदन्देवापिर्देवसुमतिं चिकित्वान् ।

स उत्तरस्मादधरं समुद्रमपो दिव्या असृजद्वर्ष्या अभि ॥

(आर्ष्टिषेणः) ऋष्टिषेण के पुत्र, (ऋषिः) ऋषि (देवापिः) देवापि, जो (देवसुमतिं) देवताओ की भक्ति (चिकित्वान्) जाननेवाले थे, (होत्रम्) होता के स्थान पर (निषीदन्) बैठे। (सः) उन्होने (उत्तरस्मात्) ऊपर से (अधरं) नीचे की ओर (समुद्रम्) समुद्र को, अर्थात् (दिव्याः) स्वर्ग के और (वर्ष्याः) वर्षा वाले (अपः) जल को (अभि असृजत्) छोडा॥ (ऋ० १०।९८।५)।

आर्ष्टिषेणः ऋष्टिषेणस्य पुत्रः, इषितसेनस्य इति वा । सेना सेश्वरा, समानगतिः वा । पुत्रः पुरु त्रायते, निपरणाद्वा । 'पुत्' नरकम्, ततः त्रायते इति वा । होत्रम् ऋषिः निषीदन् । ऋषिः दर्शनात्, 'स्तोमान् ददर्श' इति औपमन्यवः । 'तद् यद् एनान् तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयंभु अभ्यानर्षत्, तद् ऋषीणाम् ऋषित्वम्' इति विज्ञायते । देवापिः देवानाम् आप्त्या, स्तुत्या च प्रदानेन च । देवसुमतिं=देवानां कल्याणीं मतिम् । चिकित्वान्=चेतनावान् । स उत्तरस्मादधरं समुद्रम् । उत्तरः उद्धततरो भवति । अधरः अधः अरः । अधः=न धावति, इति ऊर्ध्वगतिः प्रतिषिद्धा । तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय ॥ ११ ॥

आर्ष्टिषेण=ऋष्टिषेण का पुत्र, या इषितसेन (सेना भेजनेवाले) का। सेना=स्वामी (इन) से युक्त या समान गति (इन) वाली। पुत्र सब जगह बचाने वाला (पुरु √त्रा), या पिण्डदान करने से (नि √पृ)। 'पुत्' नरक है, उससे बचाने वाला। होता के स्थान पर ऋषि बैठे। ऋषि' √दृश् (देखना) से। औपमन्यव के मत से 'स्तोमों को देखने वाला'। 'ऋषियों का ऋषित्व इसी में है कि तपस्या करते समय इनके पास स्वयं उत्पन्न होने वाला ब्रह्म (वेद) आया'—यह मालूम होता है (तै० आ० २।९)। देवापि—देवताओं को प्राप्त होने के कारण, स्तुति और दान के कारण। देवसुमति= देवताओं की कल्याणकारिणी बुद्धि को। चिकित्वान्=ज्ञान से युक्त। उसने ऊपर से नीचे की ओर समुद्र को। उत्तर=उद्धततर (उच्चतर); अधर = नीचे (अध) जाने वाला (अर)। अध = जो न दौड़े, इस प्रकार ऊपर की गति का निषेध होता है। उसके बाद की ऋचा स्पष्टतर उदाहरण के लिए है।।

यद्देवापिः शंतनवे पुरोहितो होत्राय वृतः कृपयन्नदीधेत्।
देवश्रुतं वृष्टिवनिं रराणो बृहस्पतिर्वाचमस्मा अयच्छत् ॥

(यत्) जब (होत्राय) होता के स्थान के लिए (वृत) चुने जाने पर (पुरोहित) पुरोहित (देवापि) देवापि ने (शंतनवे) शंतनु पर (कृपयन्) कृपा करके (अदीधेत्) ध्यान किया, तब (रराण) दानी (बृहस्पतिः) बृहस्पति ने (देवश्रुत) देवताओं के सुनने योग्य और (वृष्टिवनिं) वर्षा की याचना करने वाले [देवापि को देखकर] (अस्मै) उसे (वाचम्) स्तुति (अयच्छत्) प्रदान की। (ऋ० १०।९८।७)॥

शंतनुः। शं तनो! अस्तु इति वा, शमस्मै तन्वा अस्तु इति वा। पुरोहितः। पुरः एनं दधति। होत्राय वृतः। कृपायमाणः। अन्वध्यायत्। देवश्रुतम्—देवा एनं शृण्वन्ति। वृष्टिवनिं= वृष्टियाचिनम्। रराणः—रातिः अभ्यस्तः। बृहस्पतिः ब्रह्मा आसीत्। सोऽस्मै वाचमयच्छत्। 'बृहत्' उपव्याख्यातम् ॥१२॥

शंतनु—हे शरीर, कल्याण हो, या उसके शरीर को कल्याण मिले। पुरोहित—जिसे आगे रखते हैं। होता के कर्म के लिए चुन जाने पर, कृपा करते हुए, ध्यान करने लगे। देवश्रुतः=देवता इसे सुनते हैं, वृष्टिवनि=वर्षा माँगने वाले को। रराणः—√रा (देना) का अभ्यास (द्वित्व) हो गया है।

बृहस्पति ब्रह्मा थे। उन्होंने उसे (देवापि को) स्तुति प्रदान की। 'बृहत्' की व्याख्या हो चुकी है (निरु० १।७)॥ १२॥

विशेष—वैदिक भाषा का 'शतनु' शब्द महाभारत में 'शान्तनु' हो गया क्योंकि तब लोग 'शतनु' का अर्थ नहीं समझने लगे और 'शान्तनु' को अपेक्षाकृत शुद्ध शब्द समझा गया। इसे भाषा-विज्ञान में Folk etymology (लोक-निरुक्ति) कहते हैं। रराण = रा + कानच् (दानशील)॥ १२॥

चतुर्थ-पाद

साधारणानि उत्तराणि षट् दिवश्च आदित्यस्य च। यानि त्वस्य प्राधान्येन, उपरिष्टात् तानि व्याख्यास्यामः। आदित्यः कस्मात्? आदत्ते रसान्, आदत्ते भासं ज्योतिषाम्, आदीप्तो भासा इति वा। अदितेः पुत्र इति वा। अल्पप्रयोगं तु अस्य एतद् आर्चाभ्याम्नाये। सूक्तभाक्—'सूर्यमादितेयम्'॥

इसके बाद के छः नाम दिव् और आदित्य के लिए समान हैं, किन्तु जो प्रधान रूप से इन (आदित्य) के हैं उनकी व्याख्या बाद में करेंगे (निरु० १२।१२-१८)। (६) 'आदित्य' कैसे? रसों को लाता है (आ√दा), ज्योतिः-पुञ्जों का प्रकाश लाता है, या प्रकाश से आदीप्त है। या अदिति का पुत्र है। ऋचाओं के पूरे संग्रह (ऋग्वेद) में इसका प्रयोग बहुत कम है। केवल एक सूक्त में—'सूर्य को जो अदिति का पुत्र है' (ऋ० १०।८८।११)॥

एवमन्यासाम् अपि देवतानाम् आदित्यप्रवादाः स्तुतयो भवन्ति। तद् यथा एतत्—मित्रस्य, वरुणस्य, अर्यम्णः, दक्षस्य, भगस्य, अंशस्य इति। अथापि मित्रावरुणयोः—'आदित्या दानुनस्पती'। दानपती। अथापि मित्रस्य एकस्य।

'प्र स मित्र मर्तो अस्तु प्रयस्वान् यस्त आदित्य शिक्षति व्रतेन।' इत्यपि निगमो भवति। अथापि वरुणस्य एकस्य—'अथा वयमादित्य व्रते तव'। व्रतमिति कर्मनाम। निवृत्तिकर्म वारयति इति सतः। इदमपि इतरत् व्रतमेतस्मादेव। वृणोति इति सतः। अन्नमपि व्रतमुच्यते—यद् आवृणोति शरीरम्॥ १३॥

इसी प्रकार दूसरे देवताओं की भी स्तुतियाँ आदित्य के नाम से होती हैं जैसे—मित्र, वरुण, अर्यमा, दक्ष, भग और अंश की। मित्रावरुण की भी होती है जैसे—'दोनों आदित्य दान के अधिकारी हैं' (ऋ० २।४१।६)—दोनों दान के स्वामी (हैं)। अकेले मित्र की भी [स्तुति होती है]—'हे मित्र, वह मनुष्य अन्नयुक्त हो जाय, हे आदित्य! जो तुम्हें व्रत के द्वारा पूर्ण करे।' (ऋ० ३।५९।२)—यह उदाहरण है। अकेले वरुण की भी—'हे आदित्य तुम्हारे व्रत में अब हम····' (ऋ० १।२४।१५)। व्रत = कर्म, निषिद्ध कर्म से वारण करनेवाला। यह दूसरा व्रत भी इसीसे होता है—√वृ (ढँकना) से। अन्न भी व्रत कहलाता है क्योंकि शरीर को ढँके रखता है॥ १३॥

स्वर् आदित्यो भवति। सु अरणः। सु ईरणः। स्वृतो रसान्, स्वृतो भासं ज्योतिषाम्, स्वृतो भासा इति वा। एतेन द्यौः व्याख्याता॥ पृश्निः आदित्यो भवति। प्राश्नुते एनं वर्णः इति नैरुक्ताः। संस्प्रष्टा रसान्, संस्प्रष्टा भासं ज्योतिषाम्, संस्पृष्टो भासा इति वा। अथ द्यौः। संस्पृष्टा ज्योतिर्भिः पुण्यकृद्भिश्च॥ नाकः आदित्यो भवति। नेता भासाम्, ज्योतिषां प्रणयः। अथ द्यौः। 'कम्' इति सुखनाम। तत् प्रतिषिद्धं प्रतिषिध्येत। 'न वा अमुं लोकं जग्मुषे किंचनाकम्'। न वा अमुं लोकं जग्मुषे किंचन असुखम्। पुण्यकृतो हि एव तत्र गच्छन्ति॥

आदित्य को (७) स्वर् कहते हैं। सु√अर् (जाना) से, या सु√ईर् (नाश) से। यह रस लेने को ठीक से जाता है, ज्योति पुञ्जों के प्रकाश तक जाता है, या प्रकाश द्वारा पाया गया (सु√ऋ)। इसीसे द्यौ के सम्बन्ध की भी व्याख्या हो जाती है।

आदित्य को (८) पृश्नि भी कहते हैं। रंग इसे पकड़ लेता है—यह निरुक्तकारों का मत है। रसों का स्पर्श करनेवाला, ज्योति पुञ्जों के प्रकाश का स्पर्श करनेवाला, या (स्वयं ही) प्रकाश द्वारा स्पृष्ट (छुआ गया)। द्यौ के सम्बन्ध में, ज्योति से या पुण्य करने वालों से संस्पृष्ट।

आदित्य को (९) नाक भी कहते हैं। प्रकाश को ले जानेवाला है (√नी), या ज्योतिःपुञ्जों को उत्पन्न करनेवाला (प्र√नी)। द्यौ के सम्बन्ध में—'क' = सुख, इसके निषेध (दुःख) का उलटा। 'उस लोक तक जाने

वाले को कुछ भी दुःख (अक, असुख) नहीं' (काठक सं० ११।२)। पुण्य-करनेवाले ही वहाँ जाते हैं ॥

गौः आदित्यो भवति। गमयति रसान्, गच्छति अन्तरिक्षे। अथ द्यौः—यत् पृथिव्या अधि दूरंगता भवति। यच्च अस्यां ज्योतींषि गच्छन्ति॥ विष्टप् आदित्यो भवति। आविष्टो रसान्, आविष्टो भासं ज्योतिषाम्, आविष्टो भासा इति वा। अथ द्यौः। आविष्टा ज्योतिर्भिः पुण्यकृद्भिश्च॥ नभः आदित्यो भवति। नेता भासाम्, ज्योतिषां प्रणयः। अपि वा, 'भनः' एव स्याद् विपरीतः। न 'न भाति' इति वा। एतेन द्यौः व्याख्याता॥ १४॥

आदित्य को (१०) गौ कहते हैं। रस का गमन कराता है, अन्तरिक्ष मे जाता है (√गम्)। द्यौ के सम्बन्ध मे—जो पृथ्वी के ऊपर बहुत दूर तक गया है और जिसमे ज्योति पुञ्ज जाते हैं।

आदित्य को (११) विष्टप् कहते हैं। रसो मे घुसा हुआ है (√विश्), ज्योति पुञ्जों के प्रकाश मे घुसा हुआ है, या प्रकाश द्वारा (स्वयं ही) आविष्ट (व्याप्त) है। द्यौ के सम्बन्ध मे—ज्योतिःपुञ्जों और पुण्य करनेवालों के द्वारा आविष्ट (घिरा)।

आदित्य को (१२) नभ भी कहते हैं प्रकाश को ले जानेवाला (√नी), ज्योति पुञ्जो को उत्पन्न करनेवाला। अथवा 'भन' (चमकना) ही उलट गया है, या 'नहीं भाता है'—ऐसा नही है। इसीसे द्यौ को व्याख्या हो गई॥ १४॥

पञ्चम-पाद

रश्मिनामानि उत्तराणि पञ्चदश। रश्मिः यमनात्। तेषामादितः साधारणानि पञ्च अश्वरश्मिभिः॥ दिङ्नामानि उत्तराणि अष्टौ। दिशः कस्मात्? दिशतेः, आसदनात्, अपि वा अभ्यशनात्। तत्र 'काष्ठाः' इति एतद् अनेकस्य अपि सत्त्वस्य नाम भवति। काष्ठाः दिशो भवन्ति। क्रान्त्वा स्थिता भवन्ति। काष्ठाः उपदिशो भवन्ति—इतरेतरं क्रान्त्वा स्थिता भवन्ति। आदित्योऽपि काष्ठा उच्यते। क्रान्त्वा भवति। आज्यन्तोऽपि काष्ठा उच्यते।

क्रान्त्वा स्थितो भवति। आपोऽपि काष्ठाः उच्यन्ते। क्रान्त्वा स्थिता भवन्ति। इति स्थावराणाम्॥ १५॥

इसके बाद के पन्द्रह नाम रश्मि के हैं। (१३) रश्मि√यम् (नियमण) से। इनमें प्रथम पाँच नाम घोड़े की लगाम के लिए भी समान हैं।

इसके बाद के आठ नाम दिशाओं के हैं। (१४) दिशा कैसे? √दिश् (दिखाना) से, या आ√सद् (निकट बैठना) से, या अभि√अश् (व्याप्त) से। उन (नामों) में 'काष्ठा' भी है जो अनेक वस्तुओं का नाम है। (१५) 'काष्ठा' दिशा को कहते हैं क्योंकि चलकर स्थिर होती है (√क्रम्+√स्था)। 'काष्ठा' उपदिशाओं को भी कहते हैं क्योंकि [वे] एक दूसरे को छूकर (क्रान्त्वा) स्थिर होती हैं। 'काष्ठा' आदित्य को भी कहते हैं क्योंकि चलकर स्थिर होता है। 'काष्ठा' बाण की नोक (आजि+अन्त) को भी कहते हैं क्योंकि चलकर स्थिर होती है। 'काष्ठा' जल को भी कहते हैं क्योंकि [जलाशय में] आकर स्थिर होता है। यह स्थावर (जल) के विषय में हुआ॥ १५॥

अतिष्ठन्तीनामनिवेशनानां काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरम्।
वृत्रस्य निण्यं विचरन्त्यापो दीर्घं तम आशयदिन्द्रशत्रुः॥

(अतिष्ठन्तीनाम्) कभी न ठहरनेवाले और (अनिवेशनानाम्) कभी न रुकने वाले (काष्ठानां) जल के (मध्ये) बीच में (शरीरं) शरीर (निहित) छिपा था। (आपः) जल (वृत्रस्य) वृत्र के (निण्यं) गुप्त स्थान पर (विचरन्ति) घूमते हैं, (इन्द्रशत्रु) इन्द्र के द्वारा विनाश किया जानेवाला [वृत्र] (दीर्घं) घोर (तमः) अन्धकार में (आशयत्) सोया था। (ऋ० १।३२।१०)॥

अतिष्ठन्तीनाम् अनिविशमानानाम् इति अस्थावराणाम्। काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरम्। मेघः शरीरम्। शरीरं शृणातेः, शम्नातेः वा। वृत्रस्य निण्यं=निर्णामम्। विचरन्ति=विजानन्ति आप इति। दीर्घं द्राघतेः। तमः तनोतेः। आशयत् आशेतेः। इन्द्रशत्रु—इन्द्रोऽस्य शमयिता वा, शातयिता वा। तस्मात् इन्द्रशत्रुः॥

न ठहरनेवाले और न बैठनेवाले—यह अस्थावर (जल) के विषय में । जल के बीच मे रखे हुए शरीर को । 'शरीर' = मेघ । शरीर √शृ (फाड़ना), या √शम् (मारना) से । वृत्र के निण्य को = छुकने के स्थान को जल, विचरन्ति = जानते हैं । दीर्घं √द्राघ् (योग्य होना) से, तम् √ तन् (विस्तार) से, आशयत् = सोया (√शी) । इन्द्रशत्रु = इन्द्र जिसका शमन करनेवाला या विनाशक है । इससे 'इन्द्रशत्रु' बना (√शम् या √शत्) ॥

तत्को वृत्रः ? मेघ इति नैरुक्ताः । अपां च ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्मणः वर्षकर्म जायते । तत्र उपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति । अहिवत् तु खलु मन्त्रवर्णा., ब्राह्मणवादाश्च । विवृद्धया शरीरस्य स्रोतांसि निवारयांचकार । तस्मिन् हते प्रसस्यन्दिरे आपः । तदभिवादिनी एषा ऋग्भवति ॥ १६ ॥

यह वृत्र कौन है ? निरुक्तकारों के मत से 'मेघ' है । जल और प्रकाश का मिश्रण होने पर वर्षा होती है, ऐसा होने पर रूपक के द्वारा युद्ध का वर्णन होता है । किन्तु मंत्रों के वर्णनों तथा ब्राह्मण की कथाओं में तो उसे साँप माना गया है । [उसने] शरीर के फैलाव से जल-प्रवाह रोक लिया । उसके मारे जाने पर जल प्रवाहित हुए । उसका वर्णन (उल्लेख) करनेवाली यह ऋचा है ॥ १६ ॥

दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठन्निरुद्धा आपः पणिनेव गावः ।
अपां बिलमपिहितं यदासीद्वृत्रं जघन्वाँ अप तद्ववार ॥

(पणिना) पणि के द्वारा (गावः) गौओं (इव) के समान (दास-पत्नीः) दास की पत्नियों के रूप में (अहिगोपाः) साँप के द्वारा छिपाये गये (आपः) जल (निरुद्धाः) रुके हुए (अतिष्ठन्) स्थित थे । (अपां) जल का (बिलं) स्रोत (यद्) जो (अपिहितं) छिपा हुआ (आसीत्) था, (तत्) उसे (वृत्र) वृत्र को (जघन्वान्) मारनेवाले ने (अप ववार) मुक्त कर दिया । (ऋ० १।३२।११) ॥

दासपत्नीः=दासाधिपत्न्यः । दासो दस्यतेः, उपदासयति कर्माणि । अहिगोपाः अतिष्ठन्=अहिना गुप्ताः । अहिः अयनात् । एति अन्तरिक्षे । अयमपि इतरोऽहिः एतस्मादेव । निर्ह्रसितो-

पसर्गः आहन्तीति । निरुद्धा आपः पणिनेव गावः । पणिः वणिक् भवति । पणिः पणनात् । वणिक् पण्यं नेनेक्ति । अपां विलमपिहितं यदासीत् । विलं भरं भवति । बिभर्तेः । वृत्रं जघ्निवान् अपववार तत् । वृत्रो वृणोतेः वा । वर्ततेः वा, वर्धतेः वा । 'यद् अवृणोत् तत् वृत्रस्य वृत्रत्वम्' इति विज्ञायते । 'यद् अवर्तत तत् वृत्रस्य वृत्रत्वम्' इति विज्ञायते ॥ १७ ॥

दासपत्नी = दासो की रक्षा करने वाली । 'दास' √दस् से क्योंकि वह कामों को समाप्त करता है (उप√दस्) । अहिगोपा = अहि के द्वारा गुप्त । 'अहि' √इ (जाना) से, क्योंकि अन्तरिक्ष मे जाता है । यह दूसरा 'अहि' (सांप) भी इसीसे बना है या आ + √हन् (मारना) से उपसर्ग को ह्रस्व करके बना है । पणि द्वारा गौओ के समान जल रुके हुए थे । पणि = वणिक् √पण् (व्यवहार) से । बनिया बिक्री की चीजो को (पण्य) साफ करके रखता है (√निज्) । जल का जो छेद रुका हुआ था । बिल = भर (जल से भरा), √भृ (भरना) से । वृत्र को मारनेवाले ने उसे खोल दिया । 'वृत्र' √वृ (ढंकना) से, √वृत् (वर्तमान) से, या √वृध् (बढना) से । 'वृत्र की विशेषता यही है कि उसने ढंक दिया'—यह मालूम होता है । 'वह वर्तमान था यह भी वृत्र की विशेषता है'—ऐसा मालूम होता है ॥ १७ ॥

विशेष—'बिल' की व्युत्पत्ति √भृ से यास्क करते हैं । √भृ के दो अर्थ है—(१) धारण करना जो जुहोत्यादि गण का है—बिभर्ति, (२) भरण करना जो भ्वादिगण का है—भरति । यास्क 'भरण अर्थ वाले √भृ से ही 'बिल' की व्युत्पत्ति करते हैं तथापि इसका रूप 'बिभर्ति' देते है । सम्भवत. यह तत्कालीन प्रयोग हो । वृत्र के निर्वचन मे दुर्गाचार्य का पाठ है—'यदवर्तयत् (उसने लगाया)', कहीं-कहीं 'यदवर्धयत्' (उसने बढ़ाया)—यह पाठ भी है ॥ १७ ॥

षष्ठ-पाद

रात्रिनामानि उत्तराणि त्रयोविंशतिः । रात्रिः कस्मात् ? प्ररमयति भूतानि नक्तंचारीणि । उपरमयति इतराणि=ध्रुवीकरोति । रातेः वा स्यात् दानकर्मणः । प्रदीयन्ते अस्याम् अवश्यायाः ॥ उपोनामानि उत्तराणि पोडश । उपाः कस्मात् ? उच्छति इति सत्याः । रात्रेः अपरः कालः । तस्याः एपा भवति ॥ १८ ॥

इसके बाद के तेईस नाम रात्रि के हैं। (१६) 'रात्रि' कैसे ? रात मे चलनेवाले जीवों को प्रसन्न करती है (प्र√रम्)। दूसरे [जीवो] को स्थिर करती है (उप√रम्) = ध्रुव बनाती है। या√रा=देना, से बना है क्योंकि इसमे ओस दी जाती है।

इसके बाद के सोलह नाम उषा के हैं। (१७) 'उषा' कैसे ? चूँकि भगाती है (√उच्छ्)—'रात का पिछला पहर'। उसकी यह (ऋचा) है ॥१८॥

इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरागाच्चित्रः प्रकेतो अजनिष्ट विभ्वा।
यथा प्रसूता सवितुः सवाय एवा रात्र्युषसे योनिमारैक् ॥

(ज्योतिषां) सभी प्रकाशो मे (श्रेष्ठं) श्रेष्ठ (इदं) यह (ज्योति.) प्रकाश (आ अगात्) आया, (चित्रः) बहुरंगी, (प्रकेतः) चमकीला और (विभ्वा) सर्वत्र फैला [प्रकाश] (अजनिष्ट) निकला। (यथा) जिस प्रकार (सवितुः) सविता को (सवाय) उत्पन्न करने के लिए [उषा] (प्रसूता) उत्पन्न हुई (एव) वही प्रकार (रात्री) रात्रि ने (उषसे) उषा के लिए (योनिम्) स्थान (आरैक्) खाली किया = रात्रि उषा को उत्पन्न करती है। (ऋ० १।११३।१)॥

विशेष—एव—'एवम्' का मलोप। वैदिक-भाषा मे मलोप के बहुत उदाहरण हैं। सम्भवतः भारोपीय मूल भाषा (Indo-European proto-type) मे ये 'म' न रहे हों। तुल० तुम्य (म्), त्वा (म्)। एव का छान्दस-दीर्घ—एवा। आरैक् = √रिच् (रिक्त) से।

इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरागमत्। चित्रम्। प्रकेतनं= प्रज्ञाततमम्। अजनिष्ट। विभूततमम्। यथा प्रसूता सवितुः प्रसवाय रात्रिः आदित्यस्य। एवं रात्री उषसे योनिम् अरिचत् स्थानम्। स्त्रीयोनि· अभियुतः एनां गर्भः। तस्याः एषा भवति ॥

ज्योतियों मे श्रेष्ठ यह ज्योति आई। सुन्दर, प्रकेतन = सबसे अधिक ज्ञान, और सबसे अधिक व्याप्त, उत्पन्न हुई है। जैसे रात्रि सविता के प्रसव के लिये उत्पन्न हुई है = आदित्य को [जन्म देने के लिए]। उसी प्रकार उषा ने रात्रि के लिए योनि = स्थान खाली किया। स्त्रीयोनि = जिसमे गर्भ मिलता है (अभि√यु)। उसकी यह दूसरी (= ऋचा) है ॥ १९ ॥

रुशद्वत्सा रुशती श्वेत्यागादारैगु कृष्णा सदनान्यस्याः।
समानबन्धू अमृते अनूची द्यावा वर्णं चरत आमिनाने ॥

(रुशद्वत्सा) चमकीले पुत्र वाली, (रुशती) स्वयं चमकीली (श्वेत्या) उजली [उषा] (अगात्) आई, (कृष्णा) काली (रात) ने (अस्याः) अपने (सदनानि) स्थानों को (उ) सचमुच (आरैक्) खाली कर दिया। (समानबन्धू) एक तरह का परिवार वाले, (अमृते) अमर (अनूची) एक दूसरे के पीछे चलने वाले, (द्यावा) दोनों दिन [और रात] (वर्णं) रंग को (आमिनाने) बदलते हुए (चरत) चलते हैं (ऋ० १।११३।२) ॥

रुशद्वत्सा=सूर्यवत्सा । रुशत् इति वर्णनाम, रोचतेः ज्वलति कर्मणः । सूर्यम् अस्या वत्समाह । साहचर्यात्, रसहरणात् वा । रुशती श्वेत्या आगात् । श्वेत्या श्वेततेः । अरिचत् कृष्णा सदनानि अस्याः । कृष्णवर्णा रात्रिः । कृष्णं कृष्यतेः, निकृष्टो वर्णः । अथ एने सस्तौति—समानबन्धू=समानबन्धने । अमृते=अमरणधर्माणौ । अनूची अनूच्यौ इतरेतरमभिप्रेत्य । द्यावा वर्णं चरतः । ते एव, द्यावौ । द्योतनात् । अपि वा द्यावा चरतः= तया सह चरत इति स्यात् । आमिनाने=अन्योन्यस्य अध्यात्मं कुर्वाणे ॥

रुशद्वत्सा = सूर्य-रूपी पुत्रवाली । रुशत् = रंग, 'जलना' अर्थवाले √ रुच् से । सूर्य को इसका पुत्र कहा गया है—साथ-साथ चलने के कारण या रस-हरण करने के कारण । चमकती हुई उजले रंगवाली आई । श्वेत्या—√ श्विद् (जलना) से । काले रंगवाली ने अपने स्थान खाली कर दिये = काले रंगवाली रात ने । कृष्ण = √ कृष् (खींचना) से, निकृष्ट वर्ण । अब इन दोनों की स्तुति करता है । समानबन्धू = एक तरह का बन्धन (परिवार) वाले । अमृते = नहीं मरने का धर्मवाले । अनूची = एक दूसरे के पीछे जानेवाली । दोनों द्यौ (स्वर्ग) प्रकाश पर चलते हैं । वे दोनों (उषा-रात्रि) ही द्यौ हैं, प्रकाशित होने के कारण । अथवा, द्यावा चरतः = द्यौ के साथ चलते हैं—यह भी हो सकता है । आमिनाने = एक दूसरे की आत्मा (शरीर) में निवास करते हुए ॥

अहर्नामानि उत्तराणि द्वादश । अहः कस्मात् ? उपाहरन्ति अस्मिन् कर्माणि । तस्यैष निपातो भवति—वैश्वानरीयायामृचि ॥

इसके बाद के बारह नाम 'अहः' (दिन) के हैं । (१८) 'अहः' कैसे ?

इसमे कामो को पूरा करते हैं (उप आ.√हृ)। वैश्वानरीय ऋचा मे उसका यह प्रयोग हुआ है ॥ २० ॥

अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च विवर्तेते रजसी वेद्याभिः ।
वैश्वानरो जायमानो न राजावातिरज्ज्योतिषाग्निस्तमांसि ॥

(कृष्ण) काला (अर्जुन च) और उजला (अहः) दिन [= दिन-रात] (वेद्याभिः) अखड नियम से (रजसी) दोनो संसार मे.(विवर्तेते) विकल्प से आते हैं। (जायमान.) बढनेवाले (राजा) राजा (न) के समान (वैश्वानरः) वैश्वानर नाम के (अग्निः) अग्नि ने (ज्योतिषा) अपने प्रकाश से (तमांसि) अन्धकार को (अव अतिरत्) भगा दिया। (ऋ० ६।९।१) ॥

अहश्च कृष्णं=रात्रिः। शुक्लं च अहः अर्जुनम्। विवर्तेते रजसी। वेद्याभिः=वेदितव्याभिः प्रवृत्तिभिः। वैश्वानरः जायमान इव उद्यन् आदित्यः। सर्वेषां राजा। अवाहन् अग्निः ज्योतिषा तमांसि।

काला दिन = रात्रि। अर्जुन = उजला दिन। दोनो रंगवाले (? दुर्ग) विकल्प से चलते हैं। वेद्याभि. = जानने योग्य प्रवृत्तियो (कर्मों) के द्वारा। उत्पन्न होते हुए के समान वैश्वानर = उगते हुए सूर्य। सभी ज्योतिपुंजो के राजा। अग्नि ने प्रकाश द्वारा अन्धकार को हटा दिया।

मेघनामानि उत्तराणि त्रिंशत्। मेघः कस्मात्? मेहतीति सतः। आ 'उपर उपल' इत्येताभ्यां साधारणानि पर्वतनामभिः। उपरः उपलः मेघो भवति। उपरमन्ते अस्मिन् अभ्राणि। उपरता आप इति वा। तेषाम् एषा भवति ॥ २१ ॥

इसके बाद के तीस नाम मेघ के हैं। (१९) मेघ कैसे? √मिह् (सींचना) से। उपर और उपल तक [गिनाये गये नाम] पर्वत के लिए भी समान हैं। उपर या उपल मेघ को कहते हैं, जिसमें बादल खेलते हैं (उप√रम्), या [जिसमें] जल प्रसन्न होता है (उप√रम्)। उसकी यह (ऋचा) है ॥ २१ ॥

देवानां माने प्रथमा अतिष्ठन्कृन्तत्रादेषामुपरा उदायन्।
त्रयस्तपन्ति पृथिवीमनूपा द्वा बृबूकं वहतः पुरीषम् ॥

(देवाना) देवताओं के (माने) बनने के समय (प्रथमा) सबसे पहले

(प्रतिष्ठन्) बन गये, (एषा) इनके (कृन्तत्रात्) छेद से (उपरा:) जल (उत् आयन्) निकल आये। (त्रयः) तीन मिलकर (अनूपा) अपने-अपने नियम से (पृथिवीम्) पृथ्वी को (तपन्ति) गर्म करते हैं, और (द्वा) दो तो (पुरीषम्) प्रसन्न करने वाला (बृबूक) जल (वहत) लाते हैं।

(ऋ० १०।२७।२३)।

देवाना निर्माणे प्रथमा अतिष्ठन्—माध्यमिका देवगणा.। प्रथम इति मुख्यनाम। प्रतमो भवति। विकर्तनेन मेघानाम्, उदक जायते। त्रयस्तपन्ति पृथिवीमनूपाः। पर्जन्यो वायुः आदित्य, शीतोष्णवर्षैं ओषधी पाचयन्ति। अनूपाः—अनुवपन्ति लोकान् स्वेन स्वेन कर्मणा। अयमपि इतर. अनूप. एतस्मादेव। अनूप्यते उदकेन। अपि वा, 'अन्वाप्' इति स्यात्। यथा प्राक् इति। तस्य अनूप. इति स्यात्। यथा प्राचीनम् इति। द्वा बृबूक वहत पुरीषम्। वाय्वादित्यौ उदकम्। बृबूकम् इति उदकनाम। ब्रवीते. वा शब्दकर्मण.। भ्रंशते वा। पुरीष पृणाते वा पूरयते वा ॥ २२ ॥

देवताओं के निर्माण के समय मध्यस्थान वाले देवता (मेघ) पहले बने। प्रथम=मुख्य, प्रकृष्टतम (प्रतम)। इन मेघों के कटने से (कृन्तत्रात् √कृत्) जल उत्पन्न होता है। तीन अनूप मिलकर पृथ्वी को गर्म करते हैं = पर्जन्य वर्षा से, वायु शीत से और आदित्य गर्मी से पौधों को पकाते हैं। ये अनूप हैं क्योंकि संसार को अपने-अपने कर्म से अनुगृहीत करते हैं (अनु √वप्)। यह दूसरा अनूप (= पानी से भरा क्षेत्र, दियारा) भी इसी से बना है क्योंकि पानी से अनुगृहीत रहता है। अथवा अन्वाप् (जल से घिरा) हो जैसे प्राक् शब्द बनता है। उसीसे 'प्राचीन' शब्द की तरह अनूप हो गया। दो प्रसन्न करने वाले बृबूक लाते हैं—वायु और सूर्य जल को। 'बृबूक' जल का पर्याय है। √ब्रू = बोलना, या √भ्रंश् (गिराना) से। पुरीष √पृ या √पूरय् (भरना) से बना है ॥ २२ ॥

विशेष—'अनूप' शब्द की व्युत्पत्ति में यास्क की कल्पना विचित्र है। वे सादृश्य (Analogy) का आश्रय लेते हैं। जैसे, प्राक् : प्राचीन. = अन्वाप् : अनूप। परन्तु सादृश्य ठीक नहीं है क्योंकि जहाँ अन्वाप् से अनूप बनते समय

धा का उ हो जाता है प्राक् से प्राचीन बनने में ऐसा कोई परिवर्तन नहीं होता। इसके बदले में उन्हें अन्वक् से अनूचो का उदाहरण देना चाहिए था। अनूपम् = जलप्रायस्थान (अमर० २।१।१०) पाणिनि के सूत्रों के अनुसार (६।३।९७–९८) अप् का द्वि, अन्त:, प्रति और सम् के बाद ईप् आदेश होता है, किन्तु अनु के बाद ऊप्। वूवूक=जल, गड्ढा आदि (मो० वि०)॥ २२॥

सप्तम-पाद

वाङ्नामानि उत्तराणि सप्तपञ्चाशत्। वाक् कस्मात्? वचेः। तत्र सरस्वती इत्येतस्य नदीवत् देवतावत् निगमा भवन्ति। तद् यद् देवतावद्, उपरिष्टात् तद् व्याख्यास्यामः। अथ एतन्नदीवत्॥ २३॥

इसके बाद के सत्तावन नाम वाक् के हैं। (२०) वाक् कैसे? √वच् (बोलना) से। उन (नामों) में 'सरस्वती' का नदी और देवता के भी अर्थ में प्रयोग हुआ है। देवता वाले अर्थ की व्याख्या बाद में करेंगे (११।२६)। यहाँ नदी के अर्थ में।

इयं शुष्मेभिर्बिसखा इवारुजत्सानु गिरीणा तविषेभिरूर्मिभिः।
पारावतघ्नीमवसे सुवृक्तिभिः सरस्वतीमा विवासेम धीतिभिः॥

(इयं) यह नदी (बिसखा) कमल की डंठी तोड़ने वाले (इव) के समान (शुष्मैः) अपने बल के द्वारा तथा (तविषेभिः) बलशाली (ऊर्मिभिः) लहरों के द्वारा (गिरीणा) पहाड़ों की (सानु) चोटी को (अरुजत्) तोड़ती है। (अवसे) रक्षा के लिए (सुवृक्तिभिः) अच्छी तरह से बनाई गई (धीतिभिः) स्तुतियों द्वारा (पारावतघ्नीं) दोनों किनारों को तोड़ने वाली, या बहुत दूर के स्थानों को भी नष्ट करने वाली (सरस्वतीम्) सरस्वती नदी की (आ विवासेम) पूजा करें। (ऋ० ६।६१।२)।

इयं शुष्मैः शोषणैः। शुष्ममिति बलनाम। शोषयतीति सतः। बिस बिस्यतेः भेदनकर्मणः वृद्धिकर्मणः वा। सानु समुच्छ्रितं भवति। समुन्नुन्नमिति वा। महद्भिः ऊर्मिभिः। पारावतघ्नी= पारावारघातिनीम्। पारं परं भवति। अवारम् अवरम्। अवनाय। सुप्रवृत्ताभिः स्तुतिभिः सरस्वतीं कर्मभिः परिचरेम।

यह शुष्म = शोषक (बल) के द्वारा। शुष्म = बल क्योंकि [शत्रुओं को] सुखाता है (√शुष)। बिस√बिस = भेद करना, बढ़ाना से। सानु ऊंचा (सम् उत√श्रि) या प्रेरित (सम् उत√नुद्) होता है। बड़ी लहरों से। पारावतघ्नी = आर पार को तोड़ने वाली। पार=दूसरा, अवार = अवर (नीचे)। रक्षा के लिए अच्छी तरह बनाई गई स्तुतियों से सरस्वती की सेवा (हम) कम से करें।

उदकनामानि उत्तराणि एकशतम्। उदकं कस्मात्? उनत्तीति सतः। नदीनामानि उत्तराणि सप्तत्रिंशत्। नद्यः कस्मात्? नदना भवन्ति=शब्दवत्यः। बहुलम् आसां नैघण्टुकं वृत्तम्। आश्चर्यम् इव प्राधान्येन। तत्रेतिहासम् आचक्षते—'विश्वामित्र ऋषिः सुदासः पैजवनस्य पुरोहितो बभूव।' विश्वामित्रः सर्वमित्रः। सर्वं संसृतम्। सुदाः कल्याणदानः। पैजवनः पिजवनस्य पुत्रः, पिजवनः पुनः स्पर्धनीयजवो वा अमिश्रीभावगतिर् वा। स वित्तं गृहीत्वा विपाट्छुतुद्र्योः सम्भेदम् आययौ। अनुययुरितरे। स विश्वामित्रो नदीः तुष्टाव—गाधाभवत इति।' अपि द्विवत्, अपि बहुवत्। तद्यत् द्विवत्, उपरिष्टात् तद् व्याख्यास्याम। अथ एतद् बहुवत्॥ २४॥

इसके बाद के एक सौ नाम उदक के हैं। (२१) उदक कैसे? √उन्द (भिगाना) से।

इसके बाद के सैंतीस नाम नदी के हैं। (२२) नदी कैसे? नाद करने वाली = शब्दयुक्त। बहुत जगह इनका अप्रधान स्थान है। प्रधानता देनेवाले स्थान तो आश्चर्य के समान (कम) हैं। यहाँ एक इतिहास कहते हैं—विश्वामित्र ऋषि सुदास पैजवन के पुरोहित बने। विश्वामित्र=सबके मित्र सर्व= संसृत (व्याप्त √सृ)। सुदा = कल्याणदाता। पैजवन = पिजवन के पुत्र। फिर पिजवन = स्पर्धनीय वेग (जव) वाले या जिसकी गति किसी से न मिले। तो वे (विश्वामित्र) धन लेकर विपाश और शुतुद्रु के संगम पर आये दूसरे लोग उनके पीछे पीछे गये विश्वामित्र ने नदियों की स्तुति की—अल्प जल वाली हो जाओ। द्विवचन में और बहुवचन में भी [स्तुति की]। द्विवचन वाले की व्याख्या बाद में होगी (९.३९)। यहाँ बहुवचन वाले की॥ २४॥

रमध्व मे वचसे सोम्याय ऋतावरीरुप मुहूर्तमेवै ।
प्र सिन्धुमच्छा वृहती मनीषावस्युरह्वे कुशिकस्य सूनु ॥

(ऋतावरी) हे सदा वहन वाली ! (मे) मेरे (सोम्याय) सोम के समान (वचसे) वचन सुनने के लिए (एवं) अपनी गतियों से (मुहूर्तम्) क्षण भर (उपरमध्वम्) रुक जाओ। (बृहती) बडी (मनीषा) लालसा से (अवस्यु) सहायता का इच्छुक मैं (कुशिकस्य) कुशिक राजा का (सूनु) पुत्र (सिंधु) सिंधु के पास (अच्छ) ही (प्र अह्वे) बुलाता हू।
(ऋ० ३।३३।५)।

उपरमध्व मे वचसे। सोम्याय=सोमसपादिने। ऋतावरी। ऋतवत्य ऋतमिति उदकनाम। प्रत्यृत भवति। मुहूर्तम्। एव = अयनै, अवनै वा। मुहूर्त =मुहु ऋतु, ऋतु अर्ते गतिकर्मण। मुहु =मूढ इव काल, यावत् अभीक्ष्ण चेति। अभीक्ष्णम् अभिक्षण भवति। क्षण क्षणोते, प्रक्ष्णुत काल। काल कालयते गतिकर्मण। प्राभिह्वयामि सिन्धुम्। बृहत्या= महत्या। मनीषया = मनस ईषया, स्तुत्या, प्रज्ञया वा। अवनाय। कुशिकस्य सूनु। कुशिको राजा बभूव। क्रोशते शब्दकर्मण, क्रशते वा स्यात् प्रकाशयतिकर्मण, साधु विक्रोशयिता अर्थानामिति वा। नद्य प्रत्यूचु ॥ २५ ॥

मेरे वचन के लिए रुक जाओ। सोम्य=सोम देने वाले (वचन)। ऋतावरी=ऋत से युक्त। ऋत=जल, क्योंकि (देश की) ओर जाता है। मुहूर्त भर। एवं =गतियो से (√इ) या सहायताओ से (√अव)। मुहूर्त=शीघ्र (मुहु) ऋतु। 'ऋतु √ऋ=जाना से। मुहु=मूढ के समान समय (शीघ्र) अभीक्ष्ण—जल्दी। अभीक्ष्ण=अभिक्षण (क्षण की ओर)। क्षण √क्षण (मारना) से=अच्छी तरह तेज किया हुआ समय (प्र√क्ष्णु)। काल √कालय=जाना से। सिन्धु को बुलाता हूं। [बृहती=] बृहत्या=बडी मनीषा (मनीषया) मन की ईषा (गति) से=स्तुति या बुद्धि से। रक्षा के लिए। कुशिक का पुत्र। कुशिक राजा थ। √क्रुश (चिल्लाना) से या 'प्रकाशन अर्थ वाले √क्रश से।धन का सम्यक वचन देने वाला।

नदियों ने उत्तर दिया ॥ २५ ॥

इन्द्रो अस्माँ अरदद्वज्रबाहुरपाहन्वृत्रं परिधिं नदीनाम्।
देवोऽनयत्सविता सुपाणिस्तस्य वयं प्रसवे याम उर्वीः ॥

(वज्रबाहुः) बाहुओं में वज्र धारण करने वाले (इन्द्रः) इन्द्र ने (नदीनाम्) नदियों को (परिधिं) घेरने वाले (वृत्रं) वृत्र से (अपाहन्) मारा, और (अस्मान्) हमें (अरदत्) खोदा। (सुपाणिः) सुन्दर हाथों वाले (सविता) सविता (देवः) देवता [हमें] (अनयत्) लाये (वयं) हम लोग (तस्य) उनके (प्रसवे) उत्पन्न की हुई (उर्वीः) चारों तरफ (यामः) जाती हैं। (३।३३।६)।

इन्द्रः अस्मान् अरदत् वज्रबाहुः। रदतिः खनतिकर्मा। अपाहन् वृत्रं परिधिं नदीनाम्—इति व्याख्यातम्। देवोऽनयत् सविता। सुपाणिः=कल्याणपाणिः। पाणिः पणायतेः पूजाकर्मणः। प्रगृह्य पाणी देवान् पूजयन्ति। तस्य वयं प्रसवे याम उर्वीः। उर्व्यः ऊर्णोतेः। वृणोतेः इति और्णवाभः। प्रत्याख्याय अन्ततः आशुश्रुवुः ॥ २६ ॥

वज्रबाहु इन्द्र ने हमें खोदा। रद् = खोदना। नदियों को चारों ओर से रोकने वाले (परिधि) वृत्र को मारा—यह स्पष्ट है। सविता (प्रसव करने वाले—इन्द्र) देव लाये। सुपाणि=कल्याणकर हाथों वाले। 'पाणि' √पणाय् = पूजा करना, से। हाथ जोड़ कर ही देवताओं की पूजा करते हैं। उनके प्रसव में (आदेश से) हम चारों ओर (घेर कर) जाती हैं। 'उर्वी' √ऊर्णु (घेरना) से; और्णवाभ के मत से √वृ (ढँकना) से। [नदियों ने] अस्वीकार करके अन्त में वचन दिया ॥ २६ ॥

आ ते कारो शृणवामा वचांसि ययाथ दूरादनसा रथेन।
नि ते नंसै पीप्यानेव योषा मर्यायेव कन्या शश्वचै ते ॥

(कारो) हे गायक ! (ते) तुम्हारे (वचांसि) वचनों को (आशृणवाम) हम सुनेंगी। (अनसा) गाड़ी से और (रथेन) रथ से (दूरात्) दूर से (ययाथ) आये हो। (ते) तुम्हारे प्रति (पीप्याना) दूध पिलानेवाली (योषा इव) स्त्री के समान, मैं (नि नंसै) झुकती हूँ। (मर्याय) मनुष्य

के प्रति (कन्या इव) कन्या जैसी मैं (ते) तुम्हारा (शश्वचै) आलिङ्गन करती हूँ। (ऋ० ३।३३।१०)॥

विशेष—'ययाथ' के अर्थ के विषय मे विभिन्न मत हैं। यास्क और दुर्ग 'जाओ' अर्थ लेते हैं—गाडी से जाओ=पार करो। फिर 'दूरात्' से अलग वाक्य की कल्पना भी करते हैं—क्योंकि दूर से आये हो। यह विचित्र मालूम पडता है। सायण 'ययाथ'=यत दूरात् आगत असि। गेल्डनर ने 'आ' उपसर्ग को 'ययाथ' के साथ मानकर 'आये हो' अर्थ किया है। 'शश्वचै' के अर्थ मे यास्क 'परिष्वजनाय' लिखते हैं किन्तु 'नसै' और 'शश्वचै' दोनो व्याकरण की दृष्टि से समान हैं, दोनो ही क्रिया हैं। अर्थ होगा—मैं 'झुकती हूँ', और 'आलिंगन करती हूँ', अत इसे तुमुन्नर्थक (Infinitive) मानना भ्रम है॥

आशृणवाम ते कारो वचनानि। याहि, दूरात्, अनसा रथेन च। निनमाम ते पाययमाना इव योषा पुत्रम्। मर्याय इव कन्या परिष्वजनाय। निनमे इति वा॥

गायक ! हम तुम्हारे वचन पूरा करेंगी। शकट और रथ से तुम जाओ, क्योंकि दूर से [आये हो—दुर्ग सायण] (दूर) पिलानेवाली स्त्री जैसे पुत्र के प्रति [झुकती है], वैसे ही (हम) तुम्हारे प्रति झुकती हैं। मनुष्य के प्रति कन्या जैसे आलिंगन के लिए [झुकती है]। झुकती हूँ'—भी सम्भव है (एकवचन मे)॥

अश्वनामानि उत्तराणि षड्विंशति। तेषामष्टा उत्तराणि बहुवत्। अश्व कस्मात्? अश्नुते अध्वानम्। महाशनो भवति इति वा। तत्र दधिक्रा इत्येतत् 'दधत् क्रामति' इति वा, दधत् क्रन्दतीति वा। दधत् आकारी भवति इति वा। तस्य अश्ववद् देवतावच्च निगमा भवन्ति। तद् यद् देवतावद्, उपरिष्टात् तद् व्याख्यास्याम। अथ एतद् अश्ववत्॥ २७॥

इसके बाद वे छब्बीस नाम अश्व के हैं, जिनमे पिछले आठ नाम बहुवचन मे प्रयुक्त होते हैं। (२३) 'अश्व' कैसे? रास्ते का, तय करता है (अध्व+√अश) या अधिक भोजन (? गति) वाला।" उन (नामों) मे दधिक्रा' भी है—धारण करके चलता है या धारण करके हिनहिनाता है।

या धारण करने पर अच्छे आकार का (सुन्दर) लगता है। इसका अश्व और देवता—दोनों अर्थों में प्रयोग होता है। जो देवता अर्थवाला है उसकी व्याख्या बाद में करेंगे (१०।३१)। यह 'अश्व' अर्थवाला है ॥ २७ ॥

उतस्य वाजी क्षिपणिं तुरण्यति ग्रीवायां बद्धो अपिकक्ष आसनि।
क्रतुं दधिक्रा अनु सन्तवीत्वत् पथामङ्कांस्यन्वापनीफणत् ॥

(उत) और (स्य) वह (वाजी) घोड़ा (ग्रीवायां) गरदन में, (अपिकक्षे) काँख में और (आसनि) मुँह में (बद्ध) बँध जाने पर (क्षिपणि) कोड़े के प्रहार से (तुरण्यति) तेज दौड़ता है, (दधिक्राः) घोड़ा (क्रतु) अपनी शक्ति का (अनु संतवीत्वत्) मदद करता हुआ (पथाम्) रास्ते के (अङ्कांसि) मोड़ों को (अनु आपनीफणत्) तेजी से पार करता है। (ऋ० ४।४०।४) ॥

अपि स वाजी वेजनवान् क्षेपणम् अनु तूर्णमश्नुते अध्वानम्। ग्रीवायां बद्धः। ग्रीवा गिरतेः वा, गृणातेः वा, गृह्णातेः वा। 'अपिकक्षे' 'आसनि' इति व्याख्यातम्। क्रतुं दधिक्राः। कर्म वा प्रज्ञां वा। अनु संतवीत्वत्—तनोतेः पूर्वया प्रकृत्या निगमः। पथामङ्कांसि=पथां कुटिलानि। पन्थाः पततेः वा, पद्यतेः वा पन्थतेः वा। अङ्कः अञ्चतेः। आपनीफणत् इति फणतेः चर्करीतवृत्तम् ॥

और वह वाजी = वेगवान्। क्षेपण (चाबुक) के बाद, शीघ्र ही रास्ता तय करता है। गरदन में बँधा हुआ। ग्रीवा √गॄ (निगलना) से, या √गृ (आवाज करना) से, या √ग्रह् (पकड़ना) से। कक्ष और आसन में—इन (दोनों शब्दों) की व्याख्या हो चुकी है। क्रतु=कर्म या बुद्धि को। [illegible]

टिप्पणी—[illegible]

(जाना) का यङ् में। यङ् को यास्क चर्करीत कहते हैं। दुर्ग धातु की छः अवस्थायें दिखलाते हैं—

प्रकृत्यन्तः सनन्तश्च यङन्तो यङ्लुगेव च।
ण्यन्तः ण्यन्तसनन्तश्च षड्विधो धातुरुच्यते॥

दश उत्तराणि आदिष्टोपयोजनानि—इति आचक्षते साहचर्यज्ञानाय। ज्वलतिकर्माण उत्तरे धातव एकादश। तावन्ति एव उत्तराणि ज्वलतो नामधेयानि नामधेयानि॥ २७॥

इसके बाद के दस नामों में साहचर्य-ज्ञान के लिए उनके उपयोग का भी कथन हुआ है। उसके बाद के ग्यारह धातु 'जलना' अर्थवाले हैं। उसके बाद के उतने ही नाम 'ज्वलन' के हैं॥ २८॥

॥ इति निरुक्ते द्वितीयोऽध्यायः॥

तृतीय अध्याय

प्रथम-पाद

कर्मनामान्युत्तराणि षड्विंशति (निघ० २।१)। कर्म कस्मात् ? क्रियते इति सत । अपत्यनामान्युत्तराणि पञ्चदश (निघ० २।२) अपत्य कस्मात् ? अपतत भवति । नानेन पतति इति वा । तद् यथा 'जनयितु प्रजा' एवमर्थीये ऋचौ उदाहरिष्याम ॥ १ ॥

इसके बाद के छब्बीस नाम कर्म के हैं। कर्म कैसे ? जो किया जाय (√कृ)। बाद के पन्द्रह नाम अपत्य के हैं। अपत्य कैसे ? [पिता से] अलग होकर फैलता है (√तन्), अथवा इसके कारण [पिता नरक म] नहीं पड़ता है (√पत्)। तो जिससे 'सन्तान उत्पन्न करने वाले (पिता) की' [सिद्ध हो], ऐसे अर्थवाली दो ऋचाओं का उदाहरण देंगे ॥ १ ॥

विशेष—दुर्गाचार्य कहते हैं कि ज्वलन (द्वितीय अध्याय) के नामों के बाद कर्म के नाम इसलिए आए हैं कि अग्नि (ज्वलन) में हमारे सभी कर्म निष्पन्न होते हैं, जैसे यज्ञ आदि। कर्म के बाद ही अपत्य आता है क्योंकि सभी कर्मों म मुख्य है पुत्रोत्पादन। दुर्ग की कल्पना बड़ी ही मनोरञ्जक है। एवमर्थीये = इस अर्थवाली (द्वि० व०)—यह 'ऋचौ' (द्वि० व०) का विशेषण है।

परिषद्य ह्यरणस्य रेक्णो नित्यस्य राय पतय. स्याम।
न शेषो अग्ने अन्यजातमस्त्यचेतानस्य मा पथो वि दुक्ष. ॥

(अरणस्य) दूसरे परिवार की (रेक्ण) सम्पत्ति (परिषद्य हि) त्याग देने के योग्य है, [हम लोग] (नित्यस्य) चिरस्थायी (राय) धन के (पतय) स्वामी (स्याम) बनें। (अन्यजातम्) दूसरे का ज मा हुआ पुत्र (शेष न) पुत्र नहीं है, वह तो (अचेतानस्य) अज्ञानी के लिए वैसा (अभित) होता है, (अग्ने) हे अग्ने ! (पथ) हमारे मार्ग को (मा वि दुक्ष) दूषित मत करो (ऋ० ७।४।७)।

विशेष—वृत्त के अनुसार इन ऋचाओं में वसिष्ठ और अग्नि का संवाद वर्णित है। वसिष्ठ ने अग्नि से पुत्र माँगा क्योंकि वसिष्ठ के सभी पुत्र मारे गये थे। अग्नि ने उत्तर दिया कि खरीदा हुआ, कृत्रिम या दत्तक पुत्र ले लो। वसिष्ठ ने उक्त ऋचा में इन पुत्रों की निरर्थकता दिखाकर औरस पुत्र को ही पुत्र बतलाया और कहा कि हे अग्ने! मेरे मार्ग को दूषित मत करो।

परिहर्त्तव्य हि नोपसर्त्तव्यम्। अरणस्य रेक्ण। अरण अपार्णो भवति। रेक्ण इति धननाम—रिच्यते प्रयत। 'नित्यस्य राय पतय स्याम'। पित्र्यस्येव धनस्य। 'न शेषो अग्ने अन्यजातमस्ति'। शेष इत्यपत्यनाम—शिष्यते प्रयत। अचेतयमानस्य तत्प्रमत्तस्य भवति। मा न पथो विदूदुष इति। तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय—॥ २ ॥

परिहार करना चाहिए। अर्थात् पास नहीं जाना चाहिए। अपरिचित का धन। अरण = ऋण (जलस्थानसम्बन्ध) से रहित [= दूसरे वंश से उत्पन्न]। रेक्ण = धन क्योंकि मरने के समय लोग इसे छोड़ जाते हैं। हम लोग नित्य (स्थायी) सम्पत्ति के स्वामी बनें, जिस प्रकार पैतृक सम्पत्ति के [स्वामी बनते हैं]। हे अग्नि! दूसरे का जन्मा हुआ पुत्र नहीं है। शेष = अपत्य (सन्तान) क्योंकि मरनेवालों की यह [सम्पत्ति] यहीं रह जाती है। वह (अपत्य) केवल अज्ञानियों या पागलों का ही होता है (वे लोग ही दत्तक आदि पुत्र को अपना समझते हैं)। हमारे मार्ग को दूषित मत करो। इसके बाद की [ऋचा] और अधिक स्पष्ट व्याख्या के लिए है॥ २॥

न हि ग्रभायारण सुशेवोऽन्योदर्यो मनसा मन्तवा उ।
अधा चिदोक पुनरित्स एत्या नो वाज्यभीषाळेतु नव्य ॥

(अरण) दूसरे परिवारवाला (सुशेव) सुखदायक होने पर भी (अन्योदर्य) दूसरे के पेट से उत्पन्न होने के कारण (न हि ग्रभाय) नहीं ग्रहण करना चाहिये एवं (मनसा) मन से भी नहीं (मन्तवै उ) सोचना चाहिए। (अध) क्योंकि (स इत्) वह (पुन) फिर (ओक चित्) अपने घर को ही (एति) लौट जाता है (न) हमारे पास (वाजी) वीर (अभीषाट्) शत्रुओं का दमन करनेवाला (नव्य) नवीन [पुत्र] (आ एतु) आवे (ऋ० ७।४।८)।

न हि ग्रहीतव्योऽरण सुसुखतमोऽपि अन्योदर्य । मनसाऽपि न मन्तव्य —'ममायम्' इति। अथ स ओक पुनरेव तदेति यत आगतो भवति । ओक इति निवासनामोच्यते । एतु नो वाजी वेजनवान् । अभिपहमान सपत्नान् । नवजात । स एव पुत्र इति॥ अथैता दुहितृदायाद्ये उदाहरन्ति । पुत्रदायाद्ये इत्येके ॥३॥

दूसरे के पेट से उत्पन्न, दूसरे कुलवाला अच्छा सुख देने पर भी ग्रहण न करें। मन मे भी नही समझ कि यह मेरा है। (क्योंकि) बाद में वह उसी घर मे लौट जाता है जिससे आता है। ओक निवास का पर्याय है। वीर या वेगवान् हमारे पास आय। शत्रुओ का दमन करनेवाला नया उत्पन्न। वही (वास्तविक) पुत्र है।

अब आगे की ऋचा को (कुछ लोग) पुत्री का उत्तराधिकार दिखाने के अर्थ मे लेते हैं कुछ लोग पुत्र का उत्तराधिकार दिखलाने मे ॥ ३ ॥

शासद्वह्निर्दुहितुर्नप्त्य गाद् विद्वाँ ऋतस्य दीधितिं सपर्यन् ।
पिता यत्र दुहितु सेकमृञ्जन्त्स शग्म्येन मनसा दधन्वे ॥

(ऋतस्य) यज्ञ के (दीधिति) विधान को (सपर्यन्) आदर भाव से देखते हुए (विद्वान्) ज्ञानी, (वह्नि) वहन करनेवाला पति (शासद्) घोषित करता है कि वह (दुहितु) पुत्री से (नप्त्य) नाती या दौहित्र (गात्) पायेगा (यत्र) जहाँ (पिता) पिता (दुहितु सेकम्) पुत्री के लिए पति (ऋञ्जन्) खोजता है वहाँ (शग्म्यन मनसा) शान्त मन से (सदधन्वे) अपने को रखता है। (ऋ० ३।३१।१ और ऐ० ब्रा० ६।१८।२)।

प्रशास्ति वोढा सन्तानकर्मणे दुहितु पुत्रभावम्। दुहिता दुर्हिता, दूरे हिता, दोग्धेर्वा। नप्तारमुपागमत् दौहित्र पौत्रमिति। विद्वान्। प्रजननयज्ञस्य, रेतसो वा, अङ्गादङ्गात्सम्भृतस्य, हृदयादधिजातस्य, मातरि प्रत्यृतस्य, विधान पूजयन्। अविशेषेण मिथुना पुत्रा दायादा इति॥

वहन करनेवाला (पति) सन्तानोचित कर्म के लिए पुत्री का पुत्र होना स्वीकार करता है (= पुत्री का पुत्र का अधिकार प्राप्त है कि वह सन्तान का काम करे)। दौहित्र = जिसका हित करना कठिन है जो दूर पर हितकर

होती है या दूहती रहती है (√दुह्)। उसने नाती पाया है अर्थात् दुहिता का पुत्र (दौहित्र) भी पौत्र ही है। वह जानी है। प्रजनन रूपी यज्ञ के या प्रत्येक अंग से उत्पन्न, हृदय से निकले हुए और माता में प्रविष्ट हुए रेतस् (वीर्य) के विधान को सम्मानभाव से देखते हुए [वह स्वीकार करता है]। बिना भेद-भाव के दोनों सन्तानों (पुत्र और पुत्री) को उत्तराधिकार प्राप्त है।

विशेष—दुर्ग ने और यास्क ने भी ऋचा के पूर्वार्ध की ही व्याख्या की है। इसमें पुत्री का अधिकार पुत्र-सा दिखलाया गया है। दुहिता का निर्वचन बड़ा मनोरञ्जक है—दुर्हिता = जिसकी भलाई करना या जिसे प्रसन्न करना कठिन है। कितनी भी भलाई की जाय इन्हें प्रसन्न करना कठिन है। दूरे हिता = पिता से दूर रहने पर ही पिता का कल्याण है। दुह् = पिता से बराबर धन दूहती रहती है। ऐतरेय ब्राह्मण की व्याख्या में सायण ने उद्धरण दिया है—

सम्भवे स्वजनदुःखकारिका सम्प्रदानसमयेऽर्थहारिका।
यौवनेऽपि बहुदोषकारिका दारिका हृदयदारिका पितुः॥

वस्तुतः दुहिता का सम्बन्ध बहुत प्राचीन भाषाओं से है—ग्रीक Thugather, अवेस्ता dughetar और dugedar, जर्मन Tochter, पुरानी अंग्रेजी (O E) dohtor, अंग्रेजी daughter. प्राचीन भाषाओं में ह्, घ् और ग् का परिवर्तन बहुत सामान्य था।

तदेतद् ऋक्श्लोकाभ्यामभ्युक्तम्—
अङ्गादङ्गात्सम्भवसि हृदयादधिजायसे।
आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम्॥ इति।
अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मतः।
मिथुनानां, विसर्गादौ मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्॥

इसी (बात) को ऋचा और श्लोक में कहा है—तुम प्रत्येक अंग से उत्पन्न होते हो तथा हृदय से निकले हुए हो, तुम पुत्र नाम की हमारी (अपनी) आत्मा ही हो, तो एक सौ शरद्-ऋतुओं (वर्षों) तक जीवित रहो (कौषी० आ० ४।११)। 'दोनों ही सन्तानों (पुत्र और पुत्री) का, बिना भेद-भाव के, धर्म के अनुसार, उत्तराधिकार होता है'—ऐसा स्वायम्भुव (अपने आप उत्पन्न होने वाले ब्रह्मा के पुत्र) मनु ने सृष्टि (विसर्ग) के आरम्भ में कहा था।

विशेष—यद्यपि दुर्गाचार्य ने 'मिथुन' का अर्थ युग्म=पुत्र-पुत्री किया है किन्तु प्रथम ऋचा मे पुत्र की प्रधानता प्रदर्शित किये जाने के कारण प्रतीत होता है कि 'मिथुन' का अर्थ 'जुड़वाँ (twin) पुत्र' होगा जिसमे दोनो को समान अधिकार दिया जाता है। राजवाडे का यह सुझाव उचित नही जँचता क्योंकि यास्क ने पुत्र-पुत्री दोनो के उत्तराधिकार के प्रसग मे इसका उद्धरण दिया है। पुत्री के अधिकार-निषेध के लिए तो बाद मे 'न दुहितर इत्येके' दिया ही है। इन दोनो उद्धरणो मे पहला तो ऋचा है, दूसरा श्लोक। यह श्लोक मनुस्मृति मे नही मिलता।

न दुहितर इत्येके। 'तस्मात्पुमान् दायादः अदायादा स्त्री' इति विज्ञायते। 'तस्मात् स्त्रियं जातां परास्यन्ति न पुमांसम्' इति च। स्त्रीणा दानविक्रयातिसर्गाः विद्यन्ते न पुंसः। पुंसोऽपीत्येके, शौन शेपे दर्शनात्। अभ्रातृमतीवादः इत्यपरम्।

(अमूर्या यन्ति जामय. सर्वालोहितवाससः)।
'अभ्रातर इव योषास्तिष्ठन्ति हतवर्त्मनः ॥',

अभ्रातृका इव योषा. तिष्ठन्ति सन्तानकर्मणे पिण्डदानाय हतवर्त्मान.। इति अभ्रातृकाया. अनिर्वाह. औपमिकः। तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय ॥ ४ ॥

कुछ लोगों के अनुसार पुत्री को [उत्तराधिकार] नही मिलता। 'इसलिए पुरुष उत्तराधिकारी है, स्त्री उत्तराधिकारिणी नहीं' (मैत्रा० सं० ४।६।४)—यह मालूम होता है। और यह भी कि 'उत्पन्न होते ही स्त्री को तिरस्कृत करते (दूर फेंक देते) हैं, पुरुष को नहीं' (वही)। स्त्रियो का ही दान, विक्रय और परित्याग होता है, पुरुषों का नहीं। कुछ लोगों के अनुसार पुरुषों का भी [दान-आदि] होता है क्योंकि शुनःशेप की कथा में देखते हैं। कुछ लोगों के अनुसार यह (स्त्री का उत्तराधिकार-सिद्धान्त) भाई से रहित स्त्रियों के लिए है। (लाल वस्त्र पहनने वाली सब स्त्रियाँ नाड़ियों के समान जाती हैं); अपने मार्ग में रुक जाने पर वे भाई से रहित स्त्रियों के समान रहती हैं (अथर्व सं० १।१७।१)। वे सन्तानोत्पादन तथा पिण्डदान के मार्ग में रुक जाने पर, भाई से रहित स्त्रियो के समान, रहते हैं। इस तरह उपमा के द्वारा

व्यक्त किया है कि भ्रातृहीन (स्त्री) से विवाह न करें। इसके बाद की ऋचा इसे अधिक स्पष्ट करती है ॥ ४ ॥

विशेष—'उत्पन्न होते ही स्त्री को फेंक देते हैं'—इस वाक्य की व्याख्या मे दुर्गाचार्य ने स्त्री पुरुष को मिट्टी का तथा काठ का पात्र माना है। हवन मे मिट्टी के पात्र को फेंक देते हैं किन्तु काठ के पात्र को फेंकते नही उससे हवन करते हैं। स्त्रियो का दान तथा विक्रय वैवाहिक* शुल्क लेकर होता है। इस प्रसग मे सुभद्राहरण नामक ग्रथ का उद्धरण दिया गया है—

विक्रय चाप्यपत्यस्य मतिमान् कोऽनुमस्यते।
स्वल्पो वापि बहुर्वापि विक्रयस्तावदेव सः ॥

अभिमग = परित्याग (अभिना हि परित्याग उदा दान मृजेर्मतम्)। शुन शेप की कथा ऐतरेय ब्राह्मण म दी हुई है।* भ्रातृरहित स्त्रियो के विषय म यास्क का कहना है कि इन्हें धर्माधिकार अवश्य है परन्तु इनमे विवाह करना निषिद्ध है क्योंकि इनकी तुलना उन व्यक्तियो से की गई है जिनका मार्ग सन्तान तथा पिण्डदान के विषय मे बिलकुल रुका हुआ है ॥ ४ ॥

अभ्रातेव पुस एति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम्।
जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्रेव नि रिणीते अप्स ॥

(अभ्राता इव) जैसे भाई से रहित स्त्री (पुस.) मनुष्य की (प्रतीची) ओर (एति) जाती है, (धनाना सनये) धन की प्राप्ति के लिए (गर्तारुक् इव) गर्त = सभाभवन के खम्भे पर, रगमच पर चढने वाली—नृत्य करनवाली

* पुत्रहीन हरिश्चन्द्र ने नारद के परामर्श से वरुण की उपासना द्वारा पुत्र पाया जिसका नाम रोहित था। वरुण ने पूर्वप्रतिज्ञा के अनुसार रोहित की बलि माँगी परन्तु हरिश्चन्द्र 'बच्चा है', 'दाँत उगने दीजिये' 'कवच धारण करने दें' आदि बहानों से टालते गये। अन्त में रोहित वन में चला गया और हरिश्चन्द्र को जलोदर रोग हो गया। इन्द्र की प्रेरणा से ६ वर्ष तक रोहित वन में घूमता रहा। अन्त में एक भूखे ब्राह्मण अजीगर्त के तीन पुत्रों में बिचले शुन शेप को १०० गायों के बदले खरीद लाया और उससे वरुण को बलि देने के लिए घर आकर यज्ञ करने लगा। यज्ञ में शुन शेप को बाँधने और मारने के लिए भी अजीगर्त ने एक-एक सौ गायें पाईं। शुन शेप देवताओं की स्तुति करके छूट गया। उस दिन के यज्ञ का ऋषि बना तथा सोम चुआने की नई विधि का उसने आविष्कार भी किया। अजीगर्त की लाख चेष्टा पर भी विश्वामित्र ने उसे अपना पुत्र बना लिया। विश्वामित्र के विरोध करने वाले पुत्र म्लेच्छ, आन्ध्र आदि हुए (ऐ० ब्रा० ७।३)।

स्त्री के समान, (सुवासाः) सुन्दर वस्त्र धारण किये हुए और (पत्ये उशती) पति की कामना करने वाली (जाया इव) पत्नी के समान तथा (हस्रा इव) हँसने वाली स्त्री के समान (उषा) ऊषा (अप्सः) अपने रूप को, छाती को (निरिणीते) फैलाती है (ऋ० १।१२४।७) ॥

अभ्रातृकेव पुंस पितॄन् एति अभिमुखी सन्तानकर्मणे पिण्डदानाय, न पतिम्। गर्तारोहिणी इव धनलाभाय दाक्षिणाजी। गर्त. सभास्थाणु। गृणाते.। सत्यसंगरो भवति। तं तत्र या अपुत्रा, या अपतिका सा आरोहति। ता तत्राक्षैः आघ्नन्ति। सा रिक्थ लभते ॥

सन्तानोत्पत्ति या पिण्डदान के लिए, भाई से रहित स्त्री जैसे पुरुषो के पास अर्थात् पितृवश की ओर जाती है पति की ओर नही। दक्षिण–देश मे उत्पन्न तथा धनप्राप्ति के लिए गर्त (सभाभवन के खम्भे) पर चढ़ने वाली स्त्री के समान। गर्त = 'सभाभवन का स्तम्भ' √गॄ (बुलाना) से। इस (स्थान) मे किये गये व्यवहार सच्चे होते हैं। जो पुत्रहीन या पतिहीन होती है वह उस (खम्भे) पर चढ़ती है, उसे लोग पासो से (dice) मारते हैं और वह धन पाती है।

विशेष—भाई से रहित स्त्री पति का कल्याण नही करती, अपने पितृवंश म ही लौट जाती है। दुर्ग के अनुसार दक्षिण मे प्रथा है कि द्यूत-स्थान मे पुत्रहीन या पतिहीन स्त्री जाती है। (अपना रूप सवार कर) वह खम्भे पर चढ़ती है उसे लक्ष्य कर लोग पासे फेंकते हैं तथा उसे कुछ पैसे मिल जाते हैं। इस खम्भे के अधीन किये गये व्यवहार सच्चे होते हैं—ऐसा कोई नहीं कहता कि पासा यहाँ गिरा, यहाँ नहीं। दाक्षिणाजी—दक्षिण में दाक्षिणा, उनमे उत्पन्न-दाक्षिणाजा। यही पाठ सायण ने लिया है।' वर्तमान दाक्षिणाजी अशुद्ध है।

श्मशानसञ्चयोऽपि गर्त उच्यते। गुरते.। अपगूर्णो भवति। श्मशान-श्मशयनम्। श्म शरीरम्। शरीर शृणाते.। शम्नाते. वा। श्मश्रु लोम। श्मनि श्रित भवति। लोम लुनाते. वा। लीयते वा। 'नोपरस्याविष्कुर्यात्। यदुपरस्याविष्कुर्यात् गर्तेष्ठा स्यात् प्रमायुको यजमान.'—इत्यपि निगमो भवति। रथोऽपि गर्त. उच्यते। गृणाते. स्तुतिकर्मण.। स्तुततमं यानम्। 'आ रोहथो वरुण मित्र गर्तम्'—इत्यपि निगमो भवति ॥

श्मशान के समूह को भी गर्त कहते हैं, √गुर (तैयार होना) से, क्योंकि [यहाँ के निवासी मृत पुरुषों के स्वागत में] तैयार रहते हैं। श्मशान = श्म (शरीर) का शयन (शान्ति) स्थान। श्म = शरीर। 'शरीर' √श्रृ (जलाना) या √शम् (नष्ट करना) से (देखिये, निरुक्त ३।१६)। श्मश्रु = रोम क्योंकि श्म (शरीर) में आश्रित होता है। लोम—√लू (काटना) या √ली (सटा होना) से। (गर्त का अर्थ 'श्मशान' है) इसका उदाहरण यह है—'यज्ञस्तम्भ के निचले भाग को खोलना नहीं चाहिये; वह प्रमादी यजमान जो यज्ञस्तम्भ के निचले भाग (उपर) को खोले वह श्मशानस्थ (गर्त्तस्था) बनेगा।' रथ को गर्त कहते हैं, √गृ = 'स्तुति करना' से। यह ऐसी गाड़ी है जिसकी स्तुति सबसे अधिक हुई है। इसका वैदिक–उदाहरण है—'हे वरुण और मित्र ! गर्त (रथ) पर आप दोनों चढ़े।' (ऋ० ५।६२।८)॥

विशेष—यास्क की निर्वचन प्रियता तथा विषयान्तर-गमन-प्रवृत्ति यहाँ पराकाष्ठा पर पहुँची हुई है। इसी के फलस्वरूप—गर्त, श्मशान, शरीर, श्मश्रु, लोम—जैसे शब्दों की व्याख्या हो गई है। दुर्ग इसे 'प्रसक्तानुप्रसक्त' (सम्बद्ध शब्दों से सम्बद्ध) कहते हैं।

जायेव पत्ये कामयमाना सुवासा. ऋतुकालेषु। उषा. हसनेव दन्तान् विवृणुते रूपाणि। इति चतस्र. उपमाः। 'नाभ्रात्रीमुपयच्छेत्। तोकं ह्यस्य तद् भवति'—इति अभ्रातृकायाः उपयमनप्रतिषेधः प्रत्यक्ष., पितुश्च पुत्रभावः। पिता यत्र दुहितु. अप्रत्तायाः रेत.सेकं प्रार्जयति सन्दधात्यात्मानं संगमेन मनसेति॥ अथैतां जाम्या. रिक्थप्रतिषेधे उदाहरन्ति। ज्येष्ठं पुत्रिकायाः इत्येके॥ ५॥

ऋतुकाल आने पर जैसे सुन्दर वस्त्र धारण करने वाली, पति की कामना करती हुई पत्नी [अपने रूप को फैलाती है]। हँसती हुई (नारी) जैसे दाँत [की छटा] दिखाती है वैसे ही ऊषा अपने रूप को खोलती है। इस प्रकार चार उपमायें हैं।

भाई से रहित स्त्री से विवाह न करें, क्योंकि उसमें उत्पन्न पुत्र उस [स्त्री के पिता] से सम्बन्ध रखता है'—इस प्रकार भ्रातृहीन स्त्री से विवाह का निषेध तथा पिता का [अपनी पुत्री को] पुत्र समझना सुस्पष्ट है।*

• तुलना करें—मनु० ३।११, याज्ञवल्क्य० १।५३।

पिता जब अपनी अविवाहित लड़की का पति (रेतस् का सिंचन करने वाला) चुनता है तो अपनी आत्मा को वह शान्त (सगम, शम्य)० मन से धारण करता है (अर्थात् वह पुत्रहीनता के कष्ट से मुक्त हो जाता है क्योंकि पुत्री का पुत्र तो उसी के वंश का होगा)।

अब कुछ लोग निम्नलिखित ऋचा को पुत्री के उत्तराधिकार निषेध के रूप में रखते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि नियुक्त की गई पुत्री को [धन का] बड़ा भाग मिले ॥ ५ ॥

न जामये तान्वो रिक्थमारैक्चकार गर्भं सनितुर्निधानम्।
यदी मातरो जनयन्त वह्निमन्य कर्त्ता सुकृतोरन्य ऋन्धन् ॥

(तान्व) शरीर से उत्पन्न अपने पुत्र न (जामये) अपनी बहन को (रिक्थम्) उत्तराधिकार-धन (न) नहीं (आरैक्) दिया; उसने उसके (गर्भम्) गर्भ को (सनितुः) उसके पति के (निधानम्) भाण्डार-गृह के रूप में (चकार) बना दिया है। (यदी) जब (मातर) मातायें (वह्निम्) सन्तान को (जनयन्त) उत्पन्न करती हैं तब उन (सुकृतो) पुण्यकर्ताओं में (अन्य) एक तो (कर्त्ता) काम करने वाला [होता है और] (अन्य) एक (ऋन्धन्) लाभ उठाने वाला [होता है] (ऋ० ३।३१।२)।

विशेष—इस मन्त्र में पुत्री का अधिकार-निषेध दिखलाया है अर्थात् पुत्री को पिता की सम्पत्ति में कोई भाग नहीं मिलता यदि अपने शरीर का उत्पन्न पुत्र भी हो। यद्यपि मातायें दोनों तरह की सन्तान को समान रूप से उत्पन्न करती हैं तथापि उनमें एक वंशकर्त्ता (पुत्र) होता है, दूसरी पुत्री को सज सजा कर (ऋन्धन्) दूसरे के यहाँ भेज देते हैं। गेल्डनर ने 'सनिता' का अर्थ विजेता (पाणिग्रहण करने वाला) लिया है।

न जामये भगिन्यै। जामि —अन्येऽस्या जनयन्ति जाम् अपत्यम्। जमते वा स्याद् गतिकर्मण। निर्गमनप्राया भवति। तान्व =आत्मज पुत्र। रिक्थ प्रारिचत्=प्रादात्। चकार एना गर्भनिधानीं सनितु हस्तग्राहस्य। यदिह मातर अजनयन्त वह्नि=पुत्रम्। अवह्नि च स्त्रियम्। अन्यतर सन्तानकर्त्ता भवति पुमान् दायाद। अन्यतर अर्धयित्वा जामि. प्रदीयते परस्मै ॥ ६ ॥

जामि अर्थात् बहन के लिए नही। जामि = जिसमे दूसरे लोग 'जा' अर्थात् संतान उत्पन्न करें। या 'जाना' अर्थ वाले √जम् से। उसे प्राय [पति के यहाँ] बाहर ही जाना पड़ता है। तान्व = अपना पुत्र। (उसने) धन को छोड़ा या दिया। उस (बहन) को सनिता अर्थात् पाणिग्रहण करने वाले (पति) के द्वारा गर्भ धारण करने योग्य बनाया (अर्थात् उसका पालन-पोषण किया)। जब माताओं ने वह्नि अर्थात् पुत्र को और अवह्नि अर्थात् पुत्री को उत्पन्न किया, उनमें एक उत्तराधिकारी पुरुष-संतान अपनी सन्तानों को बढ़ाने वाला है, दूसरी स्त्री सन्तान (जामि) पालन-पोषण करके दूसरे को दे दी जाती है ॥ ६ ॥

द्वितीय-पाद

मनुष्यनामानि उत्तराणि पञ्चविंशतिः (निघ० २।३)। मनुष्याः कस्मात्? मत्वा कर्माणि सीव्यन्ति। मनस्यमानेन सृष्टाः। मनस्यति. पुनर्मनस्वीभावे। मनोः अपत्यम्, मनुषो वा। तत्र 'पञ्चजना.' (२।३।२३) इत्येतस्य निगमा भवन्ति ॥७॥

इसके बाद के पच्चीस नाम 'मनुष्य' के हैं। 'मनुष्य' कैसे बना? चूँकि वे समझ कर (√मन्) कामों से सम्बन्ध करते हैं (√षिवु)। बुद्धिमान् (स्रष्टा) के द्वारा ये बनाये गये हैं। पुन, 'मनस्यति' का प्रयोग बुद्धिमान् होने के अर्थ मे ही होता है। मनु का या मनुस् का पुत्र। उन (नामो) मे 'पञ्चजना.' शब्द के वैदिक उद्धरण है ॥ ७ ॥

तदद्य वाच. प्रथमं मसीय येनासुराँ अभि देवा असाम।
ऊर्जाद उत यज्ञियास: पञ्चजना: मम होत्रं जुषध्वम् ॥

(तत्) तो (अद्य) आज (प्रथम) पहले (वाच.) वचन को (मसीय) सोच लूँ (येन) जिस वचन से (देवाः) हम देवता लोग (असुरान्) असुरो को (अभि असाम) पराजित कर लेंगे। (ऊर्जादः) हे यज्ञ के अन्न खानेवाले (उत) और (यज्ञियास.) यज्ञ करने वाले पवित्र (पञ्चजना.) मनुष्यों! (मम) मेरे (होत्र) यज्ञ को (जुषध्वम्.) सेवा करो (ऋ० १०।५३।४)।

तदद्य वाचः परमं मसीय, येन असुरान् अभिभवेम देवा.। असुरा.=असुरता. स्थानेषु, अस्ता. स्थानेभ्यः इति वा। अपि वा, 'असु.' इति प्राणनाम। अस्त. शरीरे भवति, तेन तद्वन्त.। 'सोर्देवानसृजत तत्सुराणा सुरत्वम्। असोरसुरानसृजत तदसुराणामसुरत्वम्'—इति विज्ञायते। ऊर्जाद उत यज्ञियास.। अन्नादाश्च यज्ञियाश्च। ऊर्क् इति अन्ननाम, ऊर्जयति इति सतः। पक्वं सुप्रवृक्णमिति वा॥

[मैं] आज उस वचन (सामर्थ्य) को सबसे बड़ा समझता हूं, जिससे हम देवता असुरों को परास्त करें। असुर = जो किसी जगह ठीक से न ठहरे (अ-सु √रम्) या सभी जगहों से भगाये जाते हैं (√अस्)। अथवा 'असु' प्राण का पर्यायवाची है, जो शरीर में डाला गया हो। उस (प्राण) से युक्त [असुर हैं]। 'देवताओं का सुरत्व इसी में है कि [ब्रह्मा ने] देवों को अच्छी चीज (सु) से उत्पन्न किया, राक्षस लोग असुर हुए √क्योंकि इन्हें खराब चीजों (अ-सु) से उत्पन्न किया'—यह मालूम होता है।* यज्ञान्न खाने वाले और पवित्र—अर्थात् अन्नभक्षक और यज्ञकर्त्ता (पवित्र)। 'ऊर्ज्' = अन्न का एक नाम है क्योंकि यह बल प्रदान करता है। पक जाने पर विभाजन के योग्य होता है (√पच्+√व्रश्च्)॥

विशेष—'असुर' के विषय में की गई कल्पनायें सारी निरर्थक हैं क्योंकि यह प्राचीन शब्द है 'असुर' देवता के अर्थ में भी आया है। वस्तुतः उसका प्राचीन-अर्थ वही था। तुलना करें अवेस्ता—Ahura Mazda = परमेश्वर। पुनः अपने निरुक्त (२।१) में कहे गये निर्वचन-सिद्धान्त 'येनचित् वृत्तिसामान्येन' का प्रयोग यास्क यहाँ ऊर्ज् शब्द की व्युत्पत्ति में करने लगे हैं। √पच् का एक रूप है 'पक्व' जिसमें क् आया है तथा √व्रश्च् से र् लिया बस ऊर्क् शब्द बन गया॥

पञ्चजना मम होत्रं जुषध्वम्। गन्धर्वा. पितरो देवा असुरा रक्षांसि इत्येके। चत्वारो वर्णाः, निषादः पञ्चम. इत्यौपमन्यव.। निषादः कस्मात्? निषदनो भवति। निषण्णमस्मिन्

* तुलना करें—तैत्तिरीयब्राह्मण—२।३।८।२।

पापकमिति नैरुक्ता । 'यत्पाञ्चजन्यया विशा' । पञ्चजनीनया विशा । पञ्च पृक्ता सख्या—स्त्रीपुनपुंसकेषु अविशिष्टा ॥

हे पाँच जनो ! मेरे यज्ञ की सेवा करो । कुछ लोगों के अनुसार गन्धर्व पितृगण, देवता, असुर और राक्षस । औपमन्यव के अनुसार चारों वर्ण और पाँचवाँ निषाद । निषाद कैसे बना ? प्राणियों के वध से जीता है या निरुक्तकारों के अनुसार उसमे पाप टिका रहता है पाँच जनों की जाति के द्वारा जब '(ऋ० ८।६३।७)। पाँच जनों से युक्त जाति (विश्) द्वारा । पञ्च पृक्त (संयुक्त या स्थिर) संख्या है क्योंकि स्त्रीलिंग पुल्लिंग तथा नपुंसकलिंग में एक समान ही रहती है ॥

बाहुनामानि उत्तराणि द्वादश (निघ० २।४)। बाहू कस्मात् ? प्रबाधते आभ्या कर्माणि । अङ्गुलिनामानि उत्तराणि द्वाविंशति (निघ० २।५)। अङ्गुलय कस्मात् ? अग्रगामिन्यो भवन्ति इति वा, अग्रगालिन्यो भवन्ति इति वा, अग्रकारिण्यो भवन्ति इति वा, अङ्कना भवन्ति इति वा, अञ्जना भवन्ति इति वा । अपि वा अभ्यञ्चनादेव स्यु । तासामेषा भवति ॥८॥

बाद के बारह नाम बाहु के हैं। बाहु कैसे ? इनसे (कोई आदमी) काम करता है। बाद के बाईस नाम अंगुलि के हैं। अंगुलियाँ कैसे ? चूंकि ये आगे जाने वाली हैं या आगे [जल] गिराने वाली हैं या आगे काम करने वाली हैं या वे चिह्न देती हैं या मुड़ती हैं (√अञ्च) या शोभा बढ़ाने के कारण हों (√अञ्ज)। उनकी यह [ऋचा] है ॥ ८ ॥

दशावनिभ्यो दशकक्ष्येभ्यो दशयोक्त्रेभ्यो दशयोजनेभ्य ।
दशाभीशुभ्यो अर्चताजरेभ्यो दश धुरो दश युक्ता वहद्भ्य ॥

(दशावनिभ्य) दस रक्षकों वाले (दशकक्ष्येभ्य) दस कमरबन्दों वाले (दशयोक्त्रेभ्य) दस जोतने की रस्सियों वाले (दशयोजनेभ्य) दस बन्धनों वाले (दशाभीशुभ्य) दस लगामों वाले (दश युक्ता) जोते जाने पर दस तथा (दश धुर) दस धुरियों को रथचक्र के मध्यभाग को—(वहद्भ्य) धारण करने वाले (अजरेभ्य) अमर व्यक्तियों की (अर्चत) अर्चना करो (ऋ० १०।९४।७) ॥

विशेष—उपर्युक्त मन्त्र मे रथ के विभिन्न अंगो के नाम आये हैं जो निघण्टु के अनुसार अंगुलियो के पर्याय है। सम्भव है, दशम-मण्डल की नैसर्गिक-शैली मे संकलित किया गया यह मन्त्र भी रहस्यात्मक हो—रथ की कल्पना (Imagery) देकर ईश्वर के विभिन्न-कर्मों का निदर्शन हो।

अवनय. अङ्गुलय. भवन्ति—अवन्ति कर्माणि। कक्ष्याः प्रकाशयन्ति कर्माणि। योक्त्राणि योजनानि इति व्याख्यातम्। अभीशव. = अभ्यश्नुवते कर्माणि। दश धुरो दश युक्ता वहद्भ्य.। धू. धूर्वते. वधकर्मणः। इयमपि इतरा धूः एतस्मादेव। विहन्ति वहम्, धारयते वा॥

अवनि का अर्थ है अंगुलियाँ क्योंकि वे काम कराती हैं (√अव्)। कक्ष्यायें (कमरबन्द, या अंगुली) कामो को प्रकाशित करती है (√काश्)। 'योक्त्र' का अभिप्राय 'बन्धन' रखा गया है। अभीशु = काम संपन्न करते हैं। जोतने पर दस, तथा दस धुरियों को धारण करने वालों को…। 'धुः' वधार्थक √धूर्व् से, यह दूसरे अर्थवाला 'धू' (जोतने का डण्डा) इसी धातु से बना है क्योंकि [वहन करने वाले प्राणी के] कन्धे को कष्ट देता है (√हन्) या [घोड़े या बैल को] धारण करता है (√धृ)॥

कान्तिकर्माण. उत्तरे धातवोऽष्टादश (निघ० २।६)। अन्न-नामानि उत्तराणि अष्टाविंशति (निघ० २।७)। अन्नं कस्मात्? आनत भूतेभ्य.। अत्तेर्वा। अत्तिकर्माण. उत्तरे धातवो दश (निघ० २।८)। बलनामानि उत्तराणि अष्टाविंशति (निघ० २।९)। बलं कस्मात्? भरं भवति, बिभर्त.। धननामानि उत्तराणि अष्टाविंशतिरेव (निघ० २।१०)। धनं कस्मात्? धिनोति इति सत.। गोनामानि उत्तराणि नव (निघ० २।११)। क्रुध्यतिकर्माण: उत्तरे धातवो दश (निघ० २।१२)। क्रोधनामान्युत्तराणि एकादश (निघ० २।१३)। गतिकर्माण: उत्तरे धातवो द्वाविंशशतम् (निघ० २।१४)। क्षिप्रनामानि उत्तराणि षड्विंशति: (निघ० २।१५)। क्षिप्रं कस्मात्? संक्षिप्तो विकर्ष.। अन्तिकनामानि

उत्तराणि एकादश (निघ० २।१६)। अन्तिक कस्मात् ? आनीतं भवति। सग्रामनामानि उत्तराणि पट्चत्वारिंशत् (निघ० २।१७)। सग्राम कस्मात् ? सङ्गमनाद् वा, सङ्गरणाद् वा। सङ्गतौ ग्रामौ इति वा। तत्र 'खले' (३८ तम) इत्येतस्य निगमा- भवन्ति ॥९॥

बाद के अठारह धातु 'इच्छा' अर्थ वाले हैं। उसके बाद अठाईस अन्न के पर्याय हैं। अन्न कैसे ? जीवों के पास लाया गया है (√नम्) या √अद् (खाना) से। बाद के दस धातु 'भोजन' अर्थ वाले हैं। बाद के अठाईस नाम बल के हैं। बल कैसे ? यह भरण पोषण करता है √भृ (धारण करना) से। बाद के अठाईस नाम धन के हैं। धन कैसे ? यह प्रसन्न करता है (√धि)। बाद के नौ नाम गो के हैं। 'क्रोध' अर्थ वाले बाद के दस धातु हैं। बाद के ग्यारह नाम क्रोध के हैं। बाद के एक सौ बीस धातु गत्यर्थक हैं। बाद के छब्बीस नाम 'शीघ्रता' (क्षिप्र) के हैं। क्षिप्र कैसे ? चूँकि बीच का अवकाश (प्रर्पं) छोटा होता है। बाद वाले ग्यारह नाम निकट के हैं। अन्तिक कैसे ? चूँकि यह पास मे लाया हुआ होता है। बाद के छियालिस नाम सग्राम के हैं। सग्राम कैसे ? एक साथ जाने से या एक साथ पुकारने से (√गृ), या एक साथ दो गाँव आते हैं। उन (नामो) मे खलें के वैदिक उद्धरण हैं ॥ ९ ॥

विशेष—यास्क की तत्परता इन पक्तियों मे स्पष्ट है। केवल नाम गिनाते चले जा रहे हैं मानो कोई वैयाकरण तद्धित पढा रहे हों। १२ सूचियो में (२।६–२।१७) केवल दो चार नामो की ही व्याख्या उन्हें अच्छी लगी। न जाने 'खले' शब्द का कहाँ से थोडा पुण्य निकल आया कि इस पर वैदिक उद्धरण ढूंढा गया ॥ ९ ॥

अभीदमेको अस्मि निष्पाळभी द्वा किमु त्रय करन्ति।
खले न पर्षान् प्रति हन्मि भूरि किं मा निन्दन्ति शत्रवोऽनिन्द्रा ॥

(एक) मैं अकेले ही (इदम्) इस शत्रु पर (अभि अस्मि) विजय पाता हूँ, (निष्पाट्) अपराजेय होकर (द्वा) दो शत्रुओं को भी (अभि) हराता हूँ। (त्रय) तीन भी (किमु) क्या (करन्ति) कर सकते हैं ? (खले) सग्राम म (पर्षान् न) पुआल क समान (भूरि) अच्छी तरह (प्रति हन्मि) दबाता हूँ। (अनिन्द्रा) इन्द्र से रहित (शत्रव) शत्रुगण (किं) क्या (मा निन्दन्ति) मेरी निन्दा कर सकते हैं ? (ऋ० १०।४८।७) ॥

अभिभवामि इदमेकम् एक। अस्मि नि पहमाण सपत्नान्।
अभिभवामि द्वौ। किं मा त्रय कुर्वन्ति ?

अकेले ही मैं इस एक (शत्रु) को परास्त करता हूँ। सभी शत्रुओं को दबाने वाला हूँ। दो को भी हराता हूँ। तीन भी मेरा क्या कर सकते हैं?

एक इता संख्या। द्वौ द्रुततरा संख्या। त्रयः तीर्णतमा संख्या। चत्वारः चलिततमा संख्या। अष्टौ अश्नोतेः। नव न वननीया, न अवाप्ता वा। दश दस्ता, दृष्टार्था वा। विंशतिः द्विर्दशतः। शतं दश दशतः। सहस्रं सहस्वत्। अयुतं प्रयुतं नियुतं तत्तद् अभ्यस्तम्। अर्बुदः मेघो भवति। अरणम् अम्बु, तद्‌। अम्बुमद् भवति इति वा। अम्बुमद् भाति वा। स यथा महान् बहुः भवति वर्षन् तदिवार्बुदम्॥

एक = गई हुई संख्या (√इ)। दो = दूर तक दौड़ने वाली संख्या (√द्रु)। त्रि = सबसे अधिक पार जाने वाली संख्या (√तॄ)। चतु = सबसे अधिक चलने वाली संख्या। अष्ट = व्याप्त करने (√अश्) से। नव = जो पाने योग्य न हो (न√वन्) या पायी हुई न हो। दश —क्षीण (√दस) या जिसका प्रयोजन [कई संख्याओं में] देखा जाय। विंशति = दो बार दश होने से। शत—दस बार दश होने से। सहस्र—बल से युक्त (संख्या)। अयुत (दस हजार), प्रयुत (एक लाख), नियुत (दस लाख)—एक के बाद एक, उसी (दस) की आवृत्ति (गुणा) करने पर बनता है। 'अर्बुद' मेघ है। अरण = जल, उसे देनेवाला। अथवा जल (अम्बु) से युक्त होने के कारण। या जल के समान प्रतीत होता है। वह (मेघ) जैसे वर्षा करने के समय बड़ा समूह बन जाता है वैसे ही अर्बुद (एक करोड़) की संख्या भी॥

विशेष—इन संख्याओं पर यास्क ने व्यर्थ अपनी कल्पनाशक्ति का दुरुपयोग किया जिसके कारण वे हास्यास्पद हो जाते हैं। वस्तुतः भारत-यूरोपीय सभी भाषाओं में कम से कम दस तक की संख्यायें इसी रूप में हैं। हाँ, अपनी ध्वनि सबों की है—

संस्कृत	अवेस्ता	ग्रीक	लैटिन	ऐं० सं०	अंग्रेजी
एक	अएव	eis	unus	ān	one
द्वि	द्व	duo	duo	twā (tu)	two
त्रि	थ्रि	treis	tres	threō	three
चतुर्	च्थ्वर्	tettares	qoattuor	feoer	four

पञ्चन्	पचन्	penta	quinque	fif	five
षट	क्ष्वश्	hex	sex	six	six
सप्तन	हप्तन्	hepta	septem	seofon	seven
अष्टन	अश्तन्	okto	octo	eahta	eight
नवन्	नवन्	ennea	novem	nigon	nine
दशन	दसन	deka	decem	tyn	ten

सहस्र की व्युत्पत्ति यास्क ने बिल्कुल ठीक की है (देखिए भूमिका)। इन संख्याओं का उल्लेख निम्नलिखित उद्धरणों में देखें—

एका च दश च। दश च शत च। शतं च सहस्रं च। सहस्रं चायुतं च। अयुतं च प्रयुतं च। प्रयुतं च नियुतं च। नियुतं चार्बुदं च। अर्बुदं च समुद्रश्च। मध्यं च अन्तश्च परार्धश्च। (काठक सं० १७।१०)

एका च शतं च सहस्रं च अयुतं च नियुतं च प्रयुतं च अर्बुदं च न्यर्बुदं च समुद्रश्च मध्यं च अन्तश्च परार्धश्च (तै० सं० ४।४।११)

इस प्रकार बहुत प्राचीन काल से ही भारत में संख्या (विशेषतया दाशमिक प्रणाली) का प्रचलन था क्योंकि ये संख्यायें एक दूसरी से दसगुणी हैं।।

'खले न पर्षान्प्रति हन्मि भूरि। खले इव पर्षान् प्रतिहन्मि भूरि। खल इति संग्रामनाम। खलने वा स्खलने वा। अय- मपीतरः खल एतस्मादेव। समास्कन्नः भवति। किं मा निन्दन्ति शत्रवोऽनिन्द्राः'। ये इन्द्रं न विदुः। इन्द्रो हि अहमस्मि, अनिन्द्रा इतरे इति वा॥

संग्राम में पुआल के समान अच्छी तरह दबाता हूँ २। खल = संग्राम √ स्खल् (गिरना) से या √स्खल् (मारना) से। यह दूसरे अर्थवाला खल (खलिहान) भी इसी से बना है क्योंकि [बिखरे अन्नों से] भरा हुआ होता है। क्या इन्द्ररहित शत्रु मेरी निन्दा कर सकते हैं? [इन्द्ररहित =] जो इन्द्र को नहीं जानते। अथवा मैं इन्द्र हूँ और दूसरे अनिन्द्र हैं—यह अर्थ भी हो सकता है॥

विशेष—ऋचा की व्याख्या के बीच में संख्या की विवेचना कर देने से व्याख्यान दुष्कर यहाँ बन्द आया है।

व्याप्तिकर्माण. उत्तरे धातवो दश (निघ० २।१८)। तत्र द्वे नामनी । आक्षाण. आश्नुवानः । आपान. आप्नुवानः । वध कर्माणः उत्तरे धातव. त्रयस्त्रिंशत् (निघ० २।१९)। तत्र 'वियात.' इत्येतद् वियातयते इति वा, वियातय इति वा। 'आखण्डल प्रहूयसे'। आखण्डयित.। 'तडित्' इति अन्तिकवधयो. संसृष्टकर्म, ताडयतीति सत. ॥ १० ॥

बाद के दस घातु 'व्याप्त करना' अर्थ वाले हैं। इनमे दो नाम (सज्ञा, क्रिया नहीं) हैं—आक्षाण—व्याप्त करने वाला। आपान—पाने वाला। बाद के तैंतीस घातु वधार्थक हैं। उनमे 'वियात' या तो 'वह दबाता है' इससे, या 'दबाओ' (लोट्) इससे बना है। 'हे टुकडा करने वाले ! तुम्हे बुलाया जाता है' (ऋ० ८।१७।१२, साम० २।७६, अथर्व० २०।५।६)। हे खण्ड (टुकडा) करने वाले। 'तडित्' निकट और वध का सम्मिलित अर्थ रखता है, क्योंकि यह मारता है ॥ १० ॥

त्वया वयं सुवृधा ब्रह्मणस्पते स्पार्हा वसु मनुष्या ददीमहि।
या नो दूरे तडितो या अरातयोऽभि सन्ति जम्भया ता अनप्नस.॥

(ब्रह्मणस्पते) हे स्तुतियो के स्वामी ! (त्वया सुवृधा) आप-जैसे प्रगति प्रदान करने वाले के द्वारा (वय मनुष्या.) हम मानवगण (स्पार्हा) स्पृहा या इच्छा करने के योग्य (वसु) धनो को (ददीमहि) पायें; (या अरातय) जो शत्रु या कृपण लोग (नो दूरे) हमसे दूर (या तडित.) और जो निकट (अभिसन्ति) हैं (ता अनप्नस) उन रूपहीन = न देखने योग्य [शत्रुओ को] (जम्भय) दबाओ। (ऋ० २।२३।९)॥

त्वया वयं सुवर्धयित्रा ब्रह्मणस्पते ! स्पृहणीयानि वसूनि मनुष्येभ्य. आददीमहि। याश्च दूरे तडितो याश्च अन्तिके। आरातय. = अदानकर्माणो वा, अदानप्रज्ञा. वा। जम्भय ताः अनप्नस.। अप्नः इति रूपनाम। आप्नोति इति सत.। विद्युत् तडिद् भवतीति शाकपूणिः। सा हि अवताडयति। दूराच्च दृश्यते। अपि तु इदम् अन्तिकनाम एवाभिप्रेतं स्यात्। 'दूरे चित्सन्तळिदिवाति रोचसे'। दूरेऽपि सन् अन्तिके इव सन् दृश्यसे इति ॥

हे स्तुतियों के स्वामी ! आप—जैसे बुद्धि देनेवाले के द्वारा, हम स्पर्द्धा के योग्य धन मनुष्यों से पायें। जो शत्रु दूर हैं जो और निकट हैं। अराति-दानियों को दान से रोकनेवाले, या (स्वय) दान देने की बुद्धि न रखने वाले। इन्हें दबाकर रूपरहित कर दो। 'अप्नस' रूप का पर्याय है, क्योंकि यह पाता है (√आप = किसी पर ठहरना)। बिजली को भी तडित् कहते हैं—ऐसा शाकपूणि का मत है, क्योंकि वह चोरती है और दूर से ही दिखलाई पडती है। अथवा यह 'निकट' के ही पर्यायरूप में इष्ट हो। 'दूर होने पर भी मानों निकट के समान चमकते हो' (ऋ० १।९४।७) अर्थात् दूर हो, फिर निकट होने के समान दिखलाई पडते हो ॥

वज्रनामानि उत्तराणि अष्टादश (निघ० २।२०)। वज्र कस्मात् ? वर्जयतीति सत.। तत्र कुत्स. इत्येतत् कृन्तते। ऋषि कुत्सो भवति—कर्त्ता स्तोमानामिति औपमन्यव.। अनाप्यस्य वधकर्मैव भवति। तत्सख इन्द्र शुष्ण जघानेति। ऐश्वर्यकर्माण. उत्तरे धातवश्चत्वार (निघ० २।२१) ईश्वरनामानि उत्तराणि चत्वारि (निघ० २।२२)। तत्र इन इत्येतत् सनित ऐश्वर्येण इति वा, सनितम् अनेन ऐश्वर्यम् इति वा ॥ ११ ॥

इसके बाद अठारह वज्र के नाम हैं। वज्र कैसे ? चूंकि यह [प्राणियों को जीवन से] अलग करता है (√वृज)। उन नामों में 'कुत्स' √कृत् (काटना) से बना है। 'कुत्स एक ऋषि का भी नाम है, स्तोत्रों का कर्ता (बनाने वाला)—ऐसा औपमन्यव कहते हैं। इसमें भी इनका 'वध' अर्थ ही होता है क्योंकि उनके मित्र इन्द्र सूखा (अकाल, अनावृष्टि) का नाश करते है। बाद के चार धातु ऐश्वर्य (उन्नति) अर्थ वाले हैं। उसके बाद चार ईश्वर (अधिकारी) के नाम हैं। उन (नामों) में 'इन' [का अर्थ है] जो उन्नति से भरा हो या जिसने [दूसरे में] उन्नति भर दी है ॥ ११ ॥

यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेष विदथाभिस्वरन्ति।
इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपा स मा धीर. पाकमत्रा विवेश ॥

*(यत्र) जहाँ (सुपर्णा) सुन्दर पङ्खवाले (अनिमेषम्) बिना रुके हुए—*पलक बिना गिराए (विदथा) स्तुति के द्वारा (अमृतस्य भागम्) जल या अमृत के हिस्से को (अभि स्वरन्ति) बुलाते हैं; (इन) जो स्वामी (विश्वस्य भुवनस्य) समूचे ससार का (गोपा) रक्षक है, (स) वह (धीर)

तृतीय-पाद

बहूनामानि उत्तराणि द्वादश (३।१)। बहु कस्मात् ? प्रभवतीति सत.। ह्रस्वनामानि उत्तराणि एकादश (३।२)। ह्रस्वो ह्रसते.। महन्नामानि उत्तराणि पञ्चविंशति. (३।३)। महान् कस्मात् ? मानेन अन्यान् जहाति इति शाकपूणि.। मंहनीयो भवतीति वा। तत्र 'ववक्षिथ 'विवक्षसे' इत्येते—वक्तेर्वा, वहतेर्वा साभ्यासात्। गृहनामानि उत्तराणि द्वाविंशति. (३।४)। गृहा. कस्मात् ? गृह्णन्ति इति सताम्। परिचरणकर्माण. उत्तरे धातवो दश (३।५)। सुखनामानि उत्तराणि विंशति. (३।६)। सुखं कस्मात् ? सु हित खेभ्य.। खं पुन. खनते.। रूपनामानि उत्तराणि षोडश (३।७)। रूप रोचते.॥

इसके बाद बारह 'बहु' के पर्याय हैं। 'बहु' कैसे ? चूंकि अधिक परिमाण में उत्पन्न होता है। बाद ये बारह नाम 'ह्रस्व' के है। ह्रस्व √ह्रस् (घटना) से। बाद के पचीस पर्याय 'महत्' (बड़ा) के हैं। 'महान' कैसे ? शाकपूणि कहते हैं कि जो अभिमान के कारण दूसरों को छोड देता है (मान + √हा)। या आदरणीय होता है (√मह्)। उनमे 'ववक्षिय' और 'विवक्षसे' ये दो शब्द हैं जो √वच् (बोलना) या √वह (ढोना) से अभ्यास (द्वित्व) करके बने हैं। बाद के बाईस नाम 'गृह' के हैं। 'गृह' कैसे ? चूंकि ये सबों को पकड़ते हैं। बाद के दस धातु 'सेवा' (परिचर्या) अर्थ वाले हैं। बाद के बीस सुख के पर्याय हैं। 'सुख' कैसे ? चूंकि इन्द्रियों के लिए (ख) लाभ दायक है। 'ख' तो √खन् (खोदना) से बना है। रूप के सोलह पर्याय बाद में हैं। 'रूप' √रुच् (चमकना) से।

प्रशस्यनामानि उत्तराणि दश (३।८)। प्रज्ञानामानि उत्तराणि एकादश (३।९) सत्यनामानि उत्तराणि षट् (३।१०)। सत्यं कस्मात् ? सत्सु तायते, सत्प्रभवं भवति इति वा। अष्टौ उत्तराणि पदानि (३।११) पश्यति कर्माणो धातव, चायतिप्रभृतीनि च नामानि आमिश्राणि। नवोत्तराणि पदानि (३।१२) सर्वपदसमाम्नानाय। अथात. उपमा.। 'यत्

अतत् तत्सदृशम्' इति गार्ग्य.। तदासां कर्म ज्यायसा वा गुणेन प्रख्याततमेन वा कनीयांसं वा अप्रख्यातं वा उपमिमीते। अथापि कनीयसा ज्यायासम् ॥ १३ ॥

बाद के दस 'प्रशसनीय' के पर्याय हैं। बाद के ग्यारह पर्याय बुद्धि के हैं। बाद के छह पर्याय सत्य के हैं। 'सत्य' कैसे ? यह अच्छे लोगो मे फैलता है या अच्छे लोगो से उत्पन्न होता है। बाद के आठ पद 'देखना' अर्थवाले धातु हैं और 'चायति' आदि (धातु) नाम (सज्ञा) मे मिले हुए हैं। बाद के नौ पद सभी प्रकार के पदो के सकलन के लिए हैं।

अब इसलिए उपमायें [कही जाती हैं]। गार्ग्य का कहना है कि जब [एक वस्तु] दूसरी वस्तु से भिन्न हो किन्तु थोडा सादृश्य रहे [तब उपमा होती है]। तब, इनका यह काम है कि किसी बडे गुण के द्वारा या प्रसिद्ध गुण के द्वारा किसी छोटी या अप्रसिद्ध वस्तु की उपमा दी जाय। इसके अलावे छोटी वस्तु के द्वारा भी बडी वस्तु को [उपमा दी जाती है] ॥ १३ ॥

विशेष—अलङ्कारो के इतिहास के अध्ययन मे यह स्थल बहुत सहायक है। यास्क ने उपमा की बिलकुल ठीक परिभाषा उद्धृत की है। उपमा मे दो भिन्न पदार्थों की तुलना किसी एक समान गुण को ही लेकर की जाती है। तुलना करें-

(१) साम्यं वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्य उपमा द्वयोः (साहित्यदर्पण १०)।

(२) A simile consists in giving formal expression to the *likeness* said to exist between two *different* objects or events (J C Nesfield, *English Grammar*, P. 393) इस प्रकार उपमा की परिभाषा प्राच्य और पाश्चात्य दोनो देशो मे समान आधार पर ही दी गई है ॥ १३ ॥

तनूत्यजेव तस्करा वनर्गू रशनाभिर्दशभिरभ्यधीताम्।

(वनर्गू) वन जानेवाले तथा ('तनूत्यजा) शरीर की बाजी लगाने वाले (तस्करा इव) दो चोरो के समान (दशभिः) दस (रशनाभि) रस्सियों या अँगुलियो से (अभ्यधीताम्) सुरक्षित किया है (ऋ० १०।४।६) ॥

तनूत्यक् = तनूत्यक्ता। वनर्गू = वनगामिनौ। अग्निमन्थनौ बाहू तस्कराभ्याम् उपमिमीते। तस्कर.—तत्करोति यत्पापकमिति नैरुक्ता.। तनोतेर्वा स्यात्। सन्ततकर्मा भवति। अहोरात्रकर्मा वा। 'रशनाभिर्दशभिरभ्यधीताम्'। अभ्यधाताम्। ज्यायास्तत्र गुणोऽभिप्रेत. ॥ १४ ॥

तनूत्यक् = शरीर को छोड़ने वाले (प्राणों की बाजी लगाने वाले)। वनर्गु = वन जाने वाले। ऐसे तस्करों से अग्निमन्थन करनेवाले बाहु की तुलना की गई है। तस्कर, जो पाप है उसे ही करता है—यह निरुक्तकारों का कथन है। या √तन् (फैलना) से बना हो क्योंकि इसके काम कई तरह के होते हैं या दिन-रात दोनो ही समय काम करता है। दस अँगुलियां से सुरक्षित किया है—[सुरक्षापूर्ण स्थान में] रख दिया है। इस तरह अधिक गुण का कथन है ॥ १४ ॥

विशेष—इसमे अधिकगुणवाले की उपमा छोटी चीज से दी गई है। अग्नि उत्पन्न करने वाले दोनों हाथ पवित्र हैं जिनकी तुलना चोरों से की गई है। यद्यपि दोनो मे बहुत भेद है फिर भी सादृश्य है कि जैसे चोर वन मे अपने अधीन पथिक को बाँधकर रख देते हैं वैसे ही दोनो हाथ भी दो लकड़ियों को बाँधकर अग्नि उत्पन्न करते हैं ॥ १४ ॥

कुह स्विद्दोषा कुह वस्तोरश्विना कुहाभिपित्वं करतः कुहोषतु.।
को वा शयुत्रा विधवेव देवरं मर्यं न योषा कृणुते सधस्थ आ ॥

(अश्विना) हे दोनों अश्विन् ! (दोषा) रात मे (कुह स्विद्) कहाँ थे, (वस्तो) दिन मे (कुह) कहाँ थे ! (अभिपित्वं) अपने आवश्यक कार्य जैसे स्नान-भोजनादि (कुह) कहाँ (करतः) आपने किया ? (कुह ऊषतु') कहाँ ठहरे थे ? (सधस्थ आ) निवास-स्थान मे (वा) तुम दोनों को (शयुत्रा) शय्या पर (कः) कौन (कृणुते) ले जाता है ? (देवर विधवा इव) जैसे देवर को विधवा या (मर्यं योषा न) मनुष्य को पत्नी [शय्या पर ले जाती है] (ऋ० १०।४०।२) ॥

क्व स्वित् रात्री भवथः ? क्व दिवा ? क्व अभिप्राप्ति कुरुथ. ? क्व वसथ. ? को वा शयने विधवेव देवरम् (देवरः कस्मात् ? द्वितीयो वर उच्यते)। विधवा विधातृका भवति। विधवनाद् वा विधावनाद् वा इति चर्मशिरा.। अपि वा, 'धव.' इति मनुष्यनाम। तद्वियोगात् विधवा। देवरो दीव्यतिकर्मा। मर्यो मनुष्य. मरणधर्मा। योषा यौतेः। आकुरुते सहस्थाने ॥

रात मे कहाँ रहे ? दिन मे कहाँ ? अपने नित्यकर्म कहाँ किया ? कहाँ रहते है ? देवर को विधवा के समान, आप दोनों को शय्या पर कौन.......? (देवर क्यों ? यह दूसरा वर कहलाता है।) विधवा संरक्षक से रहित

(वि√धा) होती है अथवा काँपने के कारण (वि√धू) चर्मशिरा के अनुसार [दौड़ने के कारण (वि√धाव्)। अथवा 'धव' = मनुष्य, उससे वियुक्त होने के कारण विधवा। देवर = खेलने वाला। मर्य = मनुष्य जिसका धर्म (लक्षण) मरना है। योषा (स्त्री) √यु (जोड़ना) से। निवास-स्थान मे रखता है]॥

विशेष—कोष्ठांकित खण्ड निश्चित रूप से प्रक्षेप है क्योंकि 'देवर' शब्द की दो व्युत्पत्तियों का पृथक् होना असंगत है। दुर्ग भी इसकी व्याख्या नहीं करते। विधवा, देवर, मर्य और योषा का निर्वचन यास्क ने क्रम से दिया है, फिर उतना पहले देवर का चला जाना असम्भव प्रतीत होता है। 'विधवा' को वि + धवा मानना लौकिक व्युत्पत्ति (Folk Etymology) का द्योतक है। वस्तुत यह शब्द अपने इसी रूप मे अन्य समान भाषाओं मे है—ग्रीक eitheos, लैटिन Viduo, Viduus, जर्मन Wittwe ऍ० सै० (O E) Widwe, अंग्रेजी Widow 'धव' पृथक कोई शब्द नहीं था किन्तु इसी व्युत्पत्ति से एक नया शब्द बन गया। इसकी पुष्टि मे 'माधव' (मा = लक्ष्मी का धव = पति) मिल गया जो वस्तुत मधु' से निष्पन्न रूप था। तभी अमरकोश मे 'धव प्रिय पति भर्ता' (२।६।३५) तथा 'पति शाखि नरा धवा' (३।३।२०७) मिलते है। विधवा के काँपने का अर्थ है पति की मृत्यु के बाद, उसका संरक्षकहीन होने पर दौड़ना भी स्वाभाविक है।

अथ निपाता (३।१३)। पुरस्तादेव व्याख्याता (१।४-११)
यथेति कर्मोपमा—

'यथा वातो यथा वन यथा समुद्र एजति।'

'भ्राजन्तो अग्नयो यथा।'

'आत्मा यक्ष्मस्य नश्यति पुरा जीवगृभो यथा।'

आत्मा अततेर्वा, आप्तेर्वा। अपि वा, आप्त इव स्याद् यावद् व्याप्तिभूत.।

'अग्निर्न ये भ्राजसा रुक्मवक्षस।'

अग्निरिव ये भ्राजस्वन्तो रुक्मवक्षस.॥ १५॥

अब निपातों का वर्णन है किन्तु इनकी व्याख्या पहले ही हो चुकी है (निरुक्त १।४-११)। 'यथा' से कर्म की उपमा [समझी जाती है] जैसे—'जैसे वायु, जैसे वन, जैसे समुद्र हिलते है' (ऋ० ५।७८।८), 'जैसे चमकने-

वाली अग्नि' (ऋ० १।५०।३); क्षयरोग की आत्मा (जीवन) पहले ही समाप्त हो जाती है जैसे पकड़े गये प्राणी का [जीवन बिना मारे ही समाप्त हो जाता है]' (ऋ० १०।९७।११)। 'आत्मा' √अत् (चलना) से या √आप् (पाना) से। अथवा इसे 'आप्त' (पाया हुआ) इसलिए कहा जाय कि यह व्यापक है। 'स्वर्ण के समान छाती वाले वे (सभी) चमक के कारण अग्नि के समान हैं' (ऋ० १०।७८।२)। वे जो अग्नि के समान चमकनेवाले तथा सोने की छातीवाले (मरुद्गण) हैं ॥ १५ ॥

चतुरश्चिद्ददमानाद्बिभीयादा निधातोः ।
न दुरुक्ताय स्पृहयेत् ॥

(आ निधातोः) जब तक वह [पासों को] न रखे तबतक (चतुर॰) चार [पासों] को (ददमानात्) धारण करनेवाले व्यक्ति से (चित्) जैसे (बिभीयात्) डरना चाहिये, (दुरुक्ताय) कठोर भाषण की (न स्पृहयेत्) इच्छा नहीं करनी चाहिये। (ऋ० १।४१।९) ॥

चतुरोऽक्षान् धारयतः इति तद्यथा कितवात् बिभीयात्, एवमेव दुरुक्ताद् बिभीयात्। न दुरुक्ताय स्पृहयेत् कदाचित् ॥ 'आ' इत्याकारः उपसर्गः पुरस्तादेव व्याख्यातः (नि० १।३)। अथापि उपमार्थे दृश्यते—'जार आ भगम्'। जार इव भगम्। आदित्योऽत्र जार उच्यते, रात्रेर्जरयिता। स एव भासाम्। तथापि निगमो भवति—'स्वसुर्जारः शृणोतु नः' इति। उपसमस्य स्वसारमाह, साहचर्यात् रसहरणाद्वा। अपि त्वयं मनुष्यजारः एवाभिप्रेतः स्यात्। स्त्रीभगः तथा स्यात्, भजतेः ॥

जिस प्रकार चार पासों को धारण करनेवाले जुआड़ी (कितव) से डरते हैं, वैसे ही कटु वाणी से डरें। कटु वाक्य [बोलने के लिए] कभी उत्सुक न हो।

'आ' उपसर्ग की व्याख्या पहले ही हो चुकी है।। इसे उपमा के अर्थ में भी देखते हैं—'जैसे भोक्ता अपनी भोगवस्तु पर''''' (ऋ० १०।११।६)। अपनी भोग-वस्तु [पर जाने वाले] भोक्ता के समान। यहाँ आदित्य ही भोक्ता (जार) है, रात्रि का भोक्ता; वही प्रकाश का भी [भोक्ता] है। ऐसे वैदिक उदाहरण भी हैं—'बहन का भोक्ता हमारी (प्रार्थना) सुने'

(ऋ० ६।५५।५)। ऊषा को इसकी बहन कहा है, साथ चलने के कारण, या रस लेने के कारण। अथवा यह मानव-प्रेमी ही कहा गया हो, उस दशा मे स्त्री का उपभोग समझा जाय,√भज् (उपभोग करना) से [भग बना है] ॥

मेषः इति भूतोपमा । 'मेषो भूतोऽभि यन्नय.' । मेषो मिषते., तथा पशु. पश्यते । अग्निरिति रूपोपमा ।

'हिरण्यरूप. स हिरण्यसदृगपान्नपात्सेदु हिरण्यवर्णः ।'

हिरण्यवर्णस्येवास्य रूपम् । 'था' इति च (निघ० ३।१३।१२) 'त प्रत्नथा पूर्वथा विश्वथेमथा' प्रत्ने। इव, पूर्वे इव, विश्वे इव, इमे इव इति । 'अयम्' एततरोऽमुष्मात् । 'असौ' अस्ततर. अस्मात् । अमुथा = यथा असो इति व्याख्यातम्। वत् इति सिद्धोपमा । ब्राह्मणवत्, वृषलवत्=ब्राह्मणा इव, वृषला इव इति ॥ १६ ॥

मेष (भेंड) इत्यादि मे भूत (रूप परिवर्तन) की उपमा है—'भेंड का रूप बनाकर तुम आये हो' (ऋ० ८।२।४०)। मेष√मिष् (पलक गिराना) से, उसी प्रकार पशु√पश् (देखना) से। अग्नि इत्यादि मे रूप (आकार) की उपमा है—'सोने के आकार का सोने के समान चमकनेवाला तथा सोने के रंग का, जल का पुत्र बैठा है' (ऋ० २।३५।१०)। सोने के समान उसका रूप है। 'था' भी [उपमा दिखाने के लिए आता है]—प्राचीन के समान, पहले के समान, सबके समान तथा इनके समान उसे [दुहते हो]' (ऋ० ५।४४।१)। प्राचीनो-सा, पहले वालो सा, सबो-सा, इन (यजमानो)-सा। 'अयम्' (यह) = जो उससे निकटतर (√इ) है। 'असौ' (वह) = जो इससे दूरतर (√अस्) है। अमुथा = जैसा वह—इसकी व्याख्या होती है। 'वत् सिद्ध (पूरे काम) की उपमा है—ब्राह्मणवत्, वृषलवत् = ब्राह्मण-सा, निन्दनीय व्यक्ति-सा ॥ १६ ॥

विशेष—यास्क अपनी धुन मे 'असौ' और 'अयम्' जैसे सर्वनामों का भी निर्वचन करने से नहीं चूकते। सिद्ध का मतलब है कार्यसिद्धि जैसे वह ब्राह्मण के समान पढता है।

प्रियमेधवदत्रिवज्जातवेदो विरूपवत् ।
अङ्गिरस्वन्महिव्रत प्रस्कण्वस्य श्रुधी हवम् ॥

(महिव्रत) 'हे बडे नियमो वाले ! (जातवेद) सभी जीव तुम्हारी सम्पत्ति के रूप मे हैं, प्रियमेध के समान, अत्रि के समान, विरूप के समान

तथा अंगिरा के समान, प्रस्कण्व-ऋषि की (हवम्) प्रार्थना (श्रुधी) सुनो (ऋ० १।४५।३) ॥

प्रियमेध.—प्रिया. अस्य मेधा.। यथैतेषाम् ऋषीणाम्। प्रस्कण्वस्य शृणु ह्वानम्। प्रस्कण्व –कण्वस्य पुत्र, कण्वप्रभव। यथा प्राग्रम्। अर्चिषि भृगु. सम्बभूव। भृगु भृज्यमानो न देहे। अङ्गारेषु अङ्गिरा.। अङ्गारा. अङ्कना.। 'अत्रैव तृतीयम् ऋच्छत' इत्यूचु.। तस्मात् अत्रिः। न त्रय. इति। विखननात् वैखानसः। भरणात् भरद्वाज। विरूप =नानारूप.। महिव्रत =महाव्रतः इति ॥१७॥

प्रियमेध=जिसे यज्ञ प्रिय है। जैसे इन ऋषियों की [प्रार्थना सुनी], वैसे ही प्रस्कण्व की प्रार्थना सुनो। प्रस्कण्व=कण्व का पुत्र, कण्व से उत्पन्न (प्रभव+कण्व)। जैसे 'प्राग्र' बनता है (प्र+अग्र)। भृगु ज्वालाओं से निकले। भृगु—भूजे जाने पर भी (√भृज्) जो न जले। अंगारों से अंगिरा [निकले]। अंगार=अंक (चिह्न) देने वाले। उन्होंने कहा—'तीसरे व्यक्ति को यहीं खोजो', इसी से 'अत्रि' (अत्र+तृतीय) बना। अथवा जो तीन नहीं है (अ+त्रि)। अच्छी तरह खोदने के कारण 'वैखानस'। भरण (पालन, √भृ) करने से 'भरद्वाज'। विरूप=कई प्रकार का। महिव्रत=बड़े व्रतों वाला ॥ १७ ॥

चतुर्थ-पाद

अथ लुप्तोपमानि अर्थोपमानि इत्याचक्षते। सिंह. व्याघ्रः इति पूजायाम्। श्वा काक. इति कुत्सायाम्। काक इति शब्दानुकृतिः। तदिदं शकुनिषु बहुलम्। न शब्दानुकृति विद्यते—इत्यौपमन्यव। काक अपकालयितव्यो भवति। तित्तिरि तरणात्। तिलमात्रचित्र. इति वा। कपिञ्जल कपिरिव जीर्ण., कपिरिव जवते। ईषत्पिङ्गलो वा। कमनीय शब्द पिञ्जयति इति वा। श्वाऽऽशुयायी, शवते. वा स्यात् गतिकर्मण। श्वसितेर्वा। सिंह. सहनात्, हिंसेर्वा विपरीतस्य। सम्पूर्वस्य वा हन्ते। सहाय हन्ति इति वा। व्याघ्रः व्याघ्राणात्। व्यादाय हन्ति इति वा ॥ १८ ॥

अब उन (पदों) का वर्णन करते हैं जिनके अर्थ से उपमा दी जाती है तथा जिनमें उपमा के वाचक (जैसे इव, यथा, वत् आदि) लुप्त रहते हैं। सम्मान के अर्थ में सिंह, व्याघ्र से [उपमा दी जाती है]। कुत्ता, कौआ से निन्दा के अर्थ में। 'काक' यह [कौए के] शब्द का अनुकरण है। यह विधि पक्षियों [के नाम देने में] बहुधा देखी जाती है। औपमन्यव का सिद्धान्त है कि शब्दानुकरण (Onomatopoeia) होता ही नहीं इसलिए काक वह है जो भगाने के लायक हो (√कल्); 'तित्तिर' फुदकने के कारण (√तॄ), अथवा जिसमें तिल के आकार के ही चित्र (छाप) बने हों। 'कपिञ्जल' (francolin partridge) कपि के समान जीर्ण (बर्बाद), या बन्दर जैसा तेज दौड़ता है (√जव), या थोड़ा भूरा होता है, या कमनीय शब्द बोलता है। कुत्ता (श्वा)—तेज चलने वाला (आशु√या), या गत्यर्थक√ शव् से, या साँस लेने से। 'सिंह' दमनशक्ति के कारण (√सह्) या√हिंस् (मारना) उलट करके बना हो। या सम्-पूर्वक√हन् से या जमा करके मारता है। 'व्याघ्र' सूँघने के कारण (वि आ√घ्रा) या अलग करके मारता है॥

विशेष—अब तक उपमा के उन भेदों से यास्क भिड़े थे जिनमें वाचक शब्द रहते हैं, अब ये लुप्तवाचक पदों का वर्णन कर रहे हैं। शब्दों की उत्पत्ति में शब्दानुकरण का बहुत बड़ा हाथ है इसमें कोई सन्देह नहीं। यास्क को यह मालूम था किन्तु उस सिद्धान्त का भी खण्डन करने वाले औपमन्यव हैं जो पक्के नैरुक्त हैं। तुलना करें—मैक्समूलर का शब्दानुकरण सिद्धान्त। √शव्—तुल० 'शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाष्यते, विकारमस्यार्येषु शव इति।' (नि० २।२)। 'सिंह' पर पाणिनि-मत है—

> भवेद्वर्णागमाद्धंसो सिंहो वर्णविपर्ययात्।
> गूढोत्मा वर्णविकृतेर्वर्णनाशात्पृषोदरम्॥

अर्चतिकर्माण. उत्तरे धातव चतुश्चत्वारिंशत् (३।१४)। मेधाविनामानि उत्तराणि चतुर्विंशति (३।१५)। मेधावी कस्मात्? मेधया तद्वान् भवति। मेधा मतौ धीयते। स्तोतृनामानि उत्तराणि त्रयोदश (३।१६)। यज्ञनामानि उत्तराणि पञ्चदश (३।१७)। यज्ञ. कस्मात्? प्रख्यात यजतिकर्म इति नैरुक्ता.। याच्ञो भवति इति वा। यजुरुन्नो भवति इति वा। बहुकृष्णाजिन. इत्यौपमन्यव.। यजूंषि एनं नयन्ति इति वा। ऋत्विङ्नामानि उत्तराणि अष्टौ

(३।१८)। ऋत्विक् कस्मात्? ईरण। ऋग्यष्टा भवति इति शाकपूणि। ऋतुयाजी भवतीति वा।

बाद के चौआलीस धातु पूजार्थक हैं। बाद के चौबीस, मेधावी के पर्याय हैं। मेधावी कैसे? चूँकि उस मेधा से युक्त होता है। मेधा = जिसे बुद्धि मे धारण करें। बाद के तेरह नाम स्तोता के हैं। बाद के पन्द्रह नाम यज्ञ के हैं। यज्ञ कैसे? निरुक्तकार कहते हैं कि यह विख्यात पूजा का काम है। अथवा [देवता] इसको याचना करते हैं, अथवा यजु के मन्त्रों से छिड़का जाता है। औपमन्यव के अनुसार—बहुत से काले मृगचर्मों वाला। अथवा यजु के मन्त्र इसका निर्देशन करते हैं। बाद के आठ नाम ऋत्विक् के हैं। ऋत्विक् कैसे? [यज्ञ का] बढ़ाने वाला। शाकपूणि के अनुसार यह ऋग्वेद के द्वारा यज्ञ कराता है। अथवा उचित समय पर यज्ञ कराता है।

याच्ञाकर्माण उत्तरे धातव सप्तदश (३।१९)। दानकर्माण उत्तरे धातवो दश (३।२०) अध्येषणाकर्माण उत्तरे धातवश्चत्वार (३।२१)। स्वपितिसस्तीति द्वौ स्वपितिकर्माणो (३।२२)। कूपनामानि उत्तराणि चतुर्दश (३।२३)। कूप कस्मात्? कुपान भवति। कुप्यते वा। स्तेननामानि उत्तराणि चतुर्दश एव (३।२४)। स्तेन कस्मात्? सस्त्यानमस्मिन् पापकमिति नैरुक्ता। निर्णीतान्तर्हितनामधेयानि उत्तराणि पट् (३।२५)। दूरनामानि उत्तराणि पञ्च (३।२६) दूर कस्मात्? द्रुत भवति। दुरय वा। पुराणनामानि उत्तराणि पट् (३।२७)। पुराण कस्मात्? पुरा नव भवति। नवनामानि उत्तराणि पडेव (३।२८)। नव कस्मात्? आनीत भवति ॥ १९ ॥

बाद के सत्रह धातु 'माँगना' अर्थ वाले हैं। 'देना' अर्थवाले बाद के दस धातु हैं। बाद के चार धातु विनम्र प्रार्थना (entreaty) अर्थ वाले हैं। 'सोना' अर्थवाले दो धातु 'स्वपिति' और 'सस्ति' हैं। बाद के चौदह नाम कूप के हैं। कूप कैसे? इससे पानी पीना कठिन है (कु + √पा) या √कुप् (क्रोध करना) से। बाद के चौदह ही नाम चोर के हैं। स्तेन कैसे? निरुक्तकारों के अनुसार इसमे पाप ठहरता है। बाद के छह नाम निश्चित किये गये तथा छिपे हुए के हैं। बाद के पर्याय दूर के हैं। दूर कैसे? चूँकि यह

खीचा हुआ है (√दृ) या जहाँ पहुँचना कठिन है (दर् √इ) बाद के छह नाम पुराण (प्राचीन) के हैं। पुराण कैसे ? पहले नया था। बाद के छह ही नाम नवीन के हैं। नव कैसे ? चूँकि तुरत का लाया हुआ है ॥ १९ ॥

द्विश नामानि उत्तराणि (३।२९)। प्रपित्वे—अभीके इत्यासन्नस्य। प्रपित्वे=प्राप्ते, अभीके=अभ्यक्ते।

'आपित्वे न प्रपित्वे तूयमागहि', 'अभीके चिदु लोककृत्' इत्यपि निगमौ भवत ॥ दभ्रम्—अर्भकम् इत्यल्पस्य। दभ्र दभ्नोते।

सुदम्भ भवति। अर्भकम् अवहृत भवति।

'उपाप मे परामृश मा मे दभ्राणि मन्यथा',

'नमो महद्भ्यो नमो अर्भकेभ्य' इत्यपि निगमौ भवत ॥ तिर —सत इति प्राप्तस्य। तिर तीर्ण भवति, सत सगृत भवति।

'तिरश्चिदर्यया परि वर्तिर्यातमदाभ्या', 'पाथेव भिन्दन्त्सत एति रक्षस' इत्यपि निगमौ भवत ॥

हरतेः विपरीतात्, धारयतेः वा स्यात्। उद्धृतं भवति। ऋघ्नोतेः वा स्यात्। ऋद्धतमो विभागः।

'पीयंति त्वो अनु त्वो गृणाति', 'नेमे देवा नेमेऽसुराः'—इत्यपि निगमौ भवतः॥ ऋक्षाः—स्तृभिः इति नक्षत्राणाम्। नक्षत्राणि नक्षतेः गतिकर्मणः। 'नेमानि क्षत्राणि' इति च ब्राह्मणम्। ऋक्षाः उदीर्णानि इव ख्यायन्ते। स्तृभिः तीर्णानि इव ख्यायन्ते।

'अमी य ऋक्षा निहितास उच्चा', 'पश्यन्तो द्यामिव स्तृभि.' इत्यपि निगमौ भवतः॥

(७-८) 'त्व' और 'नेम' आधा के अर्थ मे। त्व = पूरा फैला हुआ नही। नेम = पूरा नही लाया हुआ हो। अर्ध √हृ (हरण करना) को उलटने पर; या धारण करने से चूंकि यह निकाला हुआ होता है (उत् √धृ)। या √ऋध् (बढाना) मे क्योंकि यह [एक के सभी] विभागों मे बड़ा है। 'आधे लोग निन्दा करते हैं, आधे प्रशंसा' (ऋ० १।१४७।२); 'आधे देवता हैं आधे राक्षस' (मैत्रा० सं० १।११।९)—ये वैदिक उद्धरण हैं॥ (९-१०) 'ऋक्षा.' और 'स्तृभिः' नक्षत्रों के अर्थ मे। नक्षत्र गत्यर्थक √नक्ष् से। ब्राह्मण-वाक्य भी है—'ये (तारे) स्वर्ण (क्षत्र) नही हैं'। 'ऋक्ष' (तारे) उठे हुए मालूम पड़ते हैं। 'स्तृभिः' (तारे) [आकाश मे] बिखरे हुए दिखाई पडते हैं। 'ये तारे जो ऊंचा पर रखे गये हैं....' ऋ० १।२४।१० 'मानों तारों से भरे आकाश को देखते हुए' (ऋ० ४।७।३)—ये वैदिक उद्धरण हैं॥

वम्रीभिः—उपजिह्विकाः इति सीमिकानाम्। वम्र्यः वमनात्। सीमिकाः स्यमनात्। उपजिह्विकाः उपजिघ्र्यः।

'यदत्युपजिह्विका यद्वम्रो अतिसर्पति'—इत्यपि निगमो भवति॥ ऊर्दरं—कृदरं इति आवपनस्य। ऊर्दरम् उद्दीर्णं भवति। ऊर्जे दीर्णमिति वा। 'तमूर्दरं न पृणता यवेन'—इत्यपि निगमो भवति। तम् ऊर्दरमिव पूरयति यवेन। कृदरं कृतदरं भवति। 'समिद्धो अञ्जन्कृदरं मतीनाम्' इत्यपि निगमो भवति॥ २०॥

(११-१२) 'वम्रीभिः' और 'उपजिह्विका.' चीटियों के अर्थ मे। 'वम्री'

नमन करने के कारण। सीमिका रेंगने के कारण। उपजिह्विका = सूंघने वाली। 'जब चींटी खाती है, जब चींटी चलती है' (ऋ० ८।१०२।२१)—यह वैदिक उद्धरण है। (१३–१४) 'उर्दर' और 'कृदर' अन्नभंडार के अर्थ में। उर्दर = ऊपर की ओर कटा हुआ या अन्न के लिए कटा हुआ। 'जौ से अन्नभंडार की भाँति उसे भरो' (ऋ० २।१४।११)—यह वैदिक उदाहरण है। उसे अन्नागार की तरह जौ से भरता है। कृदर = जिसमें छेद किया हुआ हो। 'जलने पर बुद्धि के अन्नभंडार को प्रकाशित करते हुए।' (मै० स० ३।१६।२)—यह उदाहरण है॥ २०॥

रम्भ—पिनाकम् इति दण्डस्य। रम्भ आरभन्ते एनम्। 'आ त्वा रम्भं न जिव्रयो ररम्भा'—इत्यपि निगमो भवति।

आरभामहे त्वा जीर्णा इव दण्डम्। पिनाक प्रतिपिनष्टि एनेन। 'कृत्तिवासा पिनाकहस्तोऽवततधन्वा'—इत्यपि निगमो भवति॥ मेना—ग्ना इति स्त्रीणाम्। स्त्रिय स्त्यायते अपत्रपण-कर्मण। मेना = मानयन्ति एना। ग्ना = गच्छन्ति एना।

'अमेनांश्चिज्जनिवतश्चकर्थ', 'ग्नास्त्वाकृन्तन्नपसोऽतन्वत' इत्यपि निगमो भवत॥

(१५–१६) 'रम्भ' और 'पिनाक' डण्डे के अर्थ में। रम्भ = इसे लोग पकड़ते हैं। 'बूढ़े जैसे लाठी को [पकड़ते हैं] वैसे ही तुम्हें हमने पकड़ा है' (ऋ० ८।४५।२०)—यह वैदिक उद्धरण है। हम तुम पर आश्रित हैं जैसे कमजोर [आदमी] डण्डे पर। पिनाक (हड्डी) = जिससे पीस दे (नाश कर दे)। 'चमड़े को पहने हुए, हाथ में त्रिशूल लिये, तथा न झुकने वाला धनुष लिये हुए' (काठक स० ९।८)—यह वैदिक उद्धरण है। (१७।१८) 'मेना और ग्ना' स्त्रियों के अर्थ में। स्त्री √स्त्यै = 'लजाना' से। मेना = लोग जिसे (एना) मानें। ग्ना = जिसके पास लोग जायें (√गम्)। 'पत्नीहीन को भी तुमने सपत्नीक कर दिया है' (ऋ० ५।३१।२) स्त्रियों ने तुम्हें काटा, कर्मनिष्ठों ने फैलाया' (मै० स० १।९।४)—वैदिक उदाहरण हैं॥

शेप—वैतस इति पुंस्प्रजननस्य। शेप शपते स्पृशति-कर्मण। वैतस वितस्त भवति। 'यस्यामुशन्त प्रहराम शेपम्', 'त्रि स्म माह्न श्नथयो वैतसेन'—इत्यपि निगमो भवत॥ अया–एना

इत्युपदेशस्य॰। 'अया ते अग्ने समिधा विधेम'—इति स्त्रिया.। 'एना वो अग्निम्'—इति नपुंसकस्य। 'एना पत्या तन्वं स सृजस्व'—इति पुंस ॥

(१९–२०) 'शेप' और 'वैतस' पुरुष के जननेन्द्रिय के अर्थ में। शेप 'छूना' अर्थ वाले √शप् से। वैतस मुरझाया हुआ होता है। [पुत्र की] कामना करते हुए हम जिसमें शेप का प्रहार करें' (ऋ० १०।८५।३७), [उर्वशी पुरूरवा से कहती है—] 'तुमने दिन में तीन बार मुझ पर वैतस (इन्द्रिय) का प्रहार किया है' (ऋ० १०।९५।५)—ये वैदिक उदाहरण हैं। (२१–२२) 'अया' और 'एना' उल्लेख करने के अर्थ में। 'हे अग्ने ! इस (अया) समिधा से हम तेरी पूजा करें' (ऋ० ४।४।१५)—यहाँ स्त्रीलिंग (समिधा) में। 'हे अग्ने ! हमारे पास इसके द्वारा (एना)' (ऋ० ७।१३।१)—यहाँ नपुंसकलिंग में। 'इस (एना) पति से अपने शरीर को मिलाओ' (ऋ० १०।८५।२७)—यहाँ पुंलिंग में ॥

सिषक्तु—सचते इति सेवमानस्य। 'स न सिषक्तु यस्तुर'। स न सेवता यस्तुर। 'सचस्वा न स्वस्तये'। सेवस्व न. स्वस्तये। स्वस्ति इत्यविनाशिनाम। अस्ति. अभिपूजित स्वस्तीति ॥ भ्यसते–रेजते इति भयवेपनयो। 'यस्य शुष्माद्रोदसी अभ्यसेताम्', 'रेजते अग्ने पृथिवी मखेभ्य'—इत्यपि निगमौ भवत ॥

द्यावापृथिवीनामधेयानि उत्तराणि चतुर्विंशति (३।३०)। तयोरेषा भवति ॥ २१ ॥

(२३–२४) 'सिषक्तु' और 'सचते' सेवा के अर्थ में। 'जो तेज (तुर) है वह हमारी सेवा करे' (ऋ० १।१८।२)—जो पटु है वह हमारी सेवा करे। अपने कल्याण के लिए सेवा करो (ऋ० १।१।९)—अपने कल्याण के लिए सेवा करो। 'स्वस्ति' अविनाश का पर्याय है—सम्मान के साथ रहना, अच्छी तरह (सु) रहना है (अस्ति)। (२५–२६) 'भ्यसते' और 'रेजते' भय और कम्पन के पर्याय हैं। जिसकी साँस से स्वर्ग और पृथ्वी डर गये' (ऋ० २।१२।१) 'हे अग्ने ! बड़े बड़े (मरुतों से) पृथ्वी काँपती है' (ऋ० ६।६६।९)—ये वैदिक उद्धरण हैं ॥

बाद के चौबीस नाम द्यावापृथिवी के हैं। उनके विषय म यह (ऋचा) है—॥ २१ ॥

कतरा पूर्वा कतरापरायो कथा जाते कवय को वि वेद।
विश्व त्मना विभृतो यद्ध नाम विवर्तेते अहनो चक्रियेव ॥

(अयो = अनयो) इन दोनो म (कतरा पूर्वा) कौन पहल की और (कतरा अपरा) कौन बाद की है ? (कवय) हे ऋषियो ! (कथा = कथ) कैसे (जाते) ये उत्पन्न हुई (क विवेद) कौन जानता है ? (विश्व यद् ह नाम) सभी चीजो को वे (त्मना = आत्मना) अपने से (बिभृत) धारण करती हैं, (अहनी) दोनो दिन (चक्रिया इव) चक्के के समान (विवर्तेते) घूमते हैं। (ऋ० १।१८५।१)।

कतरा पूर्वा, कतरा अपरा, एनयो । कथ जाते ? कवय. ! क एते विजानाति ? सर्वम् आत्मना विभृतो यद् ह एनयो कर्म। विवर्त्तेते च एनयो अहनी अहोरात्रे चक्रयुक्ते इव। इति द्यावापृथिव्यो महिमानम् आचष्टे आचष्टे ॥ २२ ॥

इन दोनो म कौन पहली है कौन बाद की ? कैसे उत्पन्न हुई ? हे ऋषि गण ! इह अच्छी तरह कौन जानता है ? जो कुछ इनक काम हैं उन सबो को अपने म धारण करती हैं इनक दोनो दिन अर्थात् रात और दिन चक्के के समान घूमते हैं। इस प्रकार स्वग और पृथ्वी की महिमा का वणन हुआ है ॥

॥ इति निरुक्ते तृतीयो ध्याय ॥

चतुर्थ-अध्याय

प्रथम-पाद

ॐ एकार्थमनेकशब्दम्—इत्येतदुक्तम्। अथ यानि अनेकार्थानि एकशब्दानि तानि अतोऽनुक्रमिष्याम., अनवगतसंस्कारांश्च निगमान्। तत् 'ऐकपदिकम्' इत्याचक्षते। जहा (निघ० ४।१।१) जघानेत्यर्थ. ॥

ऊपर उस [संग्रह] की व्याख्या हुई है जिसमें एक समान अर्थ धारण करने वाले अनेक शब्द हैं (=पर्यायवाची)। अब हम उन (पदों) की व्याख्या करेंगे जिनमे एक शब्द के अनेक अर्थ हैं तथा ये ऐसे वैदिक शब्द हैं जिनकी रचना (प्रकृति-प्रत्यय द्वारा बनावट) मालूम नहीं। इस (संग्रह) को लोग 'ऐकपदिक' [—काण्ड] (या नैगम-काण्ड) कहते हैं। 'जहा' = मारा (√हन् + लिट) ॥ १ ॥

विशेष—निघण्टु के प्रथम तीन अध्यायो मे पर्यायवाची शब्दों का संग्रह है जिसकी व्याख्या संक्षिप्त-रूप से यास्क ने निरुक्त के दूसरे और तीसरे अध्यायों मे कर दी। उसे नैघण्टुक काण्ड कहते हैं। निघण्टु के चतुर्थ अध्याय में स्वतन्त्र शब्दो का संग्रह है जिसमे प्रत्येक शब्द के अनेक अर्थ हैं तथा प्राय ऐसे शब्द हैं जिनके संस्कार (Formation) कठिन हैं। प्रत्येक पद के स्वतन्त्र होने के कारण इस काण्ड को ऐकपदिक कहते हैं और इसके पदों की व्याख्या निरुक्त के चतुर्थ, पञ्चम और षष्ठ अध्यायो में हुई है। नैघण्टुक-काण्ड के शब्द Synonym तथा नैगम (ऐकपदिक)-काण्ड के शब्द Homonym कहलाते हैं ॥ १ ॥

को नु मर्या अमिथित. सखा सखायमब्रवीत्। जहा को अस्मदीषते ॥

(मर्या) हे मनुष्यो! (को नु) किस (सखा) मित्र ने (अब्रवीत्) कहा है कि [मैंने] (अमिथित) उद्विग्न हुए बिना, बिना कुछ कहे ही (सखायम्) अपने मित्र को (जहा) मार डाला? (को) कौन (अस्मत्) हमारे पास से (ईषते) भागता है? (ऋ० ८।४५।३७)।

मर्या. इति मनुष्यनाम। मर्यादाभिधान • वा स्यात्।

[मर्यादा = मर्यैः आदीयते ।] मर्यादा—मर्यादिनोः विभाग । मेथति आक्रोशकर्मा । अपापक जघान कमहं जातु ? कोऽस्मद्भीतः पलायते ?

'मर्य' मनुष्य का पर्याय है या मर्यादा (सीमा) का नाम है । मर्यादा = जिसे मनुष्य निश्चित करें । मर्यादा = दो सीमित स्थानों का विभाग [करने वाली रेखा] । √मेथ् = उत्तेजित करना, चिल्लाना । किस निरपराध को मैंने कभी भी मारा है ? मुझसे डरकर कौन भागता है ?

विशेष—मन्त्र के देवता का कहना है कि बिना किसी अपराध के मैंने किसी को नहीं मारा, पापी को ही मैं मारता हूँ । यदि आप भी शीघ्र निष्पाप हो जायँ तो नहीं मारूँगा । पाप न करनेवाले नहीं भागते—दुर्ग । 'जघान' में √हन् या √हा (छोड़ना) की सम्भावना है किन्तु निरुक्तकार √हन् ही लेते हैं ।

. निधा (२) पाश्या भवति । यन्निधीयते । पाश्या = पाशसमूह । पाशः पाशयते । विपाशनात् ॥ २ ॥

निधा = जाल (पाश्या) जिसे [नीचे] रखा जाय । पाश्या = जालों का समूह । पाश √पश् (बाँधना) से, क्योंकि बाँधा जाता है ॥ २ ॥

वयः सुपर्णा उप सेदुरिन्द्रं प्रियमेधा ऋषयो नाधमानाः ।
अप ध्वान्तमूर्णुहि पूर्धि चक्षुर्मुमुग्ध्यस्मान्निधयेव बद्धान् ॥

(सुपर्णाः) सुन्दर पङ्खवाले (वयः) पक्षियों के समान (प्रियमेधाः) यज्ञों के प्रेमी, (नाधमानाः) याचना करते हुए (ऋषयः) ऋषिगण (इन्द्रम्) इन्द्र के पास (उपसेदुः) पहुँचे । (ध्वान्तम्) ढँके हुए स्थान को (अप ऊर्णुहि) खोल दो (चक्षुः) आँखें (पूर्धि) भर दो, (अस्मान्) हमारे-जैसे (निधया इव) मानो जाल से (बद्धान्) बँधे हुए लोगों को (मुमुग्धि) छोड़ दो (ऋ० १०।७३।११) ॥

वयः वेः बहुवचनम् । सुपर्णाः सुपतना आदित्यरश्मयः । उपसेदुः इन्द्रं याचमानाः । अपोर्णुहि आच्छन्नं चक्षुः । चक्षुः ख्यातेः वा, चष्टेः वा । पूर्धि = पूरय, देहि इति वा । मुञ्च अस्मान् पाशैरिव बद्धान् ॥

वयः = वि (पक्षी) का बहुवचन । सुपर्ण अर्थात् अच्छी तरह पड़ने वाली सूर्य की किरणें । इन्द्र के पास याचना करती हुई पहुँचीं । हमारी घिरी हुई दृष्टि को खोल दो । चक्षु—√ख्या (जानना) या √चक्ष् (देखना) से ।

पृधि = पूरा करो, या दे दो। मानो जालो से बँधे हुए हम लोगो को छोड़ दो।

'पार्श्वतः श्रोणितः शितामतः'। पार्श्वं पर्शुमयम् अङ्गं भवति। पर्शुः स्पृशतेः। संस्पृष्टा पृष्ठदेशम्। पृष्ठं स्पृशतेः। संस्पृष्टम् अङ्गैः। अङ्गम् अङ्गनात्, अञ्चनाद्वा। श्रोणिः श्रोणतेः गतिचलाकर्मणः। श्रोणिः चलतीव गच्छतः। दोः शिताम (३) भवति। दोः द्रवतेः। योनिः शिताम इति शाकपूणिः। विपितो भवति। श्यामतः यकृत्तः इति तैटीकिः। श्यामं श्यायतेः। यकृत् यथा कथा च कृत्यते। शितिमांसतः मेदस्तः इति गालवः। शितिः श्यतेः। मांसं माननं वा, मानसं वा। मनः अस्मिन् सीदति इति वा। मेदः मेद्यतेः॥ ३॥

पँसुली से, कमर से और बाहुओं से (वाजस० स० २१।४३ का अंश)। पँसुली का भाग अर्थात् सन्धियुक्त शरीर। पर्शु (पँसुली, सन्धि) √स्पृश् (छूना) से, क्योंकि पीछे के भाग को छूता है। 'पृष्ठ' √स्पृश् से, क्योंकि यह शरीर [के अन्य भागो] से छुआ जाता है। अङ्ग √अञ्ज् (चिह्नित होना) या √अञ्च् (झुकना) से। 'श्रोणि, 'आगे बढना' अर्थ वाले √श्रोण् से, क्योंकि चलते हुए (व्यक्ति) की कमर (नितम्ब) आगे बढती हुई-सी प्रतीति होती है। शिताम = बाहु (दोः)। दोः √द्रु (दौड़ना) से। शाकपूणि के अनुसार शिताम = योनि, क्योंकि खुली हुई होती है। तैटीकि के अनुसार श्याम-वर्ण होने के कारण इसका अर्थ यकृत् (Liver) है। श्याम √श्यै (घनीभवन) से (= घना रंग)। यकृत् जिस किसी तरह कटता है (बिना यत्न के–दुर्ग)। गालव के अनुसार काला मांस होने के कारण इसका अर्थ मेद (चर्बी) है। शिति √शो (= तेज करना, पजाना) से। मांस-माननीय (= आदरणीय व्यक्ति के लिए दिया जाय–दुर्ग) या चिन्तनीय (मन में आनन्द लिया जाय—दुर्ग)। अथवा मन इसमे नष्ट हो जाता है। मेदस् √मिद् (मोटा होना) से॥

विशेष—दुर्गाचार्य ने इस प्रसंग मे दस प्रकार के अनवगम (अर्थात् पदो के संस्कार आदि को न जानना) दिखलाये हैं। वे हैं—(१) पदजाति (Kinds of words) को न जानना जैसे 'त्व' नाम है कि निपात? (२) अभिधेय (meaning) जैसे शिताम। (३) स्वर (accent) जैसे वने न वा यो। (४) संस्कार (formation) जैसे ईर्मान्तासः। (५) गुण (Quality) जैसे करूलती। (६) विभाग (Internal division) जैसे–मेहना (मि-ह-ना)।

(७) क्रम (order) उपरमध्व मे वचसे। (८) विक्षेप (Exclusion) द्यावा न पृथिवी। (९) अध्याहार (Inclusion) दानमनसो नो मनुष्यान्। (१०) व्यवधान (Intervention) वायुश्च नियुत्वान। इस प्रकार वैदिक पदो की व्याख्या मे ये दस प्रकार की कठिनाइयाँ आती हैं जिन्हें बौद्ध भाषा मे Ten unknowables कहा जा सकता है ॥ ३ ॥

यदिन्द्र चित्र मेहनास्ति त्वादातमद्रिव ।
राधस्तन्नो विदद्वस उभयाहस्त्या भर॥

(इन्द्र) हे इन्द्र ! (यत्) जो कुछ भी (चित्र) चुनने योग्य तथा (मेहना) प्रशसनीय धन है (अद्रिव) हे वज्रधारिन् ! (त्वादातम्) तुम दे दो। विदद्वसो हे धन को जानने वाले ! (उभयाहस्त्या) दोनो हाथो से (तत् राध) उस धन को (न) हमे (आ भर) ला दो। (ऋ० ५।३९।१) ॥

विशेष—'चित्र को महना का विशेषण मानना ठीक नही, उसमे सर्वानुदात्त होने से उसे सम्बोधन मानकर 'इन्द्र' का विशेषण लेना ठीक है। त्वादातम्—'त्वया दातव्यम्' का समास। अद्रिव—अद्रि + मतुप्—सम्बोधन मे अद्रिवन् 'मतुवसो रु सम्बुद्धौ छदसि (पा० सू० ८।३।१) से अद्रिव। विदद्वसु—मैकडोनल का Governing compound सम्बोधन मे विदद्वसो ॥

यदिन्द्र चायनीय महनीय धनमस्ति। यत् मे इह नास्ति इति वा त्रीणि मध्यमानि पदानि। त्वया न तद् दातव्यम्। अद्रिवन्। अद्रि आदृणाति एनेन। अपि वा—अत्ते स्यात्। 'ते सोमाद ' इति ह विज्ञायते। राध इति धननाम। राध्नुवन्ति एनेन। तन त्व, वित्तधन। उभाभ्या हस्ताभ्याम् आहर। उभो समुब्धो भवत ॥

हे इन्द्र ! जो कुछ भी सुदर और आदरणीय धन है। अथवा ये तीन मध्यम पद हों—जो मुझ यहाँ नही है (मे ह ना)। आप हम वह दे दें। हे वज्र धारण करने वाल ! अद्रि अर्थात् जिसस [इद्र पहाडो को] तोडता है। अथवा √अद् (खाना) से, वे सोम के खान वाले हैं (ऋ० १०।९४।९) यह मालूम भी है। राध धन का पर्याय है क्योकि इसी स लोग प्राप्त करत हैं। हे धन के ज्ञाता ! वही तुम हमारे लिए दोनो हाथो स लाओ। उभय = जो भरे हुए हो (√उर्भ्) ॥

दमूना (४) दममना वा, दानमना वा, दान्तमना वा। अपि वा, दम इति गृहनाम, तन्मना स्यात्। मन मनोते ॥४॥

दमूना = दया की बुद्धि से युक्त दान करने की बुद्धि वाला या सयम की प्रवृत्ति वाला। अथवा, दम = घर, अत एव उसी मे प्रवृत्त। मन'√मन् (सोचना) से ॥ ४ ॥

जुष्टो दमूना अतिथिर्दुरोण इम नो यज्ञमुप याहि विद्वान्।
विश्वा अग्ने अभियुजो विहत्या शत्रूयतामा भरा भोजनानि ॥

(अग्ने) हे अग्ने! (जुष्ट) सेवित होकर (दमूना) अपना घर समझ कर, या दया भाव से युक्त होकर (दुरोणे) निवास स्थान मे (अतिथि) अतिथि के रूप मे (विद्वान्) ज्ञान युक्त होकर (न) हमारे (इम यज्ञम्) इस यज्ञ मे (उपयाहि) आओ। (विश्वा) सभी (अभियुज) शत्रुसेनाओं को (विहत्य) नष्ट करके (शत्रूयताम्) शत्रु बनाने वालों का (भोजनानि) अन्न या धन (आभर = हर) ले आओ = छीन लाओ। (ऋ० ५।४।५) ॥

अतिथि अभ्यतितो गृहान् भवति। अभ्येति तिथिषु परकुलानि इति वा, गृहाणि इति वा। दुरोण इति गृहनाम। दुरवा भवन्ति = दुस्तर्पा। इम नो यज्ञमुपयाहि विद्वान्। सर्वा अग्ने! अभियुज विहत्य शत्रूयताम् आहर भोजनानि। विहत्य अन्येषा बलानि शत्रूणा भवनादाहर भोजनानि इति वा धनानि इति वा ॥

अतिथि = जो घरों मे जाता है (√अत्) अथवा जो [निश्चित] तिथियो मे दूसरो के परिवार मे या घरो म जाता है (√इ + तिथि)। दुरोण = घर क्योंकि जिसे सन्तुष्ट करना कठिन है (दु √अव) या जिसे सँभालना (देख भाल करना) कठिन है। जानते हुए हमारे इस यज्ञ म आओ। हे अग्ने! सभी अभियुक्तों को मार कर, शत्रु बनने वालो के भोजन (धन) छीन लाओ = हमारे शत्रुओ का बल (सना) नष्ट करके, शत्रुओं के घर से भोजन या धन लाओ ॥

विशेष—दुर्गाचार्य घर की कठिनाई पर उद्धरण देते हैं—

'कुटुम्बतन्त्राणि हि दुर्भराणि।'

मूष (६)। मूषिका इत्यर्थ। मूषिका पुन मुष्णाते। मूषोऽप्येतस्मादेव ॥ ५ ॥

मूष = मूषिक (चूहा)। मूषिक √मुष् (चुराना) से। मूष भी इसी (√मुष्) से ॥ ५ ॥

> स मा तपन्त्यभित सपत्नीरिव पर्शव ।
> मूषो न शिश्रा व्यदन्ति माध्य
> स्तोतार ते शतक्रतो वित्त मे अस्य रोदसी ॥

(माम्) मुझे (अभित) चारो ओर से (सपत्नी इव) सपत्नियो के समान (पर्शव) ईंटे (सतपन्ति) सताप दे रही हैं। (शतक्रतो) हे शत शक्ति वाले इन्द्र ! (ते) तुम्हारी (स्तोतार) स्तुति करन वाले (मा) मुझ को (माध्य = आधय) मानसिक चिन्तायें (व्यदन्ति) खा रही हैं (मूष॰ शिश्ना न) जैसे चूहा सूते को [खा जाता है]। (रोदसी) हे स्वर्ग और पृथ्वी ! (मे) मेरी (अस्य) इस [अवस्था] को (वित्तम्) दोनो जान लो। (ऋ० १।१०५।८) ॥

सतपन्ति माम् अभित सपत्न्य इव इमा पर्शव कूपपर्शव । मूषिका इव अस्नातानि सूत्राणि व्यदन्ति । स्वाङ्गाभिधान वा स्यात् । शिश्नानि व्यदन्ति इति । सतपन्ति मा आध्य, कामा स्तोतार ते शतक्रतो । वित्त मे अस्य रोदसी = जानीत मेऽस्य द्यावापृथिव्यौ इति ॥ त्रित कूपे अवहितमेतत्सूक्त प्रतिबभो । तत्र ब्रह्म इतिहासमिश्रम् ऋड्मिश्र गाथामिश्र च भवति । त्रित तीर्णतमो मेधया बभूव । अपि वा—सख्यानाम एवाभिप्रेतम् । एकतो द्वित त्रित इति त्रयो बभूवु ॥ ६ ॥

ये ईंटें अर्थात् कुएं की इटें सपत्नियों (सौतिनो) के समान मुझ चारो ओर से कष्ट देती हैं। जिस प्रकार चूहे चर्बीदार (या अन्न से युक्त = अन्न मिश्राणि) सूतो को खा जाते हैं। या अपने अग का ही नाम हो—शिश्न अर्थात् अपने अगो को खाते हैं।* उसी तरह हे शत शक्ति वाले स्वामिन् ! तुम्हारी स्तुति करने वाले मुझको चिन्तायें या इच्छायें कष्ट देती है। हे रोदसी !

---

* दुर्गाचार्य—कुछ पक्षियों का स्वभाव है कि वे अपनी पूँछ को ही खा जाते हैं, उसी प्रकार चूहे भी स्निग्ध वस्तुओं (तेल, घी) के भाण्ड में पूँछ डाल कर उसे निकालने के बाद खाते हैं। शिश्न—पूँछ।

मेरी इस दशा को जानो=हे स्वर्ग और पृथ्वी'... .. । कुएँ मे गिरे हुए त्रित [—नामक ऋषि] को यह सूक्त प्रत्यक्ष हुआ था। इसके सम्बन्ध मे इतिहास से युक्त, ऋचा से युक्त तथा गाथा (=ब्राह्मण ग्रन्थो के पद्य) से युक्त स्तुति (ब्रह्म) है। त्रित बुद्धि मे बहुत तीक्ष्ण थे (√तॄ)। अथवा ['त्रित' मे] सख्या विशेष का अर्थ हो। एक से दो से, तीन से इस तरह तीन हुए (एकत, द्वित और त्रित ये तीन भाई थे—दुर्ग) ॥ ६ ॥

इषिरेण ते मनसा सुतस्य भक्षीमहि पित्र्यस्येव रायः ।
सोम राजन्प्र ण आयूँषि तारीरहानीव सूर्यो वासराणि ॥

(इषिरेण) गतिशील (मनसा) मन से (ते) तुम्हारे लिए (सुतस्य) चुलाये गये सोम का (पित्र्यस्य) पैतृक (रायः) धन (इव) के समान (भक्षीमहि) हम ग्रहण करें। (सोम राजन) हे राजा सोम ! (नः) हमारी (आयूंषि) आयु, को, जीवन को (प्रतारीः) बढ़ाओ (वासराणि) ग्रीष्मकाल के (अहानि) दिनों को (सूर्य इव) जैसे सूर्य [बढाता है]। (ऋ० ८।४८।७)।

ईषणेन वा, एषणेन वा, ऋषणेन वा। ते मनसा सुतस्य भक्षीमहि पित्र्यस्येव धनस्य। प्रवर्धय च नः आयूंषि सोम राजन्! 'अहानीव सूर्यो वासराणि'—वासराणि=वेसराणि, विवासनानि गमनानीति वा ॥ कुरुतन (८) इति। अनर्थका उपजनाः भवन्ति—कर्तन, हन्तन, यातन इति ॥ जठरम् (उदर) भवन्ति। जग्धमस्मिन् ध्रियते, धीयते वा ॥ ७ ॥

[गतिशील =] तेज, शक्तिशाली या सुबुद्ध। ऐसे मन से तुम्हारे लिए चुलाये गये सोम का भोग (हम) पैतृक-धन के समान करें। हे राजा सोम ! हमारी आयु बढाओ। जैसे ग्रीष्मकाल के दिनो को सूर्य। वासर = विविध रूप से चलने वाले (रात मे ठढ और दिन में गर्म पडने से)। या चमकने वाले (दुर्ग—नाश करने वाले) या जाने वाले (विस्तृत)॥ कुरुतन (करो)। इन सबों में ('न' का) आगम व्यर्थ ही हुआ है जैसे—कर्तन (करो), हन्तन (मारो), यातन (जाओ)। जठर=पेट क्योकि खायी हुई चीज इसमे रखी जाती है (√धृ) या जमा की जाती है (√धा) ॥ ७ ॥

विशेष—'कुरुतन' आदि के लिए पा० सू० ७।१।४५ देखें—'तप्तनप्तनथ-

नाश्य'। इन सबों मे 'तन' प्रत्यय लाकर 'कुदृतन', तनप् से 'कर्त्तृन' (गुण हो जाने के कारण—सार्वधातुकमपित्) इत्यादि ॥ ७ ॥

मरुत्वाँ इन्द्र वृषभो रणाय पिबा सोममनुष्वधं मदाय।
आ सिञ्चस्व जठरे मध्व ऊर्मिं त्वं राजासि प्रदिवः सुतानाम् ॥

(मरुत्वान) मरुतो से युक्त और (वृषभः) वर्षा करने वाला (इन्द्रः) इन्द्र (रणाय) युद्ध के लिए है; (मदाय) आनन्द के लिए (अनुष्वधम्) अन्न अर्थात् भोजन के बाद (सोमम्) सोम (पिब) पी लो। (जठरे) पेट म (मध्व) मधु की (ऊर्मिम्) तरंग (आसिञ्चस्व) सींच दो, डाल दो; (त्वम्) तुम (प्रदिवः) पहले के दिनो मे (सुतानाम्) उत्पन्न किये हुए सोमो के भी (राजा असि) राजा हो। (ऋ० ३।४७।१)।

मरुत्वान्=इन्द्र.। मरुद्भिः तद्वान्। वृषभो वर्षिता अपाम्। रणाय=रमणीयाय संग्रामाय। पिब सोमम्। अनुष्वधम्=अन्व-न्नम्। मदाय=मदनीयाय जैत्राय। आसिञ्चस्व जठरे मधुनः ऊर्मिम्। मधु सोमम्—इत्योपमिकम्। माद्यते.। इदमपि इतरत् मधु एतस्मादेव। त्व राजासि पूर्वेष्वपि अहःसु सुतानाम् ॥८॥

मरुत्वान् इन्द्र = मरुतों के साथ या उनसे युक्त। वृषभ = जल बरसाने वाले। रण अर्थात् रमणीय (√रम्) संग्राम के लिए। सोम पी लो। अन्न के बाद = भोजन के बाद। मद अर्थात् आनन्ददायक विजय के लिए। पेट मे मधु की तरंग (प्रवाह) डालो। मधु अर्थात् सोम को—यह औपमिक (आनन्द देने मे दोनों समान हैं) है। √मद् से। यह दूसरा मधु [का अर्थ—मदिरा] भी इसी से बना है। पूर्वकाल के दिनो मे भी चुलाय हुए सोमो के तुम राजा हो [इसलिए तुम्हारा सोमपान करना सर्वथा समुचित है—दुर्ग] ॥ ८ ॥

द्वितीय-पाद

तितउ (१०) परिपवन भवति। ततवद्वा। तुन्नवद्वा। तिलमात्रतुन्नम् इति वा ॥ ९ ॥

तितउ+पवित्र करने वाली (चलनी)। चमड़े (तत) ढँकी हुई, या छेद (तुन्न) से युक्त। अथवा तिल के समान छेदवाली ॥ ९ ॥

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत ।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि ॥

(तितउना) चलनी के द्वारा (सक्तुमिव) सत्तू के समान (पुनन्तः) पवित्र करते हुए (यत्र) जहाँ (धीराः) बुद्धिमान् लोग (मनसा) मन के द्वारा (वाचम्) वाणी को [पवित्र] (अक्रत) करते हैं। (अत्र) वहाँ (सखायः) मित्र लोग (सख्यानि) मित्रता को (जानते) पहचानते हैं (एषाम्) इनकी (अधि वाचि) वाणी में (भद्रा) कल्याण करने वाली (लक्ष्मीः) लक्ष्मी, शोभा (निहिता) रहती है। (ऋ० १०।७१।२) ॥

विशेष—इस मंत्र का व्याकरण में बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। पतञ्जलि ने महाभाष्य के पस्पशाह्निक में इसका उद्धरण देकर व्याख्या की है। ऋग्वेद में यह विद्या-सूक्त में है। इसमे विद्वानों की प्रशंसा की गयी है। मित्र का अभिप्राय है एक समान शास्त्र पढ़ने वाले जैसे वैयाकरणों के मित्र वैयाकरण, नैरुक्तों के नैरुक्त। वे एक दूसरे के विज्ञान-प्रकर्ष (मित्रता) को भली-भाँति जानते हैं। निरुक्त की व्याख्या नीचे देखें ॥

सक्तुमिव परिपवनेन पुनन्तः। सक्तुः सचतेः। दुर्धावो भवति। कसतेः वा स्याद् विपरीतस्य। विकसितो भवति। यत्र धीरा मनसा वाचमकृपत प्रज्ञानम्। धीराः प्रज्ञानवन्तः ध्यानवन्तः। तत्र सखायः सख्यानि संजानते, भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि ॥

मानों चलनी से सत्तू को चालते हुए। 'सक्तु' √सच् (सट जाना) से, इसे धोना कठिन है। अथवा √कस् (चमकना) से वर्ण-विपर्यय द्वारा हो गया हो क्योंकि यह पूरा खिला हुआ होता है। जहाँ बुद्धिमान् लोग मन के द्वारा वाणी अर्थात् ज्ञान को चालते हैं। धीर=ज्ञानयुक्त, विचारक। वहाँ मित्र लोग मित्रता को पहचानते हैं। इनकी वाणी में कल्याणी शोभा निहित है ॥

भद्रं भगेन व्याख्यातम् (३।१६) भजनीयम्, भूतानाम् अभिद्रवणीयम्। भवत् रमयति इति वा, भाजनवद्वा। लक्ष्मीः लाभाद्वा, लक्षणाद्वा, लप्स्यनाद्वा, लाञ्छनाद्वा, लषतेः वा स्यात् प्रेप्साकर्मणः। लग्यतेः वा स्यादाश्लेषकर्मणः। लज्जतेर्वा स्यादश्लाघाकर्मणः ॥ शिप्रे (११) इत्युपरिष्टाद् व्याख्यास्याम. (६।१७) ॥ १० ॥

'भद्र' की व्याख्या 'भग' (ऐश्वर्य) से हो गई है (देखिये, निरु० ३।१६)। जिसमें आनन्द मिले, जिसे प्राणी प्राप्त करें। या उपस्थित होकर आनन्द दे, या अपने [कृपा–] पात्रों के पास रहे (√भज्, √भू + √दृ, √भू + √रम्, √भज्) लक्ष्मी (चिह्न) लाभ होने से, निर्देश करने से, पाने की इच्छा से, या चिह्न करने से। या इच्छार्थक √लष् से, या 'सटना' अर्थ वाले √लग् से, या 'प्रशंसा न करना' अर्थ वाले √लज्ज् से (= जिनके पास लक्ष्मी रहती है वे अपनी प्रशंसा नहीं करते हैं)॥

'शिप्रे' की व्याख्या बाद में (६।१७) होगी॥ १०॥

तत्सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्या कर्तोर्विततं सं जभार।
यदेदयुक्त हरितः सधस्थादाद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै॥

(सूर्यस्य) सूर्य का (तत्) यही (देवत्वम्) देव-भाव है, (तत्) यही (महित्व) महिमा है कि (कर्तोः) कार्य के (मध्या) बीच में ही (विततम्) चारों ओर फैले हुए [प्रकाश को—सायण, अन्धकार को—आधुनिक-मत] (स जभार) समेट लेता है, नष्ट कर देता है। (यदा इत्) जब उसने (सधस्थात्) पृथ्वी से, अश्वशाला से (हरितः) प्रकाश को, घोड़ों को (अयुक्त) खींच लिया, जोत लिया (आत्) तभी (रात्री) रात्रिदेवी (सिमस्मै) सबों के लिए (वासः) अपने कपड़ों को (तनुते) फैलाने लगी, फैला रही थी। (ऋ० १।११५।४)॥

विशेष—उपर्युक्त मन्त्र की व्याख्या में भारतीय (सायण) और आधुनिक-मत (विदेशी) में पर्याप्त अन्तर है। सायण और यास्क इसे सायंकाल का वर्णन मानते हैं—संसार में होने वाले अनन्त कर्मों के बीच में ही सूर्य सन्ध्या में अपनी फैली हुई किरणों को समेट लिया करते हैं। जब वे अपनी किरणों को पृथ्वी (सधस्थ) से हटा लेते हैं तो रात्रि का आवरणात्मक-कार्य आरम्भ हो जाता है। सायण का कथन है कि जब वे रथ (सधस्थ) से घोड़ों को अन्यत्र बाँध देते हैं (अयुक्त) तब रात्रि होती है। इसके विरुद्ध आधुनिक-विद्वान् प्रस्तुत मन्त्र के पहले और बाद के मन्त्रों के सादृश्य से (१।११५।३ और ५) इसमें प्रातःकाल का वर्णन मानते हैं—अन्धकार के प्रसार कार्य के बीच में ही सूर्य ने सारे अन्धकार को नष्ट कर दिया (सञ्जहार)। अस्तबल से जब उन्होंने घोड़ों को रथ में जोत दिया उस समय रात्रि अपना काम कर रही थी। 'अयुक्त' का अर्थ जो सायण ने 'अन्यत्र युक्तान् करोति' किया है, यह वस्तुतः खींच-तान

(far fetchedness) है, इसे सीधा 'जोत दिया' के अर्थ में ही लेना ठीक है। रॉथ ने भी सायण का ही अर्थ लिया है।

तत्सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्ये यत्कर्मणा क्रियमाणानां विततं संह्रियते। यदासौ अयुक्त हरणान् आदित्यरश्मीन्। हरितः अश्वान् इति वा। अथ रात्री वासः तनुते सिमस्मै। वेसरम् अहः अवयुवती सर्वस्मात्। अपि वा उपमार्थे स्यात्। रात्रीव वास. तनुते इति। तथापि निगमो भवति—'पुनः समव्यद्विततं वयन्ती'। समनात्सीत्॥ ११॥

सूर्य का देवत्व इसीमे है, यही महिमा है कि किये जाते हुए कर्मों के बीच मे उन्होने (समस्त) फैली हुई [वस्तु] का सहार कर लिया है (= सिकोड लिया)। जब उन्होने रस-हरण करने वाली आदित्य-किरणो को जोत लिया, या हरित =घोडो को। अब रात्रि सभी के लिए वस्त्र फैलाती है। चमकने वाले दिन-दिन को सबो से पृथक् कर देती हुई ...। अथवा तुलना के अर्थ मे यह प्रयुक्त हुआ है—रात्रि के समान ही वह अपना वस्त्र (किरणें) फैलाता है। वैदिक प्रयोग भी है—'फैली हुई (वस्तु) को बुनती हुई उसने फिर बुना' (ऋ० २।३८।४) अर्थात् उसने सग्रह कर लिया॥ ११॥

इन्द्रेण सं हि दृक्षसे संजग्मानो अबिभ्युषा। मन्दू समानवर्चसा॥

(अबिभ्युषा) भयरहित [गण] के साथ (सजग्मान) जाते हुए, (हि) वास्तव मे (इन्द्रेण) इन्द्र के साथ (सदृक्षसे) दिखलाई पड़ते हो। तुम दोनो (मन्दू) आनन्दयुक्त तथा (समानवर्चसा = सौ) समान बल वाले हो (ऋ० १।६।७)॥

इन्द्रेण हि संदृश्यसे, संगच्छमानः अबिभ्युषा गणेन (१३) मदिष्णू युवा स्थ.। अपि वा, 'मन्दुना तेन' इति स्यात्। समानवर्चसा इत्येतेन व्याख्यातम्॥ १२॥

निर्भय गण (मरुतों) के साथ जाते हुए, इन्द्र के साथ दिखलाई पड़ते हो। तुम दोनों आनन्द या हर्ष से युक्त हो। अथवा 'उस आनन्दगण के साथ' इस प्रकार का अर्थ हो। 'समानवर्चसा' (तुल्य बल के साथ)—इसकी भी वही गति है। [मन्दू—इसका वैकल्पिक अर्थ है मन्दुना (तृतीया ए० व०)। इसमे मन्दु+टा होने से 'सुपा सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजाल' (पा०

सू० ७।१।३९) के द्वारा पूर्व सवर्ण होकर 'मन्दू' हो गया है। =मादुना = मरुद्-गणेन (दुर्ग)] ॥ १२ ॥

ईर्मान्तास सिलिकमध्यमास सं शूरणासो दिव्यासो अत्या ।
हंसा इव श्रेणिशो यतन्ते यदाक्षिपुर्दिव्यमज्ममश्वा ॥

(ईर्मान्तासः) सुनिर्मित अन्त भाग वाले या विशाल नितम्ब वाले तथा (सिलिकमध्यमास) सिकुडी हुई अर्थात् पतली कमर वाले, (शूरणास) वीरता से भरे हुए, (दिव्यास) दिव्यशक्ति सम्पन्न (अत्याः) दौडाहे (श्रेणिश) पंक्ति मे बँधे हुए (हंसाः इव) हंसों के समान (स यतन्ते) एक साथ प्रयास करते हैं, (यदा) जब कि (अश्वा) घोडो ने (दिव्यम्) दैवी (अज्मम्) मार्ग को (अक्षिपु) पाया है। (ऋ० १।१६३।१०) ।

ईर्मान्ता =समीरितान्ता [सुसमीरितान्ता], पृथ्वन्ता वा। सिलिकमध्यमा = समृतमध्यमा, शीर्षमध्यमा वा। अपि वा, शिर आदित्यो भवति, यत् अनुशेते सर्वाणि भूतानि, मध्ये च एषा तिष्ठति। इदमपीतरत् शिर एतास्मादेव। समाश्रितानि एतत् इन्द्रियाणि भवन्ति। 'स शूरणासो दिव्यासो अत्या.'। शूर —शवते गतिकर्मण.। दिव्या. दिविजा.। अत्या अतना ॥

सुनिर्मित अन्तभाग वाले = निकले हुए, [अच्छी तरह निकले हुए] या विशाल नितम्ब से युक्त (=सूर्य के घोडो का पिछला भाग विशाल है)। सुघटित कमर वाले = जिनकी कमर सिकुडी है या जिनका प्रधान बीच में रहता है (=सूर्य या प्रधान घोडा)। अथवा, शिर = सूर्य का मतलब है क्योंकि सभी जीवो मे [प्राण रूप में] यह निवास करता है और उनके बीच मे रहता है। यह दूसरा शिर (मनुष्य का) इसी तरह बना है क्योंकि सभी इन्द्रियाँ इसी पर आश्रित हैं। 'वीरतायुक्त दिव्य दौडाहे (दौडने वाले) एक साथ'। शूर गत्यर्थक √शु से। दिव्य = स्वर्ग मे उत्पन्न। अत्या = दौडाहे (√अत्) ॥

'हंसा इव श्रेणिसो यतन्ते'। हंसा हन्ते., घ्नन्ति अध्वानम्। श्रेणिश इति। श्रेणि श्रयते.। समाश्रिता भवन्ति। यदा अक्षिपु = यदा आपन्। दिव्यम् अजमम्=अजनिम्=आजिम्। अश्वा.।

अस्त्यादित्यस्तुतिः अश्वस्य । आदित्यादश्वो निस्तष्ट इति । 'सूरादश्वं वसवो निरतष्ट' । इत्यपि निगमो भवति ॥ १३ ॥

'पंक्ति मे बंधे हंसो के समान वे प्रयास करते हैं'। हंस√हन् (मारना) से, ये रास्तो को समाप्त करते हैं। श्रेणी मे बंधकर। श्रेणि√श्रि (मिलाना) से, ये मिली हुई रहती है। जब पहुँचे = जब पाया। दिव्य अज्म = मार्ग = क्षेत्र को घोडो ने। सूर्य की स्तुति अश्व की ही स्तुति है। सूर्य से अश्व निर्मित हुआ है। 'हे वसुओ! तुमने घोडे को सूर्य से बनाया' (ऋ० ३।९।२)—यह भी उदाहरण वेद मे है ॥ १३ ॥

विशेष—उपर्युक्त मंत्र मे सूर्य के घोडो का वर्णन है। उनकी किरणो को ही वेद मे घोडा कहा गया है। इन घोडो के आकार का वर्णन करने के बाद इनके दिव्य-मार्ग पर चलने का उल्लेख किया गया है।

कायमानो वना त्वं यन्मातॄरजगन्नपः ।
न तत्ते अग्ने प्रमृषे निवर्तनं, यद्दूरे सन्निहाभव. ॥

(यत्) जब (त्वम्) तुम (वना-नि) जगलो को, लकडियो को (कायमान) चाहते हुए (अपः मातॄः) जलरूपी माताओं के पास (अजगन्) गये हो, (अग्ने) हे अग्नि! (ते) तुम्हारा (तत् निवर्तनम्) वह लौटना (प्रमृषे) भूलने योग्य (न) नही (यत्) जब कि (दूरे सन्) दूर होकर भी (इह) यहाँ (अभव) चले आते हो। (ऋ० ३।९।२)।

विशेष—अग्नि की उत्पत्ति वनो से भी होती है, जल से भी (वैद्युत की)। निवर्तन = विद्युत् के रूप मे लौटना, जल से निकलने वाले अग्नि (वैद्युत) का यज्ञ मे अरणि-मन्थन से उत्पन्न हो जाना।

कायमानः (१५) चायमानः, कामयमानः इति वा, वनानि। त्वं यत् मातॄः अपः अगमः, उपशाम्यन्। न तत् ते अग्ने! प्रमृष्यते निवर्तनं दूरे यत्सन् इह भवसि जायमानः ॥

कायमान = देखते हुए, या जगलों की इच्छा करते हुए। तुम जब जलरूपी माताओं के पास गये = बुझ गये। हे अग्ने! तुम्हारा वह लौटना भूला नही जाता जब कि दूर रहने पर भी उत्पन्न होकर यहाँ पहुँच जाते हो।

'लोधं नयन्ति पशु मन्यमाना.' = लुब्धम् ऋषिं नयन्ति पशुं मन्यमानाः। 'शीरं पावकशोचिषम्' = पावकदीप्तिम्। अनुशायिनम् इति वा, आशिनम् इति वा ॥ १४ ॥

'पशु समझ कर, लोभी को वे ले जाते हैं' (ऋ० ३.५३।२३)—पशु समझ कर लोभी ऋषि को ले जाते हैं। 'पवित्रकारक ज्वाला वाले अग्नि को' (८।१०२।११)। जिसका प्रकाश पवित्र है, यह सबो मे शयन करता है या सबो को व्याप्त करता है।

विशेष—पहले मन्त्र की पूरी ऋचा का उद्धरण देकर दुर्ग कहते हैं कि 'यस्मिन् निगमे एष शब्द सा वसिष्ठद्वेषिणी ऋक्। अहं च कापिष्ठलो वासिष्ठः। अतस्ता न निर्ब्रवीमि।' इससे दुर्गाचार्य के वंश का कुछ पता मिलता है। देखिये—भूमिका ॥ १४ ॥

कनीनकेव विद्रधे नवे द्रुपदे अर्भके। बभ्रू यामेषु शोभेते ॥

(नवे) नवीन तथा (विद्रधे) छेदो से युक्त, (अर्भके) छोटे (द्रुपदे) लकडी के आसन पर बैठी (कनीनकेव) गुडियो के समान (यामेषु) रास्तो मे (बभ्रू) भूरे घोडे (शोभेते) शोभते हैं। (ऋ० ४।३२।२३)।

कनीनके कन्यके। कन्या कमनीया भवति। केयं नेतव्या इति वा (कमनेनानीयते इति वा)। कनतेः वा स्यात् कान्तिकर्मणः। कन्ययोः अधिष्ठानप्रवचनानि सप्तम्या एकवचनानि इति शाकपूणिः। विद्धयोः दारुपाद्वोः। दारु दृणातेः वा, द्रूणातेः वा। तस्मादेव द्रु। नवे = नवजाते। अर्भके = अवृद्धे। ते यथा तदधिष्ठानेषु शोभेते एवं बभ्रू यामेषु शोभेते। बभ्वोः अश्वयोः संस्तवः।

दो गुडियायें (dolls) = दो कन्यायें। कन्या = जिसकी कामना की जाय (√कम्)। अथवा 'इसे किस व्यक्ति को दिया जाय'—इससे बना हो। (अथवा, कामना करनेवाले पति के द्वारा लायी जाती है)। अथवा 'चमकना अर्थवाले √कन् से बना हो। शाकपूणि का कहना है कि [उपर्युक्त मन्त्र मे] दोनों कन्याओ के आसन से सम्बद्ध शब्द (= विद्रधे, नवे, द्रुपदे, अर्भके—दुर्ग) सप्तमी के एकवचन मे हैं। विभूषित काष्ठासनों पर'। 'दारु' √दृ (फाडना) से या √द्रु (मारना) से। इसी धातु से 'द्रु' भी बना है। नव = नवोत्पन्न। अर्भक = जो बडा न हो। वे जैसे अपने आसनो पर शोभती हैं वैसे ही भूरे घोडे रास्तो मे शोभते हैं। यह दो भूरे घोडों का सम्मिलित वर्णन है।

इदं च मेऽदादिदं च मेऽदादिति ऋषिः प्रसंख्याय आह—'सुवास्त्वा अधि तुग्वनि'। सुवास्तुः नदी। तुग्व (२०) तीर्थं भवति।

तूर्णमेतदायान्ति। 'कुविन्नंसन्ते मरुतः पुनर्नः'। पुनः नः नमन्ते मरुतः। नसन्त (२२) इति उपरिष्टाद् (निरु० ७।१७) व्याख्यास्यामः। 'ये ते मदा आहनसो विहायसस्तेभिरिन्द्रं चोदय दातवे मघम्'। ये ते मदा. आहननवन्तः वचनवन्तः तैः इन्द्रं चोदय दानाय मघम्॥ १५॥

'मुझे यह दिया, मुझे यह दिया'—इस प्रकार की गणना करके ऋषि ने कहा*—'सुवास्तु-नदी के तट पर'' (ऋ० ८।१९।३७)। सुवास्तु एक नदी है। 'तुग्व' तट को कहते हैं क्योंकि लोग इसके पास शीघ्र आते हैं (दान करने के लिए—दुर्ग)।

'मरुद्गण सम्भवत हमारे लिए फिर झुकें' (ऋ० ५।५८.५) = हमारे लिए मरुद्गण फिर झुकते हैं। 'नसन्त' की व्याख्या बाद में (७।१७) में करेंगे।

'जो तुम्हारे पास आनन्दप्रद, मोहक (आहनस = पीसने योग्य) और महान् (सोम) है उससे इन्द्र को धन देने के लिए प्रेरित करो' (ऋ० ९।७५।५)। तुम्हारे पास जो मादक, आहनन से युक्त = ठगने वाले (मोहक) [सोम हैं] उनसे इन्द्र को धन देने के लिए प्रेरित करो॥ १५॥

उपो अदर्शि शुन्ध्युवो न वक्षो नोधा इवाविरकृत प्रियाणि।
अद्मसन्न ससतो बोधयन्ती शश्वत्तमागात्पुनरेयुषीणाम्॥

[ऊषा] (शुन्ध्युव.) शुद्ध करने वाले आदित्य के (वक्ष: न) वक्ष स्थल के समान (उप उ अदर्शि) दिखाई पड़ी। (नोधा) गायक (इव) के समान उसने (प्रियाणि) प्रिय वस्तुएं (आविः अकृत) दिखायी हैं। (अद्मसत् न) अन्न बाँटनेवाली स्त्री के समान (ससत.) सोये हुए लोगों को (बोधयन्ती) जगाती हुई (पुन) फिर (एयुषीणाम्) आनेवाली सभी देवियों में (शश्वत्तमा) सबसे अधिक नियम का पालन करनेवाली (आगात्) आयी है। (ऋ० १।१२४।४)।

उपादर्शि। शुन्ध्युवः। शुन्ध्युः आदित्यो भवति। शोधनात्। तस्यैव वक्ष. भासः। अध्यूढम्। इदमपि इतरद् वक्षः एतस्मादेव। अध्यूढ काये। शकुनि. अपि शुन्ध्यु. उच्यते, शोधनादेव। उदकचरो भवति। आपोऽपि शुन्ध्यवः उच्यन्ते। शोधनादेव। नोधाः ऋषि. भवति। नवनं दधाति। स यथा स्तुत्या कामानाविष्कुरुते, एवमुषा रूपाण्याविष्कुरुते। अद्मसद्—अद्म अन्नं भवति। अद्मसादिनी इति वा, अद्मसानिनी इति वा। 'ससतो

*गणनावाली ऋचा यों है (दुर्ग)—अदान्मे पौरुकुत्स्यः पञ्चाशत त्रसदस्युर्वधूनाम्। मंहिष्ठो अर्यः सत्पतिः। (ऋ० ८।१९।३६)

बोधयन्ती शश्वत्तमागात् पुनरेयुषीणाम्।' स्वपतो [बोधयन्ती शाश्वतिकतमा आगात् पुनः आगामिनीनाम्॥

दिखलायी पड़ी। पवित्र करने वाले के। शुन्ध्यु = आदित्य, शुद्ध करने से। उसी के वक्षःस्थल अर्थात् ज्योति के समान। जो (ज्योति) काफी बढ़ी हुई है। यह दूसरे अर्थवाला (छाती) वक्ष भी इसी से बना है। जो शरीर में निकला हुआ है। (√वह्)। पक्षी को भी शुन्ध्यु कहते हैं, शुद्ध करने से। वह जल में चलता है (अर्थात् बहुत शुद्ध रहता है—दुर्ग) जल को भी शुन्ध्यु कहते हैं, शुद्ध करने से ही। 'नोधा' ऋषि को कहते हैं क्योंकि स्तुति धारण करता (बनाता) है। जैसे स्तुति के द्वारा वह अपनी इच्छाओं का प्रदर्शन करता है, उसी तरह ऊषा अपने रूप का आविष्कार करती है। अद्मसद् = 'अद्म' अन्न को कहते हैं, जो अन्न पर बैठे या अन्न प्राप्त करे (माता या स्त्री)। सोये हुए लोगों को जगाती हुई फिर आनेवाली सभी देवियों में सर्वाधिक नियम का पालन करनेवाली (ऊषा) आयी है।

विशेष—अद्मसद् = अन्न बाँटनेवाली माता। जैसे प्रातःकाल माता अपने पुत्रों को दूध, अन्न आदि देने के लिए जगाती है वैसे ही ऊषा भी जगाती हुई आती है। अन्तिम में 'ससतो॰' इत्यादि मूल ऋचा का उद्धरण देकर यास्क ने उसके शब्दों के प्रतिशब्द दिये हैं। मैंने दोनों का अलग-अलग अनुवाद निरर्थक समझकर छोड़ दिया है।

'ते वाशीमन्त इष्मिणः'। ईषणिनः इति वा। एषणिनः इति वा। आर्षणिनः इति वा। 'वाशी' इति वाङ्नाम (निघ॰ १।११।११) वाश्यते इति सत्या.।

'वे लोग बुद्धि से युक्त और इच्छाओं से युक्त हैं' (ऋ॰ १।८७।६)। शक्तिमान्, या इच्छा से युक्त, या सबों का साक्षात्कार करनेवाले। वाशी=वाणी क्योंकि इसे बोला जाता है। (वाश् = चिल्लाना; तुलनीय—'विभ्यस्यन्तो ववा-शिरे'—नि॰ १।१०)।

- 'शंसावाध्वर्यो प्रति मे गृणीहीन्द्राय वाहः कृणवाव जुष्टम्।' अभिवहनस्तुतिम्। अभिषवणप्रवादां स्तुतिं मन्यन्ते। ऐन्द्री त्वेव शस्यते। परितक्म्या (२७) इत्युपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः (निरु॰ ११।२५)॥

हे अध्वर्यो! (मे प्रति गृणीहि) मेरे सामने गीत गाओ, हम दोनों उसकी प्रशंसा करें (शंसाव), इन्द्र के लिए प्रिय स्तुति (वाहः) की रचना करें (ऋ॰ ३।५३।३)। कुछ लोग इसे आवाहन की स्तुति मानते हैं, दूसरे इसे सोम पीसने का वर्णन समझते हैं। तथापि यह इन्द्र की स्तुति के रूप में है। 'परितक्म्या' की व्याख्या बाद में होगी॥ १६॥

विशेष—अभिवहन = बुलाकर ले आना, स्तोत्र ही देवताओ को लाता है। अभिषवण प्रवाद = सोम पीसने के विषय मे।

तृतीय-पाद

सुविते (२८)। सु इते। सूते। सुगते प्रजायामिति। वा। 'सुविते मा धा.' इत्यपि निगमो भवति। दयति. (२९) अनेककर्मा। 'नवेन पूर्वं दयमाना. स्याम'—इत्युपदयाकर्मा। 'य एक इद्विदयते वसु'—इति दानकर्मा वा विभागकर्मा वा। 'दुर्वर्तुर्भीमो दयते वनानि'—इति दहतिकर्मा। दुर्वर्तु = दुर्वार। 'विदद्वसुर्दयमानो वि शत्रून्'—इति हिंसाकर्मा॥

सुविते = सु + इते, या सूते अर्थात् सुन्दर ढङ्ग से जाना, या उत्पन्न करना। 'सुन्दर स्थान मे मुझे धारण करो' (मैत्रा० स० १।२।७, तै० स० १।२।१०।२)—यह भी वैदिक उद्धरण है। 'दयति' के अनेक अर्थ हैं।* 'नय से हम प्राचीन की रक्षा करते रहें'—(मैत्रा० स० ४।१३।७) यहाँ रक्षा के अर्थ मे। 'अकेले ही जो धन का वितरण करता है' (ऋ० १।८४।७)—यहाँ दान या विभाजन के अर्थ में। 'वह अवारणीय तथा भयङ्कर बनकर वनों को जलाता है' (ऋ० ६।६।५)—यहाँ जलाने के अर्थ मे। दुर्वर्तु = जिसका वारण करना कठिन है। 'धन को जाननेवाला अपने शत्रुओ का नाश करते हुए …' (ऋ० ३।३४।१)—यहाँ हिंसा के अर्थ मे॥

इमे सुता इन्दव. प्रातरित्वना सजोपसा पिवतमश्विना तान्।
अयं हि वामूतये वन्दनाय मा वायसो दोपा दयमानो अबुबुधत्॥

प्रात काल मे आनेवाले तथा समान बल (जोष) वाले, हे अश्विन् युगल! ये सोम पीसे गये हैं, इन्हे पी लें। यह आप दोनो की रक्षा और वन्दना करने के लिए है, प्रात काल (दोषा) मे उडनेवाले (दयमान) कौए ने मुझे जगा दिया है।

विशेष—इस ऋचा का स्थान नही मिल सका है किन्तु यह भी स्वर के चिन्हों के साथ पाया गया है जैसे ऋग्वेद के अन्य उद्धरण। सम्भव है कि ऋग्वेद की लुप्त बाष्कल शाखा मे यह हो।

दयमान. इति॥ नूचित् (३०) इति निपात. पुराणनवयो।

---

* जैसे सुविते शब्द में भिन्न धातुओं से शब्द का खण्ड करके अनेक अर्थ किये गये हैं, उस प्रकार दयति में नहीं। यह धातु ही अनेकार्थक है। 'एकप्रकृतिरेवाय शब्दोऽनेकार्थो भवतीत्येतस्य विशेषस्याप्यर्थेतनार्थमुदाहरति'—दुर्ग।

नू च (३१) इति च। 'अद्या चिन्नू चित्तदपो नदीनाम्'। अद्य च पुरा च तदेव कर्म नदीनाम्। 'नू च पुरा च सदनं रयीणाम्'—अद्य च पुरा च सदनं रयीणाम्। रयिः इति धननाम। रातेःदानकर्मणः॥

दयमान = (उड़ते हुए)॥ 'नू चित्' निपात है तथा पुराने और नये के अर्थों में आता है। 'नू च' भी वैसा ही है। 'आज और पहले भी नदियों का वही कर्म (अप.) है' (ऋ० ६।३०।३)—(नू = पहले)। 'धनों का आधुनिक और प्राचीन निवासस्थान' (ऋ० १।९६।७)—(नू = आज)। रयि = धन, √रा = देना, से॥ १७॥

'विद्याम तस्य ते वयमकूपारस्य दावने'—विद्याम तस्य ते वयम् अकुपरणस्य दानस्य।

हम तुम्हारे उस असीम दान को पावें (ऋ० ५।३९।२, सा० २।५२१)। अकूपारस्य = जिसका पारावार न हो। दावन = दान। विद्याम = पावें।

आदित्योऽपि अकूपार उच्यते, अकूपारो भवति = दूर-पार। समुद्रोऽपि अकूपार उच्यते, अकूपारो भवति = महा-पार। कच्छपोऽपि अकूपार उच्यते, अकूपारः = न कूपमृच्छति इति। कच्छपः = कच्छं पाति। कच्छेन पाति इति वा। कच्छेन पिबति इति वा। कच्छः = खच्छः, खच्छदः। अयमपीतरो नदीकच्छः एतस्मादेव। कम् = उदकम्। तेन छाद्यते॥

सूर्य को भी अकूपार कहते हैं, वह अकुत्सित (सुन्दर) [मार्ग को] पार करता है (वह असीम है, उसे पार करना कठिन है।) समुद्र को भी अकूपार कहते हैं, वह असीम है, उसकी सीमा (पार) विशाल है। कछुआ भी अकूपार (अ-कूप-आर) कहलाता है, अकूपार=कुएँ में नहीं चलता (जलाभाव से—दुर्ग)। कच्छप = अपने मुँह की रक्षा करता है, अथवा अपनी पीठ के द्वारा (अपना मुँह छुपाकर) रक्षा करता है, या मुँह से पीता है (√पा)। कच्छ (कछुए का मुँह या पीठ) = कच्छ अर्थात् जो खाल या (स्थान) को ढके (ख+√छद्)। कच्छ का यह दूसरा 'नदी तट' वाला अर्थ भी इसी से आया है। क = जल, उससे ढका है (√छद्)॥

'शिशीते शृङ्गे रक्षसे विनिक्षे' = निश्यति शृङ्गे रक्षसो विनिक्षणाय। रक्षः = रक्षितव्यम् अस्मात्। रहसि क्षणोति इति वा। रात्रौ नक्षते इति वा। 'अग्निः सुतुकः सुतुकेभिरश्वैः'। सुतुकनः सुतुकनैः इति वा। सुप्रजाः सुप्रजोभिः इति वा। 'सुप्रायणाः अस्मिन्यज्ञे विश्रयन्ताम्'। सुप्रगमनाः॥ १८॥

'राक्षसो के विनाश के लिए अपनी दोनो सीगों को तेज करते हैं' (ऋ० ५।२।९)—वही अर्थ। रक्ष –जिससे अपनी रक्षा करनी चाहिए, या जो एकान्त मे (रहस्) आक्रमण करे (√क्षण्), या जो रात मे पहुँचे (√नक्ष्)।

'बलवान अग्नि दलवान् अश्वो के द्वारा' (ऋ० १०।३।९)=तेज (अग्नि) तेज (घोड़ो) के द्वारा, या सुन्दर सन्तान (स्वर्ण)* वाले (अग्नि) सुन्दर कुल मे उत्पन्न (घोडो) के साथ।

'तेज चलने वाले (लोग) इस यज्ञ मे विश्राम करें' (वा० स० २८।५) सुन्दर (या तेज) गति वाले ॥ १८ ॥

देवा नो यथा सदमिद्वृधे असन्नप्रायुवो रक्षितारो दिवे-दिवे।

(यथा) जिससे (न) हमारे लिए (देवा) देवता लोग (सदम् इत्) सदा ही (दिवेदिव) प्रतिदिन (अप्रायुव) बिना प्रमाद किये हुए तथा (रक्षितार) रक्षा करते हुए (वृधे) वृद्धि करने मे (असन्) लग जायें—लेट् लकार (ऋ० १।८९।१) ॥

देवा. न. यथा सदा वर्धनाय स्यु। अप्रायुव.=अप्रमाद्यन्त, रक्षितारश्च अहनि अहनि।

जिससे देवगण हमारी निरन्तर वृद्धि करें। अप्रायुव =बिना भूल-चूक किये हुए, वे प्रतिदिन रक्षा करें।

च्यवन. (३८) ऋषि भवति, च्यावयिता स्तोमानाम्। 'च्यवानम्' इति अपि अस्य निगमा. भवन्ति—

'युव च्यवान सनय यथा रथ पुनर्युवान चरथाय तक्षथु।'

युवा च्यवानं, सनय = पुराण, यथा रथ पुन. युवानं चरणाय ततक्षथु.। युवा=प्रयौति कर्माणि। तक्षति. करोतिकर्मा ॥

च्यवन एक ऋषि का नाम है जो स्तोत्रों का संग्रह करने वाले हैं। 'च्यवान' के रूप म भी इस शब्द क वैदिक प्रयोग हैं—'आप दोनों ने वृद्ध च्यवान को फिर युवक बना दिया है रथ की तरह उड चलने लायक कर दिया है' (ऋ० १०।३९।४)। सनय = पुराने। (शेष वही अर्थ)। युवा = जो कार्यों का मिश्रण (सम्पादन √यु) करता है। √तक्ष् = करना।

रज. (३९) रजते.। ज्योति. रज. उच्यते। उदक रज. उच्यते। लोका. रजांसि उच्यन्ते। असृगहनी रजसी उच्येते। (रजांसि चित्रा वि चरन्ति तन्यव —इत्यपि निगमो भवति)।

---

* अग्नि की सन्तान स्वर्ण है—तुल० हिरण्यरेता अग्नि, अग्नेरपत्यं प्रथम सुवर्णम्।

हरः (४०) हरतेः । ज्योतिः हरः उच्यते । उदकं हरः उच्यते । लोका हरांसि उच्यन्ते । (असृगहनी हरसी उच्येते । 'प्रत्यग्ने हरसा हरः शृणीहि'—इत्यपि निगमो भवति ।)

रजस् √रञ्ज् (रँगना) से । प्रकाश को रज कहते हैं, जल को रजस् कहते हैं सभी लोकों को रज कहते हैं । रक्त तथा दिन को भी रज कहते हैं । [रंग-बिरंगे और गरजने वाले लोक विभिन्न दिशाओं में जाते हैं (ऋ० ५।६३।३)—यह वैदिक उद्धरण है ।] हर √हृ (ले लेना) से । प्रकाश को हर कहते हैं जल को हर कहते हैं, लोकों को हर कहते हैं । [रक्त तथा दिन को भी हर कहते है । 'हे अग्ने, इस प्रकाश को अपने प्रकाश से मिला दो' (ऋ० १०।८७।२५)—यह भी वैदिक उद्धरण है ।]

'जुहुरे वि चितयन्त.' = जुह्विरे विचेतयमानाः । व्यन्तः (४२) इत्येष अनेककर्मा । 'पद देवस्य नमसा व्यन्त.'—इति पश्यतिकर्मा । 'वीहि शूर पुरोळाशम्'—इति खादतिकर्मा । 'वीतं पातं पयस उस्रियाया.'—अश्नीतं पिबतं पयस. उस्रियायाः । उस्रिया इति गोनाम । उस्राविण्य. अस्या भोगाः । (उस्रा इति च) ॥

'ज्ञानियों ने यज्ञ किया' (ऋ० ५।१९।२) अर्थात् यथार्थ ज्ञानवालों ने यज्ञ किया । व्यन्तः' के अनेक अर्थ हैं । 'देवता के चरण को नमस्कार के द्वारा देखते हुए…' (ऋ० ६।१।४)—यहाँ देखने के अर्थ में । हे वीर, इस दिये हुए पदार्थ (पुरोडाश) को स्वीकार करो' (ऋ० ३।४१।३)—यहाँ खाने के अर्थ में । 'गाय का दूध खाओ, पीओ' (ऋ० १।१५३।४)– (वही अर्थ) उस्रिया = गाय क्योंकि इससे भोग्य पदार्थ निकलते हैं । (उस्रा का भी वही अर्थ है) ॥

'त्वामिन्द्र मतिभि. सुते सुनीथासो वसूयव. । गोभिः क्राणा अनूषत ॥' गोभि. कुर्वाणाः अस्तोषत ।

हे इन्द्र, बुद्धि के साथ सोम पीसने के बाद सुन्दर स्तुति करने वाले (सुनीथाः) और धन के इच्छुक (वसूयव) लोगों ने वाणी से तुम्हारी स्तुति की है । वाणी का [प्रयोग] करते हुए स्तुति की ॥

'आ तू पिञ्च हरिमी द्रोरुपस्थे वाशीभिस्तक्षताश्मन्मयीभिः ।' आसिञ्च हरिं द्रो. उपस्थे । द्रुममयस्य । हरिः सोमो हरितवर्णः । अयमपीतरो हरिः एतस्मादेव । 'वाशीभिस्तक्षताश्मन्मयीभि.' । वाशीभि. अश्ममयीभि. इति वा । वाग्भिः इति वा ॥

'सोम को काष्ठपात्र के मध्य में गिराओ, इसे पत्थर की सिल पर तैयार करो' (१०।१०१।१०)। सुनहले रस (सोम) को लकड़ियों की गोद में चुआओ। जो लकड़ी का बना हो। हरि = सोम, हरे रंग का। हरि का यह दूसरा अर्थ (बन्दर) भी इसी से आया है।* 'पत्थर की सिल पर (या छेनी से) इसे तैयार करो (काटो)'—पत्थर की सिल से, या स्तुतियों से।

'स शर्धदर्यो विपुणस्य जन्तोर्मा शिश्नदेवा अपि गुर्ऋतं न.॥' स उत्सहतां यो विपुणस्य जन्तो.=विषमस्य। मा शिश्नदेवा.। अब्रह्मचर्या.। शिश्नं श्नथते। अपि गुर्ऋतं न.। सत्यं वा यज्ञं वा ॥ १९ ॥

'वही स्वामी सभी जीवों की रक्षा करे, लिङ्ग की पूजा करने वाले हमारे यज्ञ में न आवें' (ऋ० ७.२१।५)। वह विभिन्न अर्थात् दुष्ट (विषम) जीवों पर शासन करे। लिङ्ग को देवता समझने वाले, अनाचारी—शिश्न √श्नथ् (छेदना) से—लोग हमारे ऋत अर्थात् सत्य या यज्ञ में प्रवेश न करें ॥ १९ ॥

आ घा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामय. कृणवन्नजामि।
उप बर्बृहि वृषभाय बाहुमन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत् ॥

(घ) निश्चय ही (ता) वे (उत्तरा) आगामी (युगानि) युग (आगच्छान्) आवेंगे (यत्र) जब (जामय) स्वजन भी (अजामि) परजन या अज्ञात—जैसा (कृणवन्) व्यवहार करेंगे। (सुभगे) हे सुन्दरि, (बाहुम्) अपनी बाँहों को (वृषभाय) अपने पति के लिए (उप बर्बृहि=उपबर्हि) तकिया बना दो और (मत्) मेरे अलावे (अन्यम्) दूसरे (पतिम्) पति को (इच्छस्व) चाहो। (ऋ० १०।१०।१०)॥

विशेष—ऋग्वेद के प्रसिद्ध यम यमी संवाद-सूक्त का यह मंत्र है। यमी ने यम से रति की याचना की, तो यम ने अस्वीकार करते हुए कहा कि यह युग ऐसा नहीं, यह तो सत्ययुग है। एक युग आवेगा जब भाई बहन विवाह कर लेंगे। इस लिए, हे सुन्दरि, मुझे पति मत बनाओ। मैं तुम्हारे कुल का ही हूँ। दूसरे कुल का पति चुनो। ऋग्वेद की सामाजिक-व्यवस्था पर इस मंत्र से अच्छा प्रकाश पड़ता है। विदेशी-विद्वान् इस सूक्त को नाटक का आदि रूप मानते हैं।

आगमिष्यन्ति तानि उत्तराणि युगानि यत्र जामय. करिष्यन्ति अजामिकर्माणि। जामि अतिरेकनाम। बालिशस्य वा। अस-

---

* इनका रंग होने के कारण बन्दर को हरि कहते हैं। दुर्गाचार्य ने रामायण के नाम से एक उद्धरण दिया है—हरिरिव कुसुमस्तबकैश्चितशिखरैश्चकाशे।

मानजातीयस्य वा मिः उपजन। उपबेहि वृषभाय बाहुम्। अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्—इति व्याख्यातम् ॥ २० ॥

बादवाले ऐसे युग आवेंगे जब बहनें बहनों के न करने योग्य काम करेंगी। जामि = पुनरुक्ति, या मूर्ख, या दूसरी जाति। 'मि' प्रत्यय है। उस पति के लिए बाँहों को तकिया बनाओ। मेरे अलावे किसी दूसरे को पति बनाओ—यह स्पष्ट है ॥ २० ॥

विशेष—बालिश = मूर्ख जो धर्मादि कार्यों में बालकों के समान सोया रहता है। असमान=किसी की बहन दूसरे व्यक्ति के लिए परजाति की ही होती है।

द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम्।
उत्तानयोश्चम्वोर्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात् ॥

(द्यौ.) स्वर्गलोक (मे) मेरा (पिता, जनिता) पिता अर्थात् उत्पन्न करने वाला है, (अत्र) यहाँ पर (नाभिः बन्धु.) नाभि या गर्भ सम्बन्धी बन्धु लोग हैं, (इय) यह (मही) बड़ी (पृथिवी) पृथ्वी (मे) मेरी (माता) माँ है। (उत्तानयो) फैले हुए दोनों (चम्वोः) कटोरों अर्थात् गोलार्द्धों के (अन्तः) बीच में (योनि) गर्भाशय है, (अत्र) यहाँ (पिता) पिता ने (दुहितु) पुत्री को (गर्भम्) गर्भ (आधात्) धारण कराया। (ऋ० १।१६४।३३)।

द्यौः मे पिता (४७)=पाता वा, पालयिता वा। जनयिता। नाभिः अत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महती इयम्। बन्धुः सम्बन्धनात्। नाभिः सन्नहनात्। नाभ्या सन्नद्धा गर्भा जायन्ते—इत्याहुः। एतस्मादेव ज्ञातीन् सनाभयः इति आचक्षते, सबन्धवः इति च। ज्ञातिः संज्ञानात्। 'उत्तानयोश्चम्वोर्योनिरन्त.'—उत्तानः=उत्ततानः, ऊर्ध्वतानो वा। तत्र पिता दुहितुः गर्भं दधाति=पर्जन्यः पृथिव्याः ॥

स्वर्ग मेरा पिता अर्थात् रक्षक (√पा) या पालक है, वही उत्पन्न करने वाला है। यहाँ गर्भ में सम्बन्ध रखनेवाले (नाभि) बन्धु लोग हैं, यह बड़ी पृथ्वी मेरी माँ है; 'बन्धु' एक साथ बँधे होने के कारण और 'नाभि' एक बन्धन में होने के कारण (√नह्)। कहा गया है कि गर्भ [में रहने वाले बच्चे] नाभि (नाल) से बँधे हुए उत्पन्न होते हैं। इसी से निकट के सम्बन्धियों को सनाभि (समान नाभि या बन्धनवाले) अथवा सबन्धु कहते हैं। ज्ञाति = अच्छी तरह जानने के कारण। गर्भाशय दोनों फैले हुए कटोरों (गोलार्द्धों) के बीच में है। उत्तान=चारों ओर फैला हुआ, ऊपर तक फैला हुआ। यहाँ पिता पुत्री को गर्भ देता है अर्थात् मेघ पृथ्वी को [गर्भ देता है] ॥

[शंयुः (४८) सुखंयुः] 'अथा नः शं योररपो दधात' रपो रिप्रम् इति पापनामनी भवतः। शमनं च रोगाणां, यावनं च भयानाम्। अथापि शंयुः बार्हस्पत्यः उच्यते। 'तच्छंयोरावृणीमहे गातुं यज्ञाय गातुं यज्ञपतये'—इत्यपि निगमो भवति। गमनं यज्ञाय गमनं यज्ञपतये॥

[शान्ति का इच्छुक या सुख का इच्छुक।] 'अब हम लोगों को पाप-रहित शान्ति और सुख प्रदान कीजिये' (ऋ० १०।१५।४)। 'रपस्' और 'रिप्र' दोनों पाप के पर्याय हैं। (शंयु =) रोगों को शान्त करनेवाला (√शम्) और भय से बचानेवाला (√यु)। बृहस्पति के वंशज को भी शंयु कहते हैं—'यज्ञ में जाने के लिए, यज्ञपति के पास जाने के लिए हम शंयु की प्रार्थना करते हैं' (मैत्रा० ४।१३।१०, तै० सं० २।६।१०।२, श० ब्रा० १।९।१।२६)—यह वैदिक-प्रयोग है। यज्ञ में जाना, यज्ञपति के पास जाना॥ २१॥

चतुर्थ-पाद

अदितिः (४९) अदीना। देवमाता॥ २२॥

अदिति = जो दीन न हो, देवताओं की माता॥ २२॥

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः।
विश्वेदेवा अदितिः पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्॥

अदिति स्वर्ग है, अदिति अन्तरिक्ष है, अदिति माता है, वह पिता है, वह पुत्र है। सारे देवता तथा पाँच जन (जातियाँ) भी अदिति हैं, सभी उत्पन्न पदार्थ अदिति हैं तथा होनेवाले (भावी) पदार्थ भी अदिति हैं। (ऋ० १।८९।१०, वा० सं० २५।२३; अथ० ७।६।७)।

इत्यदितेः विभूतिमाचष्टे। एनानि अदीनानि इति वा॥
'यमेरिरे भृगवः'—एरिरे (५०) इति ईर्तिः उपसृष्टः अभ्यस्तः॥२३॥

इस प्रकार अदिति की महिमा का कथन है, अथवा ये सभी वस्तुएँ अ-दीन (समृद्ध) हैं। 'जिसे भृगुवंशियों ने उठाया' (ऋ० १।१४३।४)। 'एरिरे' शब्द में √ईर् (उठाना) का अभ्यास (द्वित्व) तथा {'आ'} उपसर्ग लगा है।

विशेष—'एरिरे' में दो रकार अभ्यास से नहीं आये हैं। लिट् लकार में 'झ' (आत्मनेपद अन्यपुरुष बहुवचन की विभक्ति) के स्थान में 'इरे' आदेश हो जाता है। देखिये पा० सू० 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' (३।४।८१)॥

उत स्मैनं वस्त्रमथिं न तायुमनु क्रोशन्ति क्षितयो भरेषु।
नीचायमानं जसुरिं न श्येनं श्रवश्चाच्छा पशुमच्च यूथम्॥

(उत स्म) और (एनम्) इस इन्द्र को (क्षितय) मनुष्य लोग (भरेषु) युद्धों में (अनुक्रोशन्ति) पुकारते हैं (वस्त्रमथि तायु न) जैसे वस्त्र चुराने वाले चोर को [पुकारते हैं], या (नीचायमान) नीचे आते हुए और (जसुरि) खुले हुए (श्येन न) बाज को जैसे [पुकारते हैं] (अच्छा च) अथवा (पशुमत्) पशुयुक्त (श्रव) प्रशंसनीय (यूथम्) झुण्ड को [पुकारते हैं]। (ऋ० ४।३८।५)॥

अपि स्म एन वस्त्रमथिमिव = वस्त्रमाथिनम्। वस्त्र वस्ते। तायु इति स्तेननाम। सस्त्यानम् अस्मिन्पापकमिति नैरुक्ता। तस्यते वा स्यात्। अनुक्रोशन्ति क्षितय सग्रामेषु। भर इति सग्रामनाम। भरते वा, हरते वा। नीचायमानम्=नीचै अयमानम्। नीचै =निचित भवति। उच्चै =उच्चित भवति। जस्तमिव श्येनम्। श्येन शसनीय गच्छति। श्रवश्चाच्छा पशुमच्च यूथम्। श्रवश्च अपि पशुमच्च यूथम्। प्रशसा च यश च। धन च यूथ च इति वा। यूथ यौते, समायुत भवति॥

और उस वस्त्रमथि अर्थात् कपड़े चुराने वाले के समान। वस्त्र √वस् (पहनना) से। तायु चोर का पर्याय है क्योंकि इसमें पाप भरे हुए रहते हैं—ऐसा निरुक्तकारों का कहना है। अथवा √तस् (नाश करना) से बना है। मनुष्य लोग युद्धों में उसे पुकारते हैं। भर युद्ध का पर्याय है। √भृ (धारण करना) या √हृ (हरण करना) से। नीचायमान=नीचे की ओर जाते हुए। नीचै =नीचे की ओर जाना। उच्चै =ऊपर की ओर जाना। छूटे हुए (जस्त) बाज का।[1] श्येन=जो प्रशंसनीय ढंग से चले। अथवा पशुयुक्त प्रशंसनीय झुण्ड को [पुकारते हैं]। प्रशंसनीय पशु समूह को। प्रशंसा तथा समूह को। या धन तथा समूह को। यूथ √यु (जोड़ना) से क्योंकि यह संयुक्त (मिश्रित) होता है॥

'इन्धान एन जरते स्वाधी'=गृणाति। मन्दी (५३) मन्दते स्तुतिकर्मण। 'प्र मन्दिने पितुमदर्चता वच'=प्रार्चत मन्दिने पितुमद् वच। गौ (५४) व्याख्यात ॥ २४ ॥

प्रज्वलित करते हुए सुन्दर बुद्धि वाला मनुष्य उसकी स्तुति करता है

१ दुर्ग के अनुसार जस्त का अर्थ है बद्ध, अर्थात् पैर बँधे होने पर बाज उड़ नहीं सकता और नीचे [illegible] करता है। किन्तु यह असंगत अर्थ है क्योंकि ऐसा [illegible] बाज किस प्रकार [illegible] कर सकता है? इसका अर्थ [illegible] है।—डा० सरूप।

(ऋ० १०।१५।१) = प्रशंसा करता है। मन्दी (प्रशंस्य) = स्तुत्यर्थक √मन्द से। 'प्रशंसनीय (इन्द्र) की अन्नयुक्त वाणी में स्तुति करो' (ऋ० १।१०१।१)। [वही अर्थ।] गो की व्याख्या हो चुकी है ॥ २४ ॥

'अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम्। इत्था चन्द्रमसो गृहे ॥' अत्र ह गोः सममंसत आदित्यरश्मयः स्वं नाम अपीच्यम् अपगतम्। अपचितम्–अपिहितम्–अन्तर्हितम्। अमुत्र चन्द्रमसो गृहे॥

'सचमुच इस स्थान पर [लोगों ने] किरणों को (गो.) सूर्य से पृथक् (अपीच्यम्) ही समझा है; यहाँ पर चन्द्रमा के घर में' (ऋ० १।८४।१५) ॥ इस स्थान पर सचमुच गो अर्थात् सूर्यकिरणों को अपने रूप में पृथक् या असम्बद्ध समझे। हटाया हुआ, अलग या छिपा हुआ। वहाँ चन्द्रमा के घर में ॥

गातुः (५५) व्याख्यातः (४।२१) ['गातुं कृण्वन्नुषसो जनाय'—इत्यपि निगमो भवति] ॥ दंसयः (५६) कर्माणि। दंसयन्ति एनानि। 'कुत्साय मन्मन्नह्यश्च दंसयः' इत्यपि निगमो भवति ॥ 'स तूताव नैनमश्नोत्यंहतिः'। स तुताव। नैनम् अंहतिः अश्नोति। अंहतिः च, अंहः च, अंहुः च हन्तेः निरूढोपधात् विपरीतात् ॥

'गातु' की व्याख्या हो चुकी है (निरुक्त ४।२१)। ['उषाओं ने मनुष्य में गति (उत्साह) कर दी' (ऋ० ४।५१।१)—यह भी वैदिक-प्रयोग है।] दंसयः = कार्य, क्योंकि लोग इन्हें समाप्त करते हैं (√दंस्)। 'किसान के लिए कामों को (कृषि कर्म को), [सफल] समझते हुए मेघ में निवास करने वाले (अह्य) [जल को तुमने छोड़ा]' (ऋ० १०।१३८।१)—यह भी वैदिक उदाहरण है। 'वह बढ़ता है, उसके पास पाप नहीं पहुँचता (व्याप्त करता)'—(ऋ० १।९४।२)। वह बढ़ता है। उसके पास पाप नहीं पहुँचता है। अंहति, अंह और अंहु शब्द √हन् से बने हैं जिसमें उपधा को (हन् के अ को) निकाल कर [हन् वर्णों का] विपर्यय कर दिया जाता है (= हन् > अहन् > अनह् > अम्ह् = अंह्) ॥

विशेष—तूताव = तुताव √तु (बढ़ना)। देखिये—'तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य' (पा० सू० ६।१।७)। निरूढोपध = जिसकी उपधा निकल चुकी हो। 'अकारमुपधातो निष्कृष्य आदौ कृत्वा, ततो हकारनकारौ विपर्ययेण भवतः'—दुर्ग।

'बृहस्पते चयस इत्पियारुम्'—बृहस्पते यतु चातयसि देवपीयुम्। पीयतिः हिंसाकर्मा ॥ वियुते (५९) द्यावापृथिव्यौ।

वियवनात् । 'समान्या वियुते दूरे अन्ते' । समान संमानमात्रं भवति । मात्रा मानाद् । दूर व्याख्यातम् (३।१९) । अन्त. अतते. ॥ ऋधक् (६०) इति पृथग्भावस्य प्रवचन भवति । अथापि ऋध्नोत्यर्थे दृश्यते—'ऋधगया ऋधगुताशमिष्ठा.' ऋध्नुवन् अयाक्षी: ऋध्नुवन् अशमिष्ठा. इति च ॥

'हे बृहस्पते ! आप हिंसक का विनाश करते हैं' (ऋ० १।१९०।५) = हे बृहस्पते, जब आप देवताओ के हिंसक (यज्ञ न करनेवाले, स्वभोग प्रधान व्यक्ति) को मारते है । √पीय् = मारना । वियुते = द्यावापृथिवी क्योंकि एक दूसरे से पृथक् है । एक ही तरह से स्वर्ग और पृथिवी दूर पर समाप्त होते हैं' (ऋ० ३।५४।७) । समान = जिसकी नाप (मात्रा) एक समान हो । मात्रा = जो नापी जाय । 'दूर' की व्याख्या हो चुकी है (निरुक्त ३।१९) । अन्त √अत् (चलना) से ॥ 'ऋधक्' भिन्नता दिखलाने के अर्थ मे होता है ।[१] वृद्धि के अर्थ मे भी इसका प्रयोग देखा जाता है—'समृद्ध होकर तुमने यज्ञ किया (अया) और समृद्ध होकर [यज्ञ की] शान्ति की' (वा० स० ८।२०, कपि० स० ३।१०) = समृद्ध होते हुए यज्ञ किया; समृद्ध होते हुए ही श्रम किया ।

अस्या' (६१) इति च अस्य (६२) इति च उदात्तं प्रथमादेशे, अनुदात्तम् अन्वादेशे । तीव्रार्थतरम् उदात्तम् । अल्पीयोऽर्थतरम् अनुदात्तम् ॥

'अस्या ऊ षु ण उप सातये भुवोऽहेळमानो ररिवाँ अजाश्व [श्रवस्यतामजाश्व]'—अस्यै न सातये उपभव । अहेळमान. अक्रुध्यन् । ररिवान् राति. अभ्यस्त. । 'अजाश्व' इति पूषणमाह अजाश्व । अजा. = अजना. ॥

'अस्या:' और 'अस्य' इन दोनो मे, पहली बार कहने के समय, उदात्त स्वर होता है. दूसरी बार कहने के समय (द्वितीय-प्रयोग) अनुदात्त स्वर होता है । अधिक बल दिये गये अर्थ मे उदात्त तथा कम बल दिये गये अर्थ मे अनुदात्त होता है । 'बकरे की सवारी करने वाले [हे पूषन्], इसे पाने के लिए, क्रोध न करते हुए, और दान करते हुए हमारे पास आओ'

१. दुर्गाचार्य ने इस अर्थ को दिखलाने के लिए निम्न ऋचा देकर व्याख्या की है—
यदिन्द्र दिवि पार्ये यदृधग्यद्वा स्वे सदने यत्र वासि ।
अतो नो यज्ञमवसे नियुत्वान्त्सजोषा: पाहि गिर्वणो मरुद्भि: ॥ (४।४०।५)

(ऋ० १।१३८।४) [हे अजाश्व, कीर्तिमान् बनो]। इसे पाने के लिए हमारे पास आओ। अहेडमान = क्रोध न करते हुए। ररिवान् (दयालु) में √रा (देना) का अभ्यास हुआ है। 'अजाश्व' यह पूषा को कहा गया है—बकरे को घोड़ा (वाहन) समझने वाले। बकरे ही उनके दौड़ाहे (√अज्) हैं॥

विशेष—प्रथमादेश = किसी शब्द का पहले-पहल प्रयोग। अन्वादेश = एक बार प्रयोग कर लेने के बाद दूसरी बार का प्रयोग। उपर्युक्त उदाहरण में 'अस्या' का दूसरा वर्ण (Syllable) उदात्त है तथा इसे ऋग्वेद की रीति से अस्याः लिखेंगे। अगले उदाहरण में दोनों वर्ण अनुदात्त होने से अस्याः होगा।

अथ अनुदात्तम्। 'दीर्घायुरस्या यः पतिर्जीवाति शरदः शतम्'। दीर्घायुः अस्याः यः पतिः, जीवतु स शरदः शतम्। शरद्=शृता अस्याम् ओषधयो भवन्ति, शीर्णाः आपः इति वा। अस्य इति अस्याः इत्येतेन व्याख्यातम्॥ २५॥

अथ अनुदात्त ['अस्याः' का उदाहरण लें]—'उसका पति जो दीर्घायु है, सौ शरद्-ऋतुओं तक जीवित रहे' (ऋ० १०।८५।३९)—वही अर्थ। शरद् = जिसमें पौधे पक जाते हैं या जल बढ़ा रहता है। 'अस्याः' से ही 'अस्य' की भी व्याख्या हो गई।

अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम्॥

(अस्य) इस (वामस्य) भद्र और (पलितस्य) पालन करनेवाले (होतुः) होता का, (तस्य) उसका (मध्यमः भ्राता) मँझला भाई (अश्नः अस्ति) विद्युत् है; (अस्य) इसके (तृतीयो भ्राता) तीसरे भाई की (घृतपृष्ठः) पीठ घी की बनी है, (अत्र) यहाँ (सप्तपुत्रम्) सात पुत्रों वाले (विश्पतिम्) संसार के स्वामी को (अपश्यम्) मैंने देखा (ऋ० १।१६४।१)॥

अस्य वामस्य=वननीयस्य। पलितस्य=पालयितुः। होतुः=ह्वातव्यस्य। तस्य भ्राता मध्यमोऽस्ति अशनः। भ्राता भरतेः हरतिकर्मणः। हरते भागम्। भर्तव्यः भवति इति वा। तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठः अस्य अयमग्निः। तत्रापश्यं सर्वस्य पातारं वा पालयितारं वा विश्पतिम्। सप्तपुत्रं = सप्तमपुत्रम्। सर्पणपुत्रम् इति वा। सप्त सृप्ता संख्या। सप्त आदित्यरश्मयः इति वदन्ति॥२६॥

इस वाम अर्थात् सम्माननीय का। पलित अर्थात् पालन करने वाले का। होता अर्थात् पुकारने योग्य (पुरुष) का। विद्युत् उसका मँझला भाई

है। भ्राता √भृ = हरण करना, से। वह [पैतृक-सम्पत्ति का] एक भाग ले, लेता है। या भरण-पोषण करने लायक है। इसका तीसरा भाई घी की पीठ वाला है—वह अग्नि है[१]। वहाँ पर मैंने सबो की रक्षा या पालन करने-वाले ससार के स्वामी को देखा है। सात पुत्र वाले = सातवें पुत्र वाले को या सर्वलोगामी पुत्रो वाले। सप्त = बढी हुई (√सृप्) सख्या। कहते हैं कि सूर्य की सात किरणें हैं॥ २६॥

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा।
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थु.॥

(एकचक्र रथम्) एक पहिये वाले रथ को (सप्त) सात [किरणें] (युञ्जन्ति) जोतती हैं, (सप्तनामा) सात नामो वाला (एकः अश्व.) एक घोडा (वहति) उसे खीचता है। (चक्रम्) पहिया (त्रिनाभि) तीन नाभियो वाला, (अजरम्) अनश्वर और (अनर्वम्) अप्रतिहत है (यत्र) जहाँ (इमा-नि) ये (विश्वा-नि) सारे (भुवना नि) ससार (अधि तस्थु) ठहरे हैं। (ऋ० १।१६४।२)॥

सप्त युञ्जन्ति रथम् एकचक्रम् = एकचारिणम्। चक्रं चकते. वा, चरते. वा, क्रामते वा। एक. अश्व. वहति सप्तनामा = आदित्य.। सप्त अस्मै रश्मय. रसान् अभिसनामयन्ति। सप्त एनम् ऋषय स्तुवन्ति इति वा। इदमपीतरत् नाम एतस्मात् एव। अभिसनामात्॥

सातो एक पहिये वाले रथ को अर्थात् एक (पहिये) पर चलने वाले (रथ) को जोतते हैं। चक्र √चक् (हटाना) से, या √चर (चलना) से, या √क्रम (जाना) से। सात नामो वाला एक घोडा खीचता है अर्थात् आदित्य। इसके लिए सात किरणें रसो को ले आती हैं। अथवा सात ऋषि इसकी स्तुति करते हैं। यह दूसरे अर्थ वाला 'नाम' भी इसी से बना है (√नम्) क्योकि खीचा जाता है॥

विशेष—नाम अभिसनामात्—नाम (सज्ञा) भी अपने अर्थ का बोध कराने के लिए त्रिपाप्द में मुख्य या गौण अर्थ मे लिया जाता है—दुर्ग॥

सवत्सरप्रधानः उत्तरोऽर्धर्च.। त्रिनाभि चक्रम्। ऋतु. सवत्सर.—ग्रीष्म., वर्षा., हेमन्त इति। संवत्सरः संवसन्तेऽस्मिन् भूतानि। ग्रीष्म. = ग्रस्यन्ते अस्मिन् रसा.। वर्षा. = वर्षति आसु पर्जन्य.।

१. श्रूयते वायश्चे मन्त्रे—वायु, आदित्य, अग्निः—इत्येव परिसख्याय वायोरग्नी-योऽग्निर्भवति—दुर्ग।

हेमन्त.=हिमवान् । हिमं पुनः हन्तेः वा, हिनोतेः वा । अजरम्=अजरणधर्माणम् । अनर्वम् = अप्रत्यृतम् अन्यस्मिन् । यत्र इमानि सर्वाणि भूतानि अभिसंतिष्ठन्ते, तं संवत्सरं सर्वमात्राभिः स्तौति ॥

ऋचा के उत्तरार्ध मे संवत्सर की प्रधानता है—तीन नाभियोवाला पहिया अर्थात् तीन ऋतुओं वाला वर्ष = ग्रीष्म, वर्षा, हेमन्त । संवत्सर = जिसमे सभी जीव एक साथ निवास करते हैं । ग्रीष्म = जिसमे रसो को खींचा जाय । वर्षा = जब मेघ बरसे । हेमन्त = हिम से भरा हुआ । हिम भी √हन् (मारना) से या √हि (शीघ्रता करना) से । अजर = जिसका न नाश होना धर्म है अनर्व = दूसरे पर आश्रय न लेने वाला । जहाँ ये सारे जीव ठहरते हैं, उस संवत्सर की सब तरह से स्तुति करता है—॥

'पञ्चारे चक्रे परि वर्तमाने'—इति पञ्चर्तुतया । पञ्चर्तवः संवत्सरस्य इति च ब्राह्मणम् । हेमन्तशिशिरसमासेन । 'षळर आहुरर्पितम्'—इति षडृतुतया । अराः प्रत्यृताः नाभौ । षट् पुनः सहतेः । 'द्वादशारं न हि तज्जराय', 'द्वादशप्रधयश्चक्रमेकम्'—इति मासानाम् । मासाः मानात् । प्रधिः प्रहितः भवति ॥

'पाँच अराओं (Spokes) वाले पहिये के चल पड़ने पर···' (ऋ० १।१६४।१३)—यहाँ पाँच ऋतुओं के होने से । ब्राह्मण मे भी कहा है—वर्ष मे पाँच ऋतुयें हैं (तुल० ऐ० ब्रा० १।१, श० ब्रा० १।३।५।१)—हेमन्त और शिशिर को एक मानने पर । 'छह अराओं वाले (रथ) मे ही अर्पित किया हुआ कहते हैं' (ऋ० १।१६४।१२)—यहाँ छह ऋतुओं के होने से । अरायें (धुरे) नाभि मे अन्तर्भूत हैं । षट् √सह् (सहना) से । 'वह बारह अराओं वाला कभी नष्ट होने को नहीं है' (ऋ० १।१६४।११), 'बारह धुरे और एक पहिया ··' (ऋ० १।१६४।४८)—इनमे मासो का वर्णन है । मास नापने के कारण (√मा) । [महीने वर्ष को नापते हैं] प्रधि (धुरा) यह सुरक्षित होता है ॥

'तस्मिन्त्साकं त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलास ।' षष्टिः च ह वै त्रीणि च शतानि संवत्सरस्य अहोरात्रा इति च ब्राह्मणम् । समासेन ॥

९ हि० नि०

उसमे एक साथ ही मानो तीन सो छडें (Spokes) और एक दूसरे के पीछे चलनेवाली साठ अधिक (छडें) रखी गई हैं' (ऋ० १।१६४।४८)। ब्राह्मण मे भी कहा है कि साठ और तीन सो दिन (३६० दिन) एक वर्ष मे होते हैं। [दिन और रात को] एक मे लिया जाता है ॥

विशेष—तस्मिन् + साकम् = तस्मिन्त्साकम्। देखिये पा० सू० 'नश्च' (८।३।३०) जिसके अनुसार पदान्त न् के बाद स् होने से धुट् (ध्-त्) का आगम हो जाता है। अंग्रेजी मे इसे (Clide sound) कहते हैं। Cf- humle > humble, लैटिन–humilis इत्यादि। यहाँ बीच मे b आया है। वेद मे चान्द्रवर्ष के ३६० दिनों की गणना का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है।

'सप्त शतानि विंशतिश्च तस्थुः'। 'सप्त च वै शतानि विंशतिश्च संवत्सरस्य अहोरात्रा' इति च ब्राह्मणम्। विभागेन विभागेन ॥ २७ ॥

'सात सौ और बीस हुए थे' (ऋ० १।१६४।११)। ब्राह्मण मे भी है (ऐ० २।१७)—'सात-सौ-बीस दिन और रात साल मे होते हैं।' [यहाँ दिन और रात] अलग-अलग लिये गये हैं ॥ २७ ॥

विशेष—अध्याय के अन्त मे 'विभागेन' की द्विरुक्ति हुई है ॥ २७ ॥

॥ इति निरुक्ते चतुर्थोऽध्यायः ॥

हिन्दी-निरुक्त

सप्तम अध्याय

प्रथम-पाद

अथातो दैवतम्। तत् यानि नामानि प्राधान्यस्तुतीना देवतानां तत् दैवतमिति आचक्षते। सा एषा देवतोपपरीक्षा। यत्काम ऋषि यस्या देवतायाम् आर्थपत्यम् इच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते, तद्दैवत स मन्त्रो भवति। ता त्रिविधा ऋच—परोक्षकृता, प्रत्यक्षकृता, आध्यात्मिक्य च। तत्र परोक्षकृता सर्वाभि नामविभक्तिभि युज्यन्ते, प्रथमपुरुषैश्च आख्यातस्य ॥ १ ॥

अब दैवत-काण्ड [आरम्भ होता है]। जिन नामो मे मुख्यरूप से देवताओं का वर्णन है [उनका सग्रह] दैवत' कहलाता है। आगे (इस काण्ड मे) देवताओं की पूरी परीक्षा (वर्णन) है। [किसी मन्त्र मे] कोई कामना लेकर, कोई ऋषि, जिस देवता का प्रधान अर्थ चाहता हुआ, स्तुति करता है—उसी देवता का वह मन्त्र होता है। तो, ये ऋचायें (मन्त्र) तीन तरह की हैं—परोक्षत कही गई, प्रत्यक्षत कही गई और स्वय कही गई।

(१) परोक्षत कही गई ऋचायें नाम की सभी विभक्तियो मे तथा क्रिया के प्रथम (= अन्य) पुरुष मे रहती हैं जैसे—॥ १ ॥

'इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्या'। 'इन्द्रमिद् गाथिनो बृहत्' 'इन्द्रेणैते तृत्सवो वेविषाणा'। 'इन्द्राय साम गायत'। 'नेन्द्राद् ऋते पवते धाम किंचन'। 'इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्र वोचम्'। 'इन्द्रे कामा अयसत' इति ॥

'इन्द्र स्वर्ग और पृथ्वी पर शासन करते हैं' (ऋ० १०।८९।१०)। 'गायक गण इन्द्र की उच्च स्वर से ···' (ऋ० १।७।१)। 'इन्द्र के साथ ये कर्मठ तृत्सुगण ···' (ऋ० ७।१८।१५)। 'इन्द्र के लिए साम गाओ' (ऋ० ८।९८।१)। 'इन्द्र के बिना कोई ज्योति स्थान पवित्र नहीं' (ऋ० ९।६९।६)। 'मैं अब इन्द्र के वीरकर्मों को कहूँगा' (ऋ० १।३२।१)। 'इन्द्र मे कामनायें स्थिर हैं' ॥

विशेष—इन उद्धरणो मे प्रथमा, द्वितीया आदि मे उदाहरण दिखाकर परोक्ष मे कही गई ऋचाओ का स्पष्टीकरण हुआ है ॥

अथ प्रत्यक्षकृता मध्यमपुरुषयोगाः । त्वमिति च एतेन सर्वनाम्ना । 'त्वमिन्द्र बलादधि' । 'वि न इन्द्र मृधो जहि' इति । अथापि प्रत्यक्षकृता स्तोतारो भवन्ति, परोक्षकृतानि स्तोतव्यानि । 'मा चिदन्यद्वि शसत' । 'कण्वा अभि प्र गायत' । 'उप प्रेत कुशिकाश्चेतयध्वम्' इति ।

(१) प्रत्यक्षत कही गई ऋचायें मध्यमपुरुष मे होती हैं = 'तुम' सर्वनाम से सयुक्त रहती हैं जैसे—'हे इन्द्र, तुम बल से उत्पन्न…' (ऋ० १०।१५३।२) 'हे इन्द्र हमारे शत्रुओ को मारो' (ऋ० १०।१५२।४) ।

कहीं कहीं स्तुति करनेवाले प्रत्यक्षत कहे जाते हैं और स्तोतव्य वस्तुएँ परोक्षत कही जाती हैं जैसे—'दूसरो की स्तुति मत करो' (ऋ० ८।१।१); 'हे कण्ववशवाले, गाओ' (ऋ० १।३७।१) हे कुशिको, पहुँचो, सावधान रहो' (ऋ० ३।५३।११) ॥

अथ आध्यात्मिक्य उत्तमपुरुषयोगा, अहमिति च एतेन सर्वनाम्ना । यथा एतत्—'इन्द्रो वैकुण्ठ' । लवसूक्तम् । वागाम्भृणीयम् इति ॥ २ ॥

(१) स्वय कही गई ऋचायें उत्तम पुरुष मे होती हैं = मैं' सर्वनाम से सयुक्त रहती हैं जैसे—'इन्द्रो वैकुण्ठ' से आरम्भ होनेवाला सूक्त (ऋ० १०।४८), लव सूक्त (१०।११९) वागाम्भृणीय-सूक्त (१०।१२५) ॥ २ ॥

विशेष—इन सूक्तों मे मत्र के देवता स्वय बोलते है । उदाहरण के लिए वागाम्भृणीय सूक्त ('वाक्सूक्त' या 'देवीसूक्त') लें—अह रुद्रेभिर्वसुभिश्चरामि ।

परोक्षकृता प्रत्यक्षकृताश्च मन्त्रा भूयिष्ठा, अल्पश आध्यात्मिका । अथापि स्तुतिरेव, नाशीर्वाद —'इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचम्' इति यथा एतस्मिन् सूक्ते। अथापि आशीरेव, न स्तुति —'सुचक्षा अहम् अक्षीभ्या भूयासम्, सुवर्चा मुखेन, सुश्रुत् कर्णाभ्यां भूयासम्' इति । तदेतत् बहुलम् आध्वर्यवे याज्ञेषु च मन्त्रेषु ।

परोक्षतः और प्रत्यक्षतः कही गई ऋचायें बहुत अधिक हैं, स्वयं कही गई ऋचायें बहुत कम हैं।

(१) [किसी ऋचा में देवता की] स्तुति ही होती है, कामना [का वर्णन] नहीं जैसे—'मैं अब इन्द्र के वीर कर्मों को कहूँगा' (ऋ० १।३२।१)। इस (मंत्रवाले) सूक्त में।

(२) कहीं-कहीं कामना ही रहती है, स्तुति नहीं जैसे—'मैं आँखों से अच्छी तरह देखूं, मुख से सुन्दर ज्योतिवाला बनूँ, कानों से अच्छी तरह सुनूँ' (मानव गृ० १।९।२५)। ऐसा अधिकांशतः यजुर्वेद में और याज्ञिक-मंत्रों में होता है॥

अथापि शपथाभिशापौ—'अद्या मुरीय यदि यातुधानो अस्मि'। 'अधा स वीरैर्दशभिर्वियूयाः' इति। अथापि कस्यचिद् भावस्य आचिख्यासा—'न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि'। 'तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रे'। अथापि परिदेवना कस्माच्चिद् भावात्—'सुदेवो अद्य प्रपतेदनावृत्'। 'न वि जानामि यदि वेदमस्मि' इति। अथापि निन्दाप्रशंसे—'केवलाघो भवति केवलादी'। 'भोजस्येदं पुष्करिणीव वेश्म' इति। एवम् अक्षसूक्ते द्यूतनिन्दा च कृषिप्रशंसा च। एवम् उच्चावचैः अभिप्रायैः ऋषीणां मन्त्रदृष्टयः भवन्ति॥ ३॥

(३) कहीं-कहीं शपथ खाना और अभिशाप देना भी रहता है—'यदि मैं मायावी राक्षस हूँ तो आज ही मरूँ' (ऋ० ७।१०४।१५); 'नहीं तो उसके दस वीर पुत्र अलग हो जायँ = मर जायँ' (ऋ० ७।१०४।१५)।

(४) कहीं-कहीं किसी अवस्था-विशेष के वर्णन की इच्छा रहती है—'उस समय न मृत्यु थी और न अमरता' (ऋ० १०।१२९।२); 'पहले केवल अन्धकार से अन्धकार छिपा हुआ था' (ऋ० १०।१२९।३)।

(५) कहीं-कहीं किसी अवस्था-विशेष से ज्ञान उत्पन्न होता है—'ये सुन्दर देवता आज ऐसा उड़ें कि फिर न लौटें' (ऋ० १०।९५।१४); 'मैं नहीं जानता कि क्या मैं यही हूँ' (ऋ० १।१६४।३७)।

(६) कहीं-कहीं निन्दा और प्रशंसा रहती है जैसे—'अकेला खानेवाला ही एकमात्र पापी है' (ऋ० १०।११७।६); 'खिलानेवाले (दानी) का घर

मानों कमलों से भरा सरोवर हैं' (१०।१०७।१०)। इसी प्रकार अक्ष-सूक्त (१०।३४) में द्यूत की निन्दा और कृषि की प्रशंसा हुई है।

इस प्रकार मंत्र के विषय में ऋषियों की दृष्टि भिन्न-भिन्न अभिप्रायों से रहती है ॥ ३ ॥

तत् ये अनादिष्टदेवता. मन्त्राः, तेषु देवतोपपरीक्षा । यद्देवतः स यज्ञो वा यज्ञाङ्गं वा, तद्देवता. भवन्ति । अथान्यत्र यज्ञात्–प्राजापत्या. इति याज्ञिकाः, नाराशंसा. इति नैरुक्ता. । अपि वा, सा कामदेवता स्यात्, प्रायोदेवता वा । अस्ति हि आचारो बहुलं लोके—देवदेवत्यम्, अतिथिदेवत्यम्, पितृदेवत्यम् । याज्ञदैवतो मन्त्र इति । अपि हि, अदेवता. देवतावत् स्तूयन्ते । यथा, अश्वप्रभृतीनि ओषधिपर्यन्तानि । अथापि अष्टौ द्वन्द्वानि ॥

जिन मंत्रों में देवता [का] उल्लेख नहीं, उनके देवता का निर्णय करते हैं। जिस देवता का यज्ञ हो, या यज्ञ का अंग भी हो—उन्हीं देवता के वे (मंत्र) होते हैं। यज्ञ से भिन्न-स्थानों में—याज्ञिकों के अनुसार प्रजापति [मंत्र के] देवता होते हैं, निरुक्तकारों के अनुसार नराशंस। अथवा वे ऐच्छिक देवता या देवताओं के समूह के [लिए] हों। संसार में सचमुच यह व्यवहार देखने में आता है कि देवता के लिए, अतिथि के लिए और पितरों के लिए पवित्र वस्तु [दी जाती है]। मंत्र उस देवता का है जिसके लिए यज्ञ हुआ, किन्तु अ-देवता की स्तुति भी देवता के समान होती है जैसे—घोड़े से लेकर ओषधि तक (निघ० ५।३।१-२२) और आठ जोड़े भी (निघ० ५।३।२९-३६)॥

स न मन्येत आगन्तून् इव अर्थान् देवतानाम्, प्रत्यक्षदृश्यम् एतद् भवति । माहाभाग्यात् देवताया. एक. आत्मा बहुधा स्तूयते । एकस्य आत्मन अन्ये देवा. प्रत्यङ्गानि भवन्ति । अपि च, सत्त्वानां प्रकृतिभूमभि ऋषय. स्तुवन्ति इत्याहु । प्रकृतिसार्वनाम्याच्च इतरेतरजन्मान. भवन्ति । इतरेतरप्रकृतय, कर्मजन्मान., आत्मजन्मान. । आत्मा एव एषां रथ भवति, आत्मा अश्व, आत्मा आयुधम्, आत्मा इषव., आत्मा सर्वं देवस्य देवस्य ॥ ४ ॥

कोई देवता-विषयक अर्थ को विलक्षण न मान ले, यह तो प्रत्यक्ष रूप से देखने की चीज़ है—देवता की बड़ी महिमा के कारण एक ही आत्मा की स्तुति (वर्णन) भिन्न-भिन्न प्रकार से होती है। अन्य देवता एक ही आत्मा के भिन्न भिन्न अंग हैं। अथवा, जैसा लोग कहते हैं—वस्तुओं (नामों) की प्रकृति (धातु) की विभिन्नता के कारण और उसकी सर्वव्यापकता के कारण ऋषि गण स्तुति करते हैं। वे एक दूसरे से जन्म पाते हैं (जैसे—दक्ष > अदिति > दक्ष), वे एक दूसरे की प्रकृति (उत्पत्तिस्थान) हैं। उनका जन्म कर्म से भी और आत्मा से भी होता है; आत्मा ही इनका रथ है, आत्मा शस्त्र है, आत्मा बाण है—आत्मा ही देवताओं का सब कुछ है ॥ ४ ॥

द्वितीय-पाद

तिस्र एव देवता—इति नैरुक्ताः। अग्निः पृथिवीस्थानः वायुर्वा इन्द्रो वा अन्तरिक्षस्थानः, सूर्यो द्युस्थानः। तासां माहाभाग्यात् एकैकस्याः अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति। अपि वा, कर्मपृथक्त्वात्। यथा होता, अध्वर्युः, ब्रह्मा, उद्गाता इति, अपि एकस्य सतः। अपि वा, पृथगेव स्युः, पृथक् हि स्तुतयः भवन्ति। तथा अभिधानानि ॥

निरुक्तकारों के मत से तीन ही देवता हैं—(१) पृथ्वी में रहनेवाला अग्नि, (२) अन्तरिक्ष में रहनेवाला वायु या इन्द्र, (३) स्वर्ग में रहनेवाला सूर्य। इनकी बड़ी महिमा के कारण इनमें प्रत्येक के बहुत से नाम हैं। अथवा कर्म अलग-अलग होने के कारण,—जैसे एक को ही होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा और उद्गाता कहते हैं। अथवा, ये अलग-अलग ही हैं क्योंकि स्तुतियाँ और उनके नाम भी अलग-अलग हैं ॥

यथो एतत्—'कर्मपृथक्त्वात्' इति, बहवोऽपि विभज्य कर्माणि कुर्युः। तत्र संस्थानैकत्वं, संभोगैकत्वं च उपेक्षितव्यम्। यथा, पृथिव्यां मनुष्याः, पशवो, देवाः इति स्थानैकत्वं संभोगैकत्वं च दृश्यते। यथा, पृथिव्याः पर्जन्येन च, वाय्वादित्याभ्यां च संभोगः। अग्निना च इतरस्य लोकस्य। तत्र एतत् नरराष्ट्रमिव ॥ ५ ॥

यह जो कहा कि 'कर्म अलग-अलग होने के कारण [एक के अनेक नाम हैं]', तो बहुत-से लोग भी तो आपस में बाँटकर वे ही काम कर सकते हैं ?

ऐसी दशा मे उनके अधिकार-क्षेत्र और भोग क्षेत्र की समानता देखनी चाहिए जैसे मनुष्यो, पशुओ और देवताओ का पृथ्वी-विषयक अधिकार-साम्य और भोग-साम्य देखते हैं। पुन मेघ द्वारा पृथ्वी का भोग, वायु और आदित्य के साथ [देखते हैं], किन्तु दूसरे लोक का [भोग] अग्नि के साथ। यहाँ ये सभी मनुष्यो के राज्य के समान ही है ॥ ५ ॥

अथ आकारचिन्तन देवतानाम्। पुरुषविधा. स्यु इत्येकम्। चेतनावद्वत् हि स्तुतयो भवन्ति, तथा अभिधानानि। अथापि पौरुषविधिकै. अङ्गै. संस्तूयन्ते—'ऋष्वा त इन्द्र स्थविरस्य बाहू'। 'यत्संगृभ्णा मघवन् काशिरित्ते'। अथापि पौरुषविधिकै. द्रव्यसंयोगै –'आ द्वाभ्या हरिभ्यामिन्द्र याहि'। 'कल्याणीर्जाया सुरण गृहे ते'। अथापि पौरुषविधिकै कर्मभि –'अद्धीन्द्र पिब च प्रस्थितस्य'। 'आश्रुत्कर्ण श्रुधी हवम्' ॥

अब देवताओ के स्वरूप का वर्णन होगा। कुछ लोगो के विचार से ये मनुष्य के समान है क्योकि (१) इनकी स्तुतियाँ और सम्बोधन भी चेतन जीवो के समान होते हैं। पुन, (२) इनकी स्तुतियाँ मनुष्यों के अङ्गों से (इन्हे) संयुक्त करके होती है जैसे—'हे इन्द्र, बलवान् के ये तुम्हारे हाथ अच्छे है' (ऋ० ६।४७।८), 'हे धनपति, जिस [द्यावा-पृथिवी] को तुमने पकड़ा है वे तेरी कलाई है' (ऋ० ३।३०।५)। पुन, (३) मनुष्यों की वस्तुओ से संयुक्त करके [इनकी स्तुतियाँ होती है] जैसे—'हे इन्द्र, दो घोड़ो पर आओ' (ऋ० २।१८।४), 'तुम्हारे घर मे सुन्दरी स्त्री और रमणीय वस्तुयें है (ऋ० ३।५३।६)। पुन (४) मनुष्यो के कामों से संयुक्त करके [स्तुति होती है] जैसे—'हम रखे (सोम), को, इन्द्र, पियो खाओ तुम' (ऋ० १०।११६।७), 'हे सुनने वाले कानवाले, मेरी आवाज सुनो' (ऋ० १।१०।९) ॥

अपुरुषविधा स्यु –इत्यपरम्। अपि तु यद् दृश्यते, ॥ ६ ॥ अपुरुषविध तत्। यथा, अग्नि, वायु., आदित्य, पृथिवी, चन्द्रमा. इति ॥

कुछ लोगों के विचार से [देवता] मनुष्यों के समान नहीं है क्योंकि (इनके विषय में) जो दिखते है, ॥ ६ ॥ वह मनुष्यों से भिन्न है जैसे—अग्नि, वायु, आदित्य, पृथ्वी, चन्द्रमा इत्यादि ॥

यथो एतत्—'चेतनावद्वत् हि स्तुतयो भवन्ति' इति, अचेतनानि अपि एव स्तूयन्ते यथा—अक्षप्रभृतीनि ओषधिपर्यन्तानि ॥ यथो अतत्—'पौरुषविधिकै. अङ्गैः सस्तूयन्ते' इति, अचेतनेपु अपि एतद् भवति—'अभिक्रन्दन्ति हरितेभिरासभि.' इति ग्रावस्तुति. ॥ यथो एतत्—'पौरुषविधिकै. द्रव्यसयोगै' इति, एतदपि तादृशमेव—'सुखं रथ युयुजे सिन्धुरश्विनम्' इति नदीस्तुति. ॥ यथो एतत्—'पौरुषविधिकै. कर्मभि.' इति एतदपि तादृशमेव—'होतुश्चित्पूर्वे हविरद्यमाशत' इति ग्रावस्तुति. एव ॥

यह जो कहा कि 'चेतन के समान स्तुतियाँ होती हैं', वैसी तो अचेतन की भी स्तुतियां होती हैं जैसे—पासे से लेकर ओषधि तक की (निघण्टु ५।१।४–२२)।

(२) यह जो कहा कि 'इनकी स्तुतिया मनुष्यों के अङ्गो से सयुक्त करके होती हैं वैसी तो अचेतन की भी होती हैं जैसे—'अपने हरे मुँह से चिल्लाते हैं' (१०।९४।२)–यह पाषाण की स्तुति है।

(३) यह जो कहा कि 'मनुष्यो की वस्तुओं से सयुक्त करके [स्तुतियाँ होती हैं]', वैसी तो यहाँ (अचेतन में) भी है जैसे—'सिन्धु ने घोड़े का सुखद रथ जोता' (ऋ० १०।७५।९)—यह नदी की स्तुति है।

(४) यह जो कहा कि 'मनुष्यो के कामो से सयुक्त करके [स्तुतियाँ होती हैं]', वैसी ही तो यहाँ भी है जैसे—'होता के ही सामने भोज्य हवि खाया' (ऋ० १०।९४।२) यह भी पाषाण की स्तुति है ॥

अपि वा, उभयविधा. स्युः। अपि वा, अपुरुषविधानाम् एव सता कर्मात्मान. एते स्युः। यथा, यज्ञो यजमानस्य। एष च आख्यानसमय. ॥ ७ ॥

अथवा वे (देवता) दोनों तरह के हैं अथवा ये मनुष्यों में न पाई जानेवाली [पृथिवी आदि वस्तुओं] के कर्म के रूप में हैं जैसे—यज्ञ यजमान का [कर्म.रहस्य] । यह मत कथा में प्रवीण लोगों का है ॥ ७ ॥

तृतीय-पाद

तिस्रः एव देवता. इत्युक्तं पुरस्तात्। तासां भक्तिसाहचर्यं

व्याख्यास्याम. । अथ एतानि अग्निभक्तीनि—अयं लोक., प्रातः सवनम्, वसन्तः, गायत्री, त्रिवृत् स्तोमः, रथन्तरं साम, ये च देवगणाः समाम्नाताः प्रथमे स्थाने, अग्नायी पृथिवी इळा इति स्त्रिय. । अथास्य कर्म—वहनं च हविषाम्, आवाहनं च देवतानाम् । यच्च किंचिद् दार्ष्टिविषयकम्, अग्निकर्म एव तत् ॥

पहले कहा जा चुका है कि तीन ही देवता हैं। हम उनके विभाग (Jurisdiction) और सहचरों की व्याख्या करेंगे।

(१) अग्नि के ये विभाग हैं—यह लोक (पृथ्वी), प्रातःकाल का सवन, वसन्त ऋतु, गायत्री छन्द, तीन बार का स्तोम (प्रार्थना), रथन्तर नाम का साम, प्रथम स्थान में गिनाये गये देवता-गण; अग्नायी, पृथ्वी, इला—ये स्त्रियाँ। इनके काम हैं—हवि पहुँचाना और देवताओं को बुलाना। जो कुछ दृष्टि विषयक है, वह अग्नि का ही काम है।

अथास्य सस्तविका. देवा—इन्द्रः सोम., वरुण, पर्जन्य. ऋतव. । आग्नावैष्णव च हवि. । न तु ऋक् संस्तविकी दशतयीषु विद्यते । अथापि आग्नापौष्ण हवि., न तु संस्तव. । तत्र एता विभक्तस्तुतिम् ऋचम् उदाहरन्ति ॥ ८ ॥

इनके साथ स्तुति किये जाने वाले देवता ये हैं—इन्द्र, सोम, वरुण, पर्जन्य, ऋतुएँ। अग्नि और विष्णु को सयुक्त हवि देते हैं, किन्तु [सयुक्त] स्तुति की ऋचा [ऋग्वेद के] दस भागों मे कही नही। इसी प्रकार अग्नि और पूषा को सयुक्त हवि देते हैं, किन्तु वैसी स्तुति नही है। इनकी अलग-अलग स्तुति दिखानेवाली ऋचा का उदाहरण देते हैं ॥ ८ ॥

पूषा त्वेतश्च्यावयतु प्र विद्वाननष्टपशुर्भुवनस्य गोपाः ।
स त्वैतेभ्य. परि ददत्पितृभ्योऽग्निर्देवेभ्य. सुविदत्रियेभ्यः ॥

(अनष्टपशु·) जिसके पशु नष्ट नहीं होते, (भुवनस्य गोपा) पृथ्वी का जो पालक है, (विद्वान्) वह ज्ञानी (पूषा) पूषा नामक देवता (त्वा) तुम्हें (इत·) यहाँ से (प्रच्यावयतु) च्युत करे। (स) वह (अग्नि) अग्नि देवता (त्वा) तुम्हें (एतेभ्य) इन (पितृभ्य) पितरो को, और (सुविदत्रियेभ्य·) सुन्दर धन देने वाले (देवेभ्य.) देवताओं को (परिददत्) दे दे। (ऋ० १०।१७।३) ॥

पूषा त्वा इत प्रच्यावयतु, विद्वान्, अनष्टपशु, भुवनस्य गोपा इति। एष हि सर्वेषा भूताना गोपायिता आदित्य। 'स त्वैतेभ्य परि ददत्पितृभ्य'—इति साशयिक तृतीय पाद। पूषा पुरस्तात्, तस्य अन्वादेश—इत्येकम्। अग्नि उपरिष्टात्, तस्य प्रकीर्तना—इत्यपरम्। अग्नि देवेभ्य सुविदत्रियेभ्य। सुविदत्र धन भवति। विन्दते वा एकोपसर्गात्, ददाते वा स्यात् द्व्युपसर्गात् ॥ ९ ॥

पूषा तुम्हें यहाँ से च्युत करे वह ज्ञानी है उसके पशु नष्ट नहीं हुए हैं, वह ससार का रक्षक है। वह आदित्य ही सभी जीवों का पालक है। वह तुम्हें इन पितरों को दे दे—यह तीसरा पाद सदिग्ध है। पूषा का नाम पहले आ चुका है इसमे उ ो का बाद म उल्लेख है—यह एक मत है। दूसरा मत है कि अग्नि का नाम बाद म आता है उसी का उल्लेख यहाँ है। अग्नि उदार देवताओ को [तुम्हे दे दें]। सुविदत्र = धन। एक उपसर्ग (सु) के बाद √ विद् (पाना) से, या दो उपसर्गों (सु वि) के बाद √ दा (देना) से बना है ॥

अथ एतानि इन्द्रभक्तीनि—अन्तरिक्षलोक, माध्यन्दिन सवनम्, ग्रीष्म, त्रिष्टुप्, पञ्चदश स्तोम, बृहत् साम, ये च देवगणा समाम्नाता मध्यमे स्थाने याश्च स्त्रिय। अथास्य कर्म—रसानुप्रदान, वृत्रवध, या च का च बलकृति इन्द्रकर्म एव तत्। अथ अस्य सस्तविका देवा—अग्नि, सोम, वरुण, पूषा, बृहस्पति, ब्रह्मणस्पति, पर्वत, कुत्स, विष्णु, वायु। अथापि मित्र वरुणेन सस्तूयते। पूष्णा रुद्रेण च सोम। अग्निना च पूषा। वातेन च पर्जन्य ॥

(२) ये इन्द्र के विभाग हैं—अन्तरिक्षलोक दोपहर का (माध्यन्दिन) सवन ग्रीष्म ऋतु त्रिष्टुप छन्द पन्द्रह बार का स्तोम बृहत् नाम का साम मध्य स्थान मे गिनाये गये देवगण और स्त्रियाँ। इनके काम हैं—रस दान करना और वृत्र को मारना। जो कुछ बल का काम है वह इन्द्र का ही काम है। इनके साथ स्तुति किये जाने वाले देवता ये हैं—अग्नि सोम वरुण पूषा बृहस्पति ब्रह्मणस्पति पर्वत कुत्स विष्णु और वायु। पुन मित्र की स्तुति वरुण के साथ होती है सोम की पूषा और रुद्र के साथ पूषा की अग्नि के साथ और पर्जन्य की वात के साथ ॥ १० ॥

अथ एतानि आदित्यभक्तीनि—असौ लोक., तृतीयसवनम्, वर्षा; जगती, सप्तदश स्तोम, वैरूपं साम, ये च देवगणा. समाम्नाता. उत्तमे स्थाने, याश्च स्त्रिय.। अथास्य कर्म—रसादान, रश्मिभिश्च रसधारणम्, यच्च किंचित् प्रवह्लितम् आदित्यकर्म एव तत्। चन्द्रमा वायुना सवत्सरेण इति सस्तव.॥

(३) ये आदित्य के विभाग हैं—वह लोक (स्वर्ग), तीसरा (साय) सवन वर्षा ऋतु जगती-छन्द, सतरह बार का स्तोम वैरूप नाम का साम, उत्तम स्थान मे गिनाये गये देवता और स्त्रियां। इनके काम हैं—रस ग्रहण करना और किरणो से उसे धारण करना। जो कुछ गुप्त अर्थ है, वह आदित्य का ही काम है। इनकी स्तुति चन्द्रमा, वायु और सवत्सर के साथ की जाती है॥

एतेषु एव स्थानव्यूहेषु ऋतुच्छन्द स्तोमपृष्ठस्य भक्तिशेषम् अनुकल्पयीत। शरत्, अनुष्टुप्, एकविंश. स्तोम., वैराज साम—इति पृथिव्यायतनानि। हेमन्त, पङ्क्ति., त्रिणव: स्तोम, शाक्वर साम—इति अन्तरिक्षायतनानि। शिशिर, अतिच्छन्दा, त्रयस्त्रिंश स्तोम, रैवतं साम—इति द्युभक्तीनि॥ ११॥

स्थान के इन्ही विभागो मे ऋतु, छन्द स्तोम-भाग [आदि] अवशिष्ट अशो का विभाजन कर लें जैसे—शरद् ऋतु, अनुष्टुप् छन्द, इक्कीस बार का स्तोम, वैराज नामक साम—य पृथ्वी के विषय हैं। हेमन्त ऋतु पंक्ति-छन्द, सत्ताईस (३×९) बार का स्तोम, शाक्वर नामक साम—ये अन्तरिक्ष के विषय हैं। शिशिर ऋतु, अतिच्छन्दा छन्द, तैंतीस बार का स्तोम, रैवत नामक साम—य स्वर्ग से सम्बद्ध हैं॥ ११॥

विशेष—स्थान तो तीन ही हैं—पृथ्वी, अन्तरिक्ष, स्वर्ग किन्तु ऋतु, छन्द, स्तोम केवल तीन ही नही, छ: हैं—उन्हें भी किसी प्रकार इन्ही तीन स्थानों मे अन्तर्भूत करना है इसलिए यास्क ने बाकी बचे हुए ऋतु, छन्द आदि का भी विभाजन समान रूप से कर दिया है॥ ११॥

मन्त्रा मननात्। छन्दासि छादनात्। यजुः यजते। साम समितम् ऋचा। अस्यते वा। ऋचा सम मेने—इति नैदाना.। गायत्री गायते स्तुतिकर्मण। त्रिगमना वा विपरीता। 'गायतो

मुखात् उदपतत्' इति च ब्राह्मणम्। उष्णिक् उत्स्नाता भवति। स्निह्यतेः वा स्यात् कान्तिकर्मणः। उष्णीषिणी इव—इति औपमिकम्। उष्णीषं स्नायतेः॥

मन्त्र √मन् (चिन्तन) से; छन्द √छद् (विचारों को ढँकना, सीमित करना) से; यजु √यज् (पूजा) से; साम, ऋचा द्वारा समान रूप से सीमित होने के कारण (सम् √मा); या √अस् (फेंकना) से। वैदिक-छन्दों में निष्णात (नैदान) लोगों का कहना है—'इसे ऋचा के समान समझा'। गायत्री √गै = 'स्तुति करना' से, या त्रि √गम् (तीन बार आनेवाली) उलट कर बनी हो। ब्राह्मण में कहा है—'गाते गाते [ब्रह्मा के] मुख से गिर पड़ी'। उष्णिक् 'ऊपर से स्नान किये हुए' (उत् √स्ना); या √स्निह् = 'शोभा' से। उपमा के विचार से—मानों पगड़ी से संयुक्त (उष्णीषिणी) है। उष्णीष (पगड़ी) √स्नै (ढँकना) से॥

ककुप् ककुभिनी भवति। ककुप् च कुब्जः च कुजतेः वा, उब्जतेः वा। अनुष्टुप् अनुष्टोभनात्। 'गायत्रीमेव त्रिपदां सतीं चतुर्थेन पादेन अनुष्टोभति'—इति च ब्राह्मणम्। बृहती परिबर्हणात्। पंक्तिः पञ्चपदा। त्रिष्टुप् स्तोभति उत्तरपदा। का तु त्रिता स्यात्? तीर्णतमं छन्दः। त्रिवृत् वज्रः। तस्य स्तोभनी इति वा। 'यत् त्रिः अस्तोभत् तत् त्रिष्टुभः त्रिष्टुप्त्वम्'—इति विज्ञायते॥ १२॥

ककुप् आनन्द से युक्त (ककुभिनी) है, 'ककुप्' और 'कुब्ज' दोनों √कुज् (वक्र) या √उब्ज् (दबाना) से। 'अनुष्टुप्' अनु √स्तुभ् (पीछे स्तुति करना) से। ब्राह्मण में कहा है—'यह (अनुष्टुप्) तीन चरणों वाली गायत्री का, अपने चौथे चरण से स्तवन करते हुए, अनुगमन करता है'। 'बृहती' अपनी परिवृद्धि के कारण (√बृह्)। 'पंक्ति' पाँच पाद होने के कारण। त्रिष्टुप् का उत्तर-पद, स्तुति (√स्तुभ्) के कारण। परन्तु इस त्रित्व का क्या अर्थ है? यह सबसे तेज छन्द है (√तॄ)। अथवा, तीन आवरण वाले वज्र की स्तुति करता है (√स्तुभ्)। 'जो तीन बार स्तुति की, वही त्रिष्टुप् की विशेषता है'—यह मालूम होता है॥ १२॥

जगती गततमं छन्दः। जलचरगतिः वा। 'जल्गल्यमानः असृजत्' इति च ब्राह्मणम्। विराट् विराजनात् वा, विराध-

नात् वा, विप्रापणात् वा। विराजनात् संपूर्णाक्षरा, विराधनात् ऊनाक्षरा, विप्रापणात् अधिकाक्षरा। पिपीलिकमध्या इत्यौपमिकम्। पिपीलिका पेलतेः गतिकर्मण.॥

जगती सबसे अधिक दूर तक गया हुआ छन्द है (√गम्), या जलचर की गतिवाला है। ब्राह्मण में कहा है—'[ब्रह्मा ने] सृष्टि की इच्छा न रखते हुए इसे बनाया'। 'विराट्' वि√राज् (अधिकार) से, वि√राध् (विरोध) से, या वि प्र√आप् (विस्तार) से। अक्षरों के पूरे होने पर वि√राज् से, उनके कम होने पर वि√राध् से और उनके अधिक होने पर वि प्र√आप् से। उपमा की दृष्टि से इसे पिपीलिक मध्या (जिसके बीच में अक्षर उसी प्रकार कम हों जैसे चींटी का बिचला भाग) कहते हैं। 'पिपीलिका' √पेल् = 'जाना' से॥

इति इमा. देवताः अनुक्रान्ता —सूक्तभाजः, हविर्भाजः, ऋग्भाजश्च भूयिष्ठा। काश्चित् निपातभाजः॥ अथ उत अभिधाने सयुज्य हविश्चोदयति—इन्द्राय वृत्रघ्ने, इन्द्राय अंहोमुचे इति। तानि अपि एके समामनन्ति, भूयांसि तु समाम्नानात्। यत् तु सविज्ञानभूत स्यात् प्राधान्यस्तुति, तत् समामने॥ अथ उत कर्मभि ऋषि. देवता. स्तौति—वृत्रहा, पुरन्दर इति। तानि अपि एके समामनन्ति, भूयांसि तु समाम्नानात्। व्यञ्जनमात्रं तु तत् तस्याभिधानस्य भवति। यथा ब्राह्मणाय बुभुक्षिताय ओदनं देहि, स्नाताय अनुलेपनं, पिपासते पानीयम् इति॥१३॥

इस तरह इन देवताओं का वर्णन हुआ। सूक्त-द्वारा सम्बोधित, हवि को पानेवाले तथा ऋचाओं द्वारा सम्बोधित (देवता) सबसे अधिक हैं। कुछ आकस्मिक (निपात = कम) रूप से भी वर्णित हैं।

कहीं-कहीं उनके नाम से संयुक्त करके हवि देते हैं जैसे—वृत्र को मारनेवाले इन्द्र के लिए, दुःख से बचानेवाले इन्द्र के लिए। कुछ लोग इनका भी संग्रह कर लेते हैं, किन्तु ये संग्रह किये जाने से अधिक हैं। मैं उनका ही संग्रह करता हूँ जो (नाम) रूढ़ हो गया है और जिनके द्वारा मुख्य रूप से स्तुति की जाती है (देवताओं के विशेषणों का संग्रह नहीं करूँगा)।

पुनः, ऋषिगण देवताओं की स्तुति उनके कर्म का उल्लेख करते हुए करते

हैं जैसे—वृत्र को मारनेवाला, पुर का नाशक (= इन्द्र)। कुछ लोग इनका भी सग्रह कर लेते हैं, परन्तु ये सग्रह किये जाने से अधिक हैं। ये (विशेषण) उनके नाम का केवल प्रकाशन करते हैं जैसे—भूखे ब्राह्मण को भात दो, नहाये हुए को अनुलेपन (तेल आदि), प्यासे को पानी ॥ १३ ॥

चतुर्थ-पाद

अथातः अनुक्रमिष्यामः। अग्निः पृथिवीस्थानः, तं प्रथमं व्याख्यास्यामः। अग्निः कस्मात्? अग्रणीः भवति, अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते, अङ्गं नयति संनममानः। अक्नोपनः भवति—इति स्थौलाष्ठीविः। न क्नोपयति = न स्नेहयति। त्रिभ्य आख्यातेभ्यः जायते—इति शाकपूणिः। इतात्, अक्तात् दग्धात् वा, नीतात्। स खलु एतेः अकारम आदत्ते, गकारम् अनक्तेः वा दहते. वा, नी परः। तस्य एषा भवति ॥

अब हम क्रमश. वर्णन करेंगे। अग्नि का स्थान पृथ्वी मे है, उसकी व्याख्या पहले करेंगे। (१) 'अग्नि' कैसे ? ये अग्रणी (नेता) हैं (√नी) यज्ञो मे सबसे पहले लाये जाते हैं, कोई वस्तु दी जाने पर उसे अपना अंग बना लेते हैं। स्थौलाष्ठीवि कहते हैं कि ये शोषक हैं (अ—क्नूप्)। नही भिगाते, स्निग्ध नही करते। शाकपूणि कहते हैं कि [यह शब्द] तीन क्रियाओ से बना है—√इ (जाना), √अञ्ज् (चमकना) या √दह् (जलाना), और √नी (ले जाना) से। √इ से अकार, √अञ्ज् या √दह् (दग्ध) से गकार और सबसे अन्तिम वर्ण √नी से बना है। यह उनको (ऋचा) है ॥ १४ ॥

अग्निमीळे पुरोहितं, यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्।

(पुरोहितं) पुरोहित स्वरूप, (यज्ञस्य) यज्ञ के (देवम्) देवता, (ऋत्विजम्) ऋत्विज = समय पर यज्ञ करानेवाले. (रत्नधातमम्) सबसे अधिक धन देनेवाले (होतारम्) हवन करनेवाले (अग्निम्) अग्नि को (ईळे) नमस्कार करता हूँ। (ऋ० १।१।१)॥

अग्निम् ईळे=अग्नि याचामि। ईलिः अध्येषणाकर्मा, पूजाकर्मा वा। पुरोहितः व्याख्यातः। यज्ञ. च। देवः दानाद् वा, दीपनाद् वा द्योतनाद् वा, द्युस्थानो भवति इति वा। यो देवः, सा देवता। होतारं=ह्वातारम्। जुहोतेः होता इति और्णवाभः।

रत्नधातमम्=रमणीयानां धनानां दातृतमम् । तस्य एषा अपरा भवति ॥ १५ ॥

अग्निम् ईळे = अग्नि से माँगता हूँ । √ईड् = आराधना या पूजा । पुरोहित (२।१२) और यज्ञ (३।१९) की व्याख्या हो चुकी है । 'देव' √दा (देना), √दीप् (चमकना) या √द्युत् (जलना) से । अथवा स्वर्ग में स्थान होने के कारण । जो देव है वही देवता भी है । होतार = बुलानेवाले को । और्णवाभ के मत से 'होता' √हु (यज्ञ करना) से बना है । रत्नधातमम् = रमणीय धनों के सबसे बड़े दाता को । उनकी यह दूसरी (ऋचा) है ॥ १५ ॥

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत । स देवाँ एह वक्षति ।

(अग्निः) अग्नि (पूर्वेभिः) प्राचीनकाल के (उत) और (नूतनैः) नये (ऋषिभिः) ऋषियों के द्वारा (ईड्यः) पूजनीय हैं (सः) वे (देवान्) देवताओं को (इह) यहाँ (आवक्षति) ले आवें । (ऋ० १।१।२) ॥

अग्निः यः पूर्वैः ऋषिभिः ईडितव्यः=वन्दितव्यः, अस्माभिः च नवतरैः, स देवान् इह आवहतु इति । स न मन्येत, अयमेव 'अग्निः' इति, अपि एते उत्तरे ज्योतिषी 'अग्नी' उच्येते । ततो नु मध्यमः ॥ १६ ॥

अग्नि जो पूर्वकालिक ऋषियों से ईडितव्य = वन्दनीय हैं, और हम-जैसे नवीन [ऋषियों] के भी । वे देवताओं को यहाँ लायें । कोई यह न समझे कि केवल यही (पार्थिव) अग्नि ['अग्नि' कहलाता] है । बल्कि ये ऊपर के दोनों ज्योति-पुञ्ज (बिजली और सूर्य) भी 'अग्नि' कहलाते हैं । तो [यह ऋचा] मध्यम (अग्नि = बिजली) की है ॥ १७ ॥

अभि प्रवन्त समनेव योषाः कल्याण्यः स्मयमानासो अग्निम् ।
घृतस्य धाराः समिधो नसन्त ता जुषाणो हर्यति जातवेदाः ॥

(समनाः) एक समान बुद्धि या मनवाली, (कल्याण्यः) सुन्दरी तथा (स्मयमानासः) मुस्कुराती हुई (योषाः) स्त्री (इव) के समान [वे बिजलियाँ] (अग्निम्) अग्नि को (अभि प्रवन्त) उत्पन्न करें, या उसके प्रति झुकें । (घृतस्य) घी की (धाराः) धारायें (समिधः) समिधाओं से (नसन्त) मिल जायँ, (ताः) उन्हें (जुषाणः) पीता हुआ (जातवेदाः) जातवेद नामक अग्नि (हर्यति) प्रसन्न होता है । (ऋ० ४।५८।८) ।

अभिनमन्त समनस इव योषाः । समनं समननात् वा,

संमाननात् वा । 'कल्याण्यः स्मयमानासो अग्निनम्' इत्यौपमिकम् । घृतस्य धाराः = उदकस्य धाराः । समिधः नसन्त । नसतिः आप्नोतिकर्मा वा, नमतिकर्मा वा । 'ता जुषाणो हर्यति जातवेदाः' हर्यतिः प्रेप्साकर्मा, अभिहर्यति इति ॥

समान मन वाली स्त्रियों के समान (वे) झुकें । समन = साथ-साथ साँस लेनेवाली (सम् √अन्) या साथ-साथ सोचनेवाली (सम् √मन्) 'सुन्दरी' मुस्कुराती हुई [स्त्रियों के समान] अग्नि के प्रति —यह उपमा है । घृत की धारायें = जल की धारायें । समिधा (लकड़ी) से मिलें । √नस् = 'पाना' या 'झुकना' । 'उनका आनन्द लेता हुआ, जीवरूपी धन धारण करने वाला (जातवेद) देव प्रसन्न होता है ।' √हर् = पाने की इच्छा अर्थात् वह बार-बार पाने की इच्छा करता है ॥

'समुद्रादूर्मिर्मधुमाँ उदारत्' इति आदित्यम् उक्तं मन्यन्ते । समुद्राद्ध्येषोऽद्भ्यः उदेति'—इति च ब्राह्मणम् । अथापि ब्राह्मणं भवति—'अग्निः सर्वाः देवताः' इति । तस्य उत्तरा भूयसे निर्वचनाय ॥ १७ ॥

'सागर से है मधुमय तरग उठ आई' (ऋ० ४।५८।१)—यहाँ आदित्य का वर्णन मानते हैं । ब्राह्मण वाक्य भी है—'यह समुद्र और जल से निकलता है' (कौषी० ब्रा० २५।१) । और भी ब्राह्मण-वाक्य है—'अग्नि सभी देवता हैं' (ऐ० ब्रा० ६।३ इत्यादि) । इसके बाद की [ऋचा] स्पष्टतर उदाहरण के लिये है ॥ १७ ॥

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥

[लोग उसे] इन्द्र, मित्र, वरुण या अग्नि कहते हैं, और वह दिव्य गरुत्मान् सुन्दर पंखो से युक्त है । एक ही सत्त्व को ऋषिगण बहुत प्रकार से कहते हैं—अग्नि, यम और मातरिश्वा कहते हैं । (ऋ० १।१६४।४६) ॥

इममेव अग्निं महान्तम् आत्मानम्, एकम् आत्मानं बहुधा मेधाविनो वदन्ति = इन्द्रं मित्रं वरुणम् अग्निं दिव्यं च गरुत्मन्तम् । दिव्यः = दिविजः । गरुत्मान् = गरणवान् । गुर्वात्मा,

महात्मा इति वा। यस्तु सूक्त भजते, यस्मै हवि निरुप्यते, अयमेव स अग्नि.। निपातमेव एते उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेते ॥ १८ ॥

इसी महान आत्मा को, एक आत्मावाले अग्नि को मेधावी लोग नाना प्रकार से पुकारते हैं—इन्द्र, मित्र, वरुण तथा दिव्य गरुत्मान। दिव्य = स्वर्ग मे उत्पन्न। गरुत्मान् = प्रार्थना (√गृ) से युक्त, गुरु आत्मावाला या महात्मा जो सूक्त पाता है (= जिसके लिए सूक्त है) तथा जिसे हवि मिलता है वह यही (पार्थिव) अग्नि है। ये ऊपर के दोनों ज्योति पुञ्ज (सूर्य और विद्युत) । इस नाम से कभी कभी ही पाते हैं ॥ १८ ॥

पञ्चम पाद

जातवेदा कस्मात् ? जातानि वेद। जातानि वा एन विदु। जाते जाते विद्यते इति वा। जातवित्तो वा=जातधन। जातविद्यो वा=जातप्रज्ञान। 'यत् तत् जात. पशून् अविन्दत तज्जातवेदसो जातवेदस्त्वम्'—इति ब्राह्मणम्। 'तस्मात् सर्वान् ऋतून् पशव. अग्निम् अभिसर्पन्ति'—इति च। तस्य एषा भवति ॥ १९ ॥

(१) जातवेदा कैसे ? सभी उत्पन्न वस्तुओं को जानता है, या उत्पन्न वस्तुएँ उसे जानती हैं, या वह प्रत्येक उत्पन्न वस्तु में विद्यमान है, या उत्पन्न वस्तुएँ ही उसके लिए वित्त = धन हैं, या उत्पन्न वस्तुएँ उसके लिए विद्या = ज्ञान हैं। ब्राह्मण में कहा है—'उसने जन्म लेते ही पशुओं को पाया, यही जातवेदा की विशेषता है' (मैत्रा० स० १।८।२) यह भी कहा है (मैत्रा० स० १।८।२) कि 'इसीलिए सभी ऋतुओं में पशुगण अग्नि के पास जाते हैं। उसकी यह (ऋचा) है ॥ १९ ॥

प्र नूनं जातवेदमश्वं हिनोत वाजिनम्। इदं नो बर्हिरासदे ॥

(नूनं) सचमुच (वाजिन) बलशाली (अश्व) घोड़ा के समान (जातवेदसम्) जातवेद को (न) हमारे (इद) इस (बर्हि) कुश पर (आसदे) बैठने के लिए (प्र हिनोत) प्रेरित करो। (ऋ० १०।१८८।१) ॥

प्र हिणुत जातवेदसं कर्मभि, समश्नुवानम्। अपि वा, उपमार्थे स्यात्—अश्वमिव जातवेदसम् इति। इदं नो बर्हि आसीदतु

इति ॥ तदेतत् एकम् एव जातवेदसं गायत्र तृचं दशतयीषु विद्यते । यत्तु किंचित् आग्नेयं तत् जातवेदसानां स्थाने युज्यते ॥

जातवेद को अपने कर्मों से प्रेरित करो, जो सर्वव्यापक है (√अत्) अथवा, उपमा के अर्थ में है—घोड़े के समान जातवेद को । हमारे इस कुशासन पर बैठे । [ऋग्वेद के] दश खण्डों मे, जातवेदा को सम्बोधित, तीन चरणों वाली गायत्री (छन्द) का यह एक ही मन्त्र है । जो कुछ अग्नि का है, वह जातवेद के स्थान मे भी ठीक-ठीक बैठता है ॥

स न मन्येत अयमेव अग्नि. इति । अपि एते उत्तरे ज्योतिपी जातवेदसौ उच्येते । ततो नु मध्यम.— अभि प्रवन्त समनेव योपा.' इति । तत्पुरस्तात् व्याख्यातम् । अथ असौ आदित्यः—'उदुत्यं जातवेदसम्' इति । तत् उपरिष्टात् व्याख्यास्यामः । यस्तु सूक्तं भजते, यस्मै हवि. निरुप्यते, अयमेव स अग्निः जातवेदाः । निपातमेव एते उत्तरे ज्योतिपी एतेन नामधेयेन भजेते ॥ २० ॥

कोई यह न सोचे कि केवल यही अग्नि [जातवेदा कहलाते हैं], बल्कि ऊपर के दोनों ज्योति पुञ्ज भी जातवेदा कहलाते हैं । [यह ऋचा] मध्यम-अग्नि (बिजली) की है—'समान मन वाली स्त्रियों के समान वे झुकें (ऋ० ४।५८।८) । इसकी व्याख्या ऊपर हो गई है (७।१७) । अब वह आदित्य—'उस जातवेदस् को ऊपर'…(ऋ० १।५०।१)—इसकी व्याख्या नीचे होगी (१२।१५) । जो सूक्त पाता है, जिसे हवि मिलता है, वह यही (पार्थिव) अग्नि जातवेदा है । ऊपर के ये दोनों ज्योति पुञ्ज इस नाम से कभी-कभी ही पाते हैं ॥ २० ॥

षष्ठ-पाद

वैश्वानर. कस्मात् ? विश्वान् नरान् नयति । विश्वे एनं नराः नयन्ति इति वा । अपि वा, विश्वानर एव स्यात्, प्रत्यृतः सर्वाणि भूतानि । तस्य वैश्वानरः । तस्य एषा भवति ॥ २१ ॥

(१) वैश्वानर कैसे ? सभी मनुष्यों को ले जाता है, या इसे ही सभी मनुष्य ले जाते हैं । अथवा 'विश्वान् + नर' (सबको व्याप्त करने वाला) से बना हो क्योंकि सभी जीवों को व्याप्त करता है—उसी से वैश्वानर हुआ । इसकी यह (ऋचा) है ॥ २१ ॥

महात्मा इति वा। यस्तु सूक्त भजते, यस्मै हविः निरुप्यते, अयमेव स अग्नि। निपातमेव एते उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेते ॥ १८ ॥

इसी महान् आत्मा को एक आत्मावाले अग्नि को मेधावी लोग नाना प्रकार से पुकारते हैं—इन्द्र, मित्र वरुण तथा दिव्य गरुत्मान। दिव्य = स्वर्ग मे उत्पन्न। गरुत्मान् = प्रार्थना (√गॄ) से युक्त, गुरु आत्मावाला या महात्मा जो सूक्त पाता है (= जिसके लिए सूक्त है) तथा जिसे हवि मिलता है वह यही (पार्थिव) अग्नि है। ये ऊपर के दोनो ज्योति पुञ्ज (सूर्य और विद्युत्)। इस नाम से कभी कभी ही पाते हैं ॥ १८ ॥

पञ्चम-पाद

जातवेदा कस्मात्? जातानि वेद। जातानि वा एन विदु। जाते जाते विद्यते इति वा। जातवित्तो वा=जातधन। जातविद्यो वा=जातप्रज्ञान। 'यत् तत् जात पशून् अविन्दत तज्जातवेदसो जातवेदस्त्वम्'—इति ब्राह्मणम्। 'तस्मात् सर्वान् ऋतून् पशव अग्निम् अभिसर्पन्ति'—इति च। तस्य एषा भवति ॥ १९ ॥

(२) जातवेदा कैसे? सभी उत्पन्न वस्तुओं को जानता है, या उत्पन्न वस्तुएँ उसे जानती हैं, या वह प्रत्येक उत्पन्न वस्तु में विद्यमान है, या उत्पन्न वस्तुएँ ही उसके लिए वित्त = धन हैं, या उत्पन्न वस्तुएँ उसके लिए विद्या = ज्ञान हैं। ब्राह्मण मे कहा है— उसने जन्म लेते ही पशुओं को पाया, यही जातवेदा की विशेषता है' (मैत्रा० स० १।८।२) यह भी कहा है (मैत्रा० स० १।८।२) कि 'इसीलिए सभी ऋतुओं में पशुगण अग्नि के पास जाते हैं। उसकी यह (ऋचा) है ॥ १९ ॥

प्र नून जातवेदसमश्व हिनोत वाजिनम्। इद नो बर्हिरासदे ॥

(नून) सचमुच (वाजिन) बलशाली (अश्व) घोड़ा के समान (जातवेदसम्) जातवेद को (न) हमारे (इद) इस (बर्हि) कुश पर (आसदे) बैठने के लिए (प्र हिनोत) प्रेरित करो। (ऋ० १०।१८८।१) ॥

प्र हिणुन जातवेदस कर्मभि, समश्नुवानम्। अपि वा, उपमार्थे स्यात्—अश्वमिव जातवेदसम् इति। इद नो बर्हि आसीदतु

मैं वृषभ अर्थात् जल बरसानेवाले की, महीत्व = प्रधानता का वर्णन करूँगा। पूरव = पूर्ति के योग्य वर्षा की कामनावाले ऐसे मनुष्य, जिस वृत्रहण = मेघनाशक की सचते = सेवा करते हैं। दस्यु $\sqrt{}$दस = नाश से क्योंकि इसमें रस नष्ट हो जाते हैं तथा यह [मेघ अपने प्रभाव से] कामों को नष्ट कर देता है। उस, अग्नि वैश्वानर ने मारकर काष्ठा = जल को हिलाया शम्बर = मेघ को फाड डाला॥

अथ असौ आदित्य —इति पूर्वे याज्ञिका। एषा लोकाना रोहण, सवनाना रोह आम्नात। रोहात् प्रत्यवरोह चिकीर्षित। ताम् अनुकृति होता आग्निमारुते शस्त्रे, वैश्वानरीयेण सूक्तेन प्रतिपद्यते। सोऽपि न स्तोत्रियम् आद्रियेत। आग्नेयो हि भवति। तत आगच्छति मध्यस्थाना देवता रुद्र च मरुतश्च। तत अग्निम् इहस्थानम्। अत्रैव स्तोत्रिय शसति॥

प्राचीन याज्ञिकों के मत से वह आदित्य ही है। कहा गया है कि लोकों के वृद्धि क्रम से सवन (सोम चुआना) का भी वृद्धिक्रम होता है। वृद्धि के क्रम के बाद ह्रास का क्रम (प्रत्यवरोह) भी कहा जाता है। यज्ञकर्ता (होता) इस क्रम (अनुकृति) को अग्नि और मरुत् के आवाहन [के समय] में वैश्वानर सूक्त के द्वारा सम्पन्न करता है। वह भी स्तोत्र पर अधिक बल न दे क्योंकि वह अग्नि का है। तब वह मध्यम स्थान के देवता—रुद्र और मरुद्गण पर आता है तब इस संसार में स्थित अग्नि पर आता है। यही वह स्तोत्र-पाठ करता है॥

अथापि वैश्वानरीयो द्वादशकपालो भवति। एतस्य हि द्वादशविध कर्म। अथापि ब्राह्मण भवति—'असौ वा आदित्योऽग्निर्वैश्वानर' इति। अथापि निवित् सौर्यवैश्वानरी भवति—'आ यो द्या भात्या पृथिवीम्' इति। एष हि द्यावापृथिव्यौ आभासयति। अथापि छान्दोमिक सूक्त सौर्यवैश्वानर भवति—'दिवि पृष्टो अरोचत' इति एष हि दिवि पृष्टो अरोचत इति। अथापि हविष्पान्तीय सूक्त सौर्यवैश्वानर भवति।

पुन वैश्वानर को [हवि] बारह पात्र खण्डों में मिलता है क्योंकि उसके बारह तरह के काम हैं। इसके अलावे ब्राह्मण वाक्य भी है— वह आदित्य ही अग्नि वैश्वानर है (मै० सं० २।१।२)। पुन, निवित् (एक तरह की

वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हि कं भुवनानामभिश्रीः ।
इतो जातो विश्वमिदं वि चष्टे वैश्वानरो यतते सूर्येण ॥

(वैश्वानरस्य) वैश्वानर की (सुमतौ) भक्ति या श्रद्धा में (स्याम) हम सब रहें, जो (राजा) राजा है तथा (भुवनाना) सभी जीवों का (अभिश्री॰) आश्रय-स्थान है (हि कं)×। (इतो) इस स्थान से (जात) उत्पन्न होकर (इद) इस (विश्वं) पूर्व पृथ्वी को (वैश्वानरः) वैश्वानर नामक अग्नि (विचष्टे) देखता है तथा (सूर्येण) सूर्य के साथ (यतते) चलता है। (ऋ० १।९८।१) ॥

इतो जात सर्वमिदम् अभिविपश्यति । वैश्वानरः संयतते सूर्येण । राजा य सर्वेपा भूतानाम् आश्रयणीय , तस्य वय वैश्वानरस्य कल्याण्या मतौ स्याम । तत्क. वैश्वानर ? मध्यम' इति आचार्या । वर्षकर्मणा हि एनं स्तौति ॥ २२ ॥

इस (ससार) से उत्पन्न होकर वह इस सारे विश्व का निरीक्षण करता है, वैश्वानर सूर्य के साथ चलता है। जो राजा और सभी जीवों का आश्रय है, उस वैश्वानर की कल्याण करनेवाली इच्छा में हम रहें। सो यह वैश्वानर कौन-सा है ? आचार्यों का कहना है कि यह मध्यम-स्थान का अग्नि है क्योंकि वर्षा के अर्थ से मिलाकर इसकी स्तुति होती है ॥ २२॥

प्र नू महित्व वृपभस्य वोच य पूरवो वृत्रहण सचन्ते ।
वैश्वानरो दस्युमग्निर्जघन्वाँ अधूनोत्काष्ठा अव शम्बर भेत् ॥

(नु) अब [मैं] (वृपभस्य) वृष के समान बलवान् की (महित्वं) महिमा (प्र वोचम्) कहता हूँ, (य) जिस (वृत्रहण) वृत्रमारक की (पूरव) पूर्ति चाहनेवाले लोग (सचन्ते) सेवा करते हैं, (वैश्वानर) वैश्वानर नाम के (अग्नि॰) अग्नि ने (दस्यु) दस्यु को (जघन्वान्) मारकर (काष्ठा) जल को (अधूनोत्) हिला दिया तथा (शम्बरं) मेघ को (अव भेत्) फाड दिया। (ऋ० १।५९।६) ॥

प्र ब्रवीमि तत् महित्व=महाभाग्यम् , वृपभस्य=वर्पितु' अपाम् , य पूरव.=पूरयितव्या' मनुष्या॰, वृत्रहणं=मेघहनं, सचन्ते सेवन्ते वर्पकामा' । दस्युः दस्यतेः क्षयार्थात् । उपदस्यन्ति अस्मिन् रसा॰, उपदासयति कर्माणि । तम् अग्नि. वैश्वानरो घ्नन् अवाधूनोत् अप काष्ठा. । अभिनत् शम्बरं=मेघम् ॥

बिना स्पर्श करते ये धारण करता है, तब वह जलता है। तभी वह (अग्नि) उत्पन्न होता है। कहा भी है—'वैश्वानर सूर्य के साथ चलता है' (ऋ० १। ९८।१)। कोई अपने आपके साथ नहीं जा सकता है, दूसरे के साथ ही कोई जा सकता है। इस लोक में अग्नि को प्रज्वलित करता है, इसकी किरणें उस लोक (स्वर्ग) से प्रकट होती हैं। यहाँ से इसकी ज्वालायें [प्रकट होती हैं]—दोनों प्रकाशों का संसर्ग देखकर ही [ऋषि ने] ऐसा कहा है॥

अथ यानि एतानि औत्तमिकानि सूक्तानि, भागानि वा, सावित्राणि वा, पौष्णानि वा, वैष्णवानि वा, तेषु वैश्वानरीया. प्रवादा. अभविष्यन्। आदित्यकर्मणा च एनम् अस्तोष्यन्–इति उदेषि, इति अस्तमेषि, इति विपर्येषि इति॥

[यदि वैश्वानर स्वर्ग के देवता या सूर्य होते] तो उत्तम स्थान वाले देवताओं—सविता, पूषा या विष्णु—के जितने सूक्त या अंश होते उनमें वैश्वानर की बातें अवश्य रहती। सूर्य के अर्थ के साथ इनकी स्तुति भी होती जैसे—उगते हो, अस्त होते हो, घूमते हो॥

आग्नेयेषु एव हि सूक्तेषु वैश्वानरीया. प्रवादा. भवन्ति। अग्निकर्मणा च एनं स्तौति। इति दहसि, इति वहसि, इति पचसि इति। यथो एतत्-'वर्षकर्मणा हि एनं स्तौति' इति, अस्मिन् अपि एतत् उपपद्यते।

'समानमेतदुदकमुच्चैत्यव चाहभि.।
भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नय.॥

इति सा निगदव्याख्याता॥ २३॥

केवल अग्नि के सूक्तों में ही वैश्वानर की बातें हैं और अग्नि के अर्थ के साथ इनकी स्तुति होती है—जलाते हो, ले जाते हो, पकाते हो। यह जो कहा कि 'वर्षा के अर्थ से इनकी स्तुति होती है', वह बात तो इस (अग्नि) में भी प्राप्त है—'यह जल (एतत् उदकम्) दिन के समान है (अहभि समानम्), कभी उठता है (उच्चा एति) कभी गिरता (अव च) है, मेघ पृथ्वी में प्राण लाते हैं; अग्नि स्वर्ग में' (ऋ० १।१६४।५१) यह तो पाठ से ही स्पष्ट है॥२३॥

विशेष—इस लम्बे व्याख्यान का निष्कर्ष यही है कि वैश्वानर केवल इसी पार्थिव अग्नि को कहते हैं, न बिजली को और न सूर्य को। अगले पाद में इसका निराकरण होगा॥

स्तुति) भी सूर्यरूपी वैश्वानर के लिए है—'जो स्वर्ग को और पृथ्वी को प्रकाशित करता है' (निविद् ८)। द्यावापृथिवी को यही चमकाता है। छान्दोमिक सूक्त (वा० स० ३३।९२) भी सूर्यरूपी वैश्वानर के लिए है। 'वह स्वर्ग मे तभी शोभित हुआ' (आश्व० श्रौ० ८।१०)। वह सचमुच ही तब स्वर्ग मे शोभित हुआ। पेय-हवि का सूक्त (हविष्पान्तीय-सूक्त, ऋ० १०। ८८।४) भी सूर्यरूपी वैश्वानर का ही है॥

अयमेव अग्नि वैश्वानर —इति शाकपूणि.। विश्वानरौ एते उत्तरे ज्योतिपी। वैश्वानर अयम्, युत् ताभ्या जायते। कथ नु अयम् एताभ्या जायते इति ? यत्र वैद्युत. शरणम् अभिहन्ति, यावदनुपात्तो भवति, मध्यमधर्मा एव तावत् भवति। उदकेन्धन, शरीरोपशमन.। उपादीयमान. एव अय सपद्यते—उदकोपशमन, शरीरदीप्ति॥

शाकपूणि के मत से यही (पार्थिव) अग्नि वैश्वानर है ये ऊपर के ज्योति पुञ्ज भी वैश्वानर ही है। यह (अग्नि) वैश्वानर है क्योंकि उन दोनो से उत्पन्न होता है। वह उनसे कैसे उत्पन्न होता है ? जब विद्युत् रूपी अग्नि किसी निवास-स्थान पर (शरण) गिरता है तो जबतक किसी पर ठहरता नही, तबतक मध्यम स्थान का (बिजली) गुण लिये रहता है—जल मे जलता है, किसी ठोस वस्तु में बुझ जाता है। किसी वस्तु पर ठहरने के बाद ही यह (अग्नि) उत्पन्न होता है—तब वह जल मे बुझने वाला और वस्तु मे जलनेवाला बन जाता है॥

अथ आदित्यात्। उदीचि प्रथमसमावृत्ते आदित्ये कस वा मणि वा परिमृज्य प्रतिस्वरे यत्र शुष्कगोमयम् असस्पर्शयन् धारयति, तत् प्रदीप्यते। स. अयमेव सपद्यते। अथापि आह—'वैश्वानरो यतते सूर्येण' इति। न च पुन. आत्मना आत्मा सयतते। अन्येन एव अन्य सयतते। इत इमम् आदधाति। अमुत. अमुष्य रश्मय. प्रादुर्भवन्ति। इत अस्य अर्चिप। तयो भासो ससङ्ग दृष्ट्वा एवमवक्ष्यत्॥

आदित्य से भी [अग्नि निकलता है]। आदित्य जब उत्तर दिशा मे पहले पहल आता है तब कोई आदमी काँसा या मणि (=कई धरातलवाली) को साफ करके उसकी किरणों को सामने सूखे गोबरवाले स्थान में, उसमे

पात्र खेण्डो (कपालो) में होता है', तो पात्रों का सम्बन्ध व्याख्या से नहीं क्योंकि सूर्य के एक पात्र-खण्ड भी हैं, पाँच भी। (३) यह जो कहा कि 'ब्राह्मण वाक्य है', तो ब्राह्मण बहुत-से विभागों का वर्णन करते हैं जैसे—पृथ्वी वैश्वानर है, संवत्सर वैश्वानर है, ब्राह्मण (जाति) वैश्वानर है ॥

यथो एतत्—'निवित् सौर्यवैश्वानरी भवति' इति, अस्यैव सा भवति–'यो विड्भ्यो मानुषीभ्यो दीदेत्' इति। एष हि विड्भ्यो मानुषीभ्यो दीप्यते। यथो एतत्—'छान्दोमिक सूक्त सौर्यवैश्वानर भवति' इति, अस्यैव तत् भवति–'जमदग्निभिराहुत' इति। जमदग्नय प्रजमिताग्नय. वा, प्रज्वलिताग्नय वा। ते अभिहुत भवति। यथो एतत्—'हविष्पान्तीय सूक्तं सौर्यवैश्वानर भवति' इति अस्य एव तत् भवति ॥ २४ ॥

(४) यह जो कहा कि 'प्रशंसा वाक्य (निवित्) सूर्यरूपी वैश्वानर के हैं', वे वाक्य तो इसी (अग्नि) के हैं जैसे—'जो मनुष्य जाति के लिए चमका' (निविद् ८)। यह (अग्नि) ही मनुष्य जाति के लिए चमकता है। (५) यह जो कहा कि 'छान्दोमिक-सूक्त (वाज० सं० ३३।९२) सूर्यरूपी वैश्वानर का है', वह तो इसी (अग्नि) का है जैसे—'चमकते हुए अग्नि से हवन किया गया' (आश्व० श्रौत० ८।९) जमदग्नि=प्रजमित (अधिक मात्रा में उत्पन्न) अग्नि या प्रज्वलित अग्नि। उन्हीं के द्वारा इसे आहुति दी जाती है। (६) यह जो कहा कि 'हविष्पान्तीय-सूक्त (ऋ० १०।८८।४) सूर्यरूपी वैश्वानर का है', वह तो इसी (अग्नि) का है—॥ २४ ॥

हविष्पान्तमजरं स्वर्विदि दिविस्पृश्याहुतं जुष्टमग्नौ।
तस्य भर्मणे भुवनाय देवा धर्मणे कं स्वधया पप्रथन्त॥

(अजर) अविनाशी, (जुष्ट) सुन्दर या सेव्य (पान्त) तथा पीने योग्य (हवि) हवि, (स्वर्विदि) सूर्य को जानने वाले तथा (दिविस्पृशि) स्वर्ग को छूने वाले (अग्नौ) अग्नि में (आहुतम्) पड गया है. (देवा) देवताओं ने (तस्य) उसके (भर्मणे) पालन के लिये (भुवनाय) अस्तित्व के लिए तथा (धर्मणे) धारण करने के लिए, उस (स्वधया) अन्न से (पप्रथन्त) फैलाया। (ऋ० १०।८८।१)।

हवि यत् पानीयम्, अजर सूर्यविदि दिविस्पृशि अभिहुत जुष्टम् अग्नौ। तस्य भरणाय च, भवनाय च, धारणाय च,

सप्तम-पाद

कृष्ण नियान हरय सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति ।
त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद्घृतेन पृथिवी व्युद्यते ॥

(कृष्ण) काले (नियान) रास्ते से (सुपर्णा) सुन्दर पखोवाले (हरय) घोडे (अप) जल को (वसाना) ढोते हुए (दिवम्) स्वर्ग की ओर (उत्पतन्ति) उड़ते है। (ते) वे (ऋतस्य) जल के (सदनात्) स्थान से (आववृत्रन्) मुड गये (आदित्) तभी (घृतेन) जल से (पृथिवी) पृथ्वी (व्युद्यते) भीग जाती है। (ऋ० १।१६४।४७) ॥

कृष्ण निरयण रात्रि आदित्यस्य । हरय सुपर्णा =हरणा आदित्यरश्मय. । ते यदा अमुत अर्वाञ्च पर्यावर्तन्ते सहस्थानात् उदकस्य आदित्यात् , अथ घृतेन=उदकेन पृथिवी व्युद्यते । घृत-मिति उदकनाम । जिघर्त्त मिश्रतिकर्मण । अथापि ब्राह्मण भवति—'अग्नि वा इतो वृष्टि समीरयति, धामच्छद् दिवि भूत्वा वर्षति, मरुत सृष्टा वृष्टि नयन्ति, यदा असो आदित्य अग्नि रश्मिभि पर्यावर्तते, अथ वर्षति' इति ॥

कृष्ण निरयण = आदित्य की रात । सुन्दर पतो वाले घोडे=सूर्य की किरणों का हरण करनेवाले । ये जब उदक के निवास-स्थान से = आदित्य के पास से उल्टा लौटते हैं, तब घृत = जल से पृथ्वी भीग जाती है। घृत = जल, √घृ = 'सीचना' से। ब्राह्मण म भी कहा है—अग्नि यहाँ से वृष्टि भेजता है, वह (वृष्टि) आकाश मे स्थान को ढंककर बरसती है (मेघ), मरुद्गण छोडी हुई वृष्टि को ले जाते हैं जब वह आदित्य अग्नि को अपनी किरणो से घेर लेता है तब वर्षा होती है' (काठक स० ११।१०) ॥

यथो एतत्—'रोहात् प्रत्यवरोह चिकीर्षित.' इति, आम्नाय-वचनात् एतत् भवति। यथो एतत्—'वैश्वानरीयो द्वादश-कपालो भवति' इति, अनिर्वचन कपालानि भवन्ति, अस्ति हि सौर्य एककपाल पञ्चकपालश्च । यथो एतत्—'ब्राह्मण भवति' इति, बहुभक्तिवादीनि ब्राह्मणानि भवन्ति—पृथिवी वैश्वानर, सवत्सरो वैश्वानर, ब्राह्मणो वैश्वानर' इति ।

(१) यहाँ, जो कहा कि 'वृद्धिक्रम के बाद ह्रासक्रम कहा जाता है', वह तो वेद के वाक्यो से होता है। (२) यह जो कहा 'वैश्वानर का [हवि] बारह

मायाम् तु यज्ञियानामेतामपो यत्तूर्णिश्चरति प्रजानन् ॥

(नक्तम्) रात मे (अग्नि) अग्नि (मुव मूर्धा) पृथ्वी का सिर (भवति) बना रहता है, (प्रात) प्रात काल मे (उद्यन्) उगते हुए (सूय) सूय के रूप मे (जायते) निकलता है, (यज्ञियानाम्) पवित्र लोगो की (एता) इस (मायाम्) माया को (उ तु) तो [देखो !] (यत्) जिसे (प्रजानन्) जानकर (तूर्णि) शीघ्र ही (अप) काम को (चरति) कर डालता है। (ऋ० १०।८८।६)॥

मूर्धा=मूर्तम् अस्मिन् धीयते। मूर्धा य सर्वेषा भूताना भवति नक्तम् अग्नि, तत सूर्यं जायते प्रात उद्यन् स एव। प्रज्ञा तु एता मन्यन्ते यज्ञियाना देवाना, यज्ञसम्पादिनाम्। अप यत् कर्म चरति प्रजानन्। सर्वाणि स्थनानि अनुसचरते त्वरमाण। तस्य उत्तरा भूयसे निर्वचनाय ॥ २७ ॥

मूर्धा = जिसमे शरीर धारण किया जाय ($\sqrt{}$मूर्च्छ + $\sqrt{}$धा)। रात मे जो अग्नि सभी जीवो का सिर बनता है सब वही सुबह मे उदीयमान सूय के रूप म निकलता है। इसे यज्ञिय अर्थात् यज्ञ सम्पन्न करने वाल देवताओ की प्रज्ञा (बुद्धि) मानते हैं। अप = जिस कम को, वह जानकर करता है, शीघ्रता से वह सभी स्थानो मे जाता है। उसके बाद की (ऋचा) स्पष्टतर उदाहरण के लिये है ॥ २७ ॥

स्तोमेन हि दिवि देवासो अग्निमजीजनञ्छक्तिभी रोदसिप्राम्।
तमू अकृण्वन् त्रेधा भुवे क स ओषधी पचति विश्वरूपा ॥

(स्तोमेन) स्तुति के द्वारा (दिवि) स्वग मे (देवास) देवताओ ने (शक्तिभि) अपनी शक्ति से (रोदसि प्राम्) द्यावा पृथिवी को पूर्ण करन वाल (अग्निम्) अग्नि को (अजीजनन्) उत्पन्न किया। (तम उ) उसे (भुवे) रहने के लिये (त्रेधा) तीन तरह का (अकृण्वन्) बनाया, (स) वह (विश्वरूपा) नाना प्रकार की (ओषधी) वनस्पतियो को (पचति) पकाता है। (ऋ० १०।८८।१०)॥

स्तोमेन हि य दिवि देवा अग्निम् अजनयन्। शक्तिभि = कर्मभि। द्यावापृथिव्यो आपूरणम्। तम् अकुर्वन् त्रेधाभावाय— पृथिव्याम्, अन्तरिक्षे, दिवि इति शाकपूणि। 'यदस्य दिवि

एतेभ्यः सर्वेभ्यः कर्मभ्यः इमम् अग्निम् अन्नेन अपप्रथन्त इति । अथापि आह ॥ २५ ॥

जो हवि पेय है, अनश्वर है, मोदकारी (जुष्ट) है, सूर्य के ज्ञाता एवं स्वर्ग को छूने वाले अग्नि में दिया जाता है; उसके पालन, अस्तित्व (√भू), तथा धारण के लिए—इन सभी कर्मों के लिए इस अग्नि को [देवताओं ने] अन्न से फैलाया । और भी कहा है ॥ २५ ॥

अपामुपस्थे महिषा अगृभ्णत विशो राजानमुप तस्थुर्ऋग्मियम् ।
आ दूतो अग्निमभरद्विवस्वतो वैश्वानरं मातरिश्वा परावतः ॥

(अपाम्) जल की (उपस्थे) गोद में (महिषाः) बड़े लोगों ने (अगृभ्णत) उसे पकड़ा; (विशः) जातियाँ (ऋग्मियम्) सम्मानयुक्त (राजानम्) राजा के सामने (उप तस्थुः) बैठी थीं । (मातरिश्वा) मातरिश्वा नाम का (दूतः) दूत (वैश्वानर) वैश्वानर नाम के (अग्निम्) अग्नि को (परावतः) बहुत दूर से (विवस्वतः) सूर्य के पास से (आ अभरत्) ले आया है । (ऋ० ६।८।४) ॥

अपाम् उपस्थे=उपस्थाने । महति अन्तरिक्षलोके आसीनाः, महान्तः इति वा । अगृह्णत माध्यमिकाः देवगणाः । विशः इव राजानम् उपतस्थुः । ऋग्मियम्=ऋग्मन्तम् इति वा, अर्चनीयम् इति वा । आहरत् यं दूतः देवानां विवस्वतः = आदित्यात् । विवस्वान्=विवासनवान् । प्रेरितवतः, परागताद्वा । अस्य अग्नेः वैश्वानरस्य मातरिश्वानम् आहर्त्तारम् आह । मातरिश्वा=वायुः, मातरि अन्तरिक्षे श्वसिति, मातरि आशु अनिति इति वा । अथ एनम् एताभ्यां सर्वाणि स्थानानि अभ्यापादं स्तौति ॥ २६ ॥

जल के उपस्थ = गोद में, महान् अन्तरिक्ष लोक में आसीन, अथवा, बड़े । मध्य स्थान वाले देवताओं ने पकड़ा । वे राजा के आगे प्रजा के समान ठहर गये । ऋग्मिय = ऋचाओं से युक्त या पूजनीय । जिसे देवताओं का दूत, चमकने वाले आदित्य के पास से लाया है । विवस्वान् = (अन्धकार) भगाने वाला । प्रेरित करने वाले से या बहुत दूर से । मातरिश्वा को इस वैश्वानर अग्नि का आहर्ता (लाने वाला) कहा गया [redacted] । मातरिश्वा = वायु, क्योंकि 'मातरि' = अन्तरिक्ष में साँस लेता है या अन्तरिक्ष में शीघ्र (आशु) चलता है (√अन) । अब इन दोनों ऋचाओं के द्वारा, सभी स्थानों को व्याप्त करने के लिए, इसकी स्तुति करता है ॥ २६ ॥

मूर्धा भुवो भवति नक्तमग्निस्ततः सूर्यो जायते प्रातरुद्यन् ।

हिन्दी-निरुक्त

परिशिष्ट–१

वैदिक मन्त्रों का पद्यानुवाद

प्रथम अध्याय

पृ० ११–न नूनमस्ति०

न आज भी था कल भी नही है, अभूत बातें जन कौन जाने ?
मस्तिष्क है चपल दूसरो का; विनाश है निश्चित वस्तु का भी ॥

पृ० १२–नूनं सा ते०

हे इन्द्र, तुम्हारा है उत्तम जो दान,
गायक को उससे कर दो वर-प्रदान ।
दो लाभ गायको को, हमसे मत दूर
हो भाग्य, यज्ञ मे बोलें, हम सब शूर ॥

पृ० १४–ऋचां त्वा०

वह पोषक, वृद्धि ऋचाओ की करता है,
शक्वरी पदों मे गान एक गाता है ।
ब्रह्मा विभ्रम का समाधान बतलाता,
अध्वर्यु यज्ञ का पूरा काम कराता ॥

पृ० १६–अक्षण्वन्तः०

वे आंख कान से युक्त मित्रगण सारे,
हैं बुद्धिवेग मे हुए विषम बेचारे ।
मुंह तक या कांखो तक ही वे हैं केवल,
दीखते नहाने योग्य झील-से वे सब ॥

पृ० १८–निष्ट्क्वासः०

वे निर्वसन हो दीनजन, बहुपुत्र हो, वृक से यथा—
डरते हुए रोने लगे—'हो शिशिर जीवन-हित यथा' ।

पृ० १८–हविभिरेके०

हवि देखकर, कुछ सो, स्वर्ग यहीं से पातीं,
कुछ सवन-काल मे सोम चुलाकर जातीं ।
फिर समुद घास्त्रियों को करके, दानों से,
करती कि नरक मे पड़े नहीं पापों से ॥

अस्ति उपमानस्य सम्प्रत्यर्थे प्रयोग. । 'इहेव निधेहि' इति यथा । सुपर्ण्य =सुपतना., एता रात्रय वसते, मातरिश्वन् । ज्योति वर्णस्य । तावत् उपदधाति यज्ञम् आगच्छन् ब्राह्मण. होता, अस्य अग्ने. होतु. अवर. निषीदन् ॥

जबतक ऊषा का प्रकाश (√अञ्ज्) या प्रतिदर्शन होता है । उपमान वाचक ('न') का प्रयोग 'सम्प्रति' (इस समय) के अर्थ मे हुआ है जैसे—इह इव निधेहि (ठीक यहाँ रखो) । सुपर्णी = सुन्दर रीति से गिरनेवाली ये रातें, हे मातरिश्वन् ! वर्ण की ज्योति पहनती है । तबतक यज्ञ मे आया हुआ, इस अग्निरूपी होता के नीचे बैठा हुआ ब्राह्मणरूपी होता उसे धारण करता है ॥

होतृजप तु अनग्निर्वैश्वानरीय. भवति । 'देव सवित ! एत त्वा वृणते अग्नि होत्राय सह पित्रा वैश्वानरेण' इति । इममेव अग्नि सवितारम् आह—सर्वस्य प्रसवितारम् । मध्यम वा उत्तम वा पितरम् । यस्तु सूक्त भजते, यस्मै हवि निरुप्यते, अयमेव स अग्नि वैश्वानर. । निपातमेव एते उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेते भजेते ॥ ३१ ॥

लेकिन होता का पाठ वैश्वानर के लिए है जो अग्नि नही—हे देव सवित ! वह तुम्हें अर्थात् अग्नि को, यज्ञ के लिए, पिता वैश्वानर के साथ चुनता है' (आश्व० श्रौ० १।३) । इसी अग्नि को सविता कहा गया है—सबो को प्रसन्न करने वाले, मध्यम या उत्तम स्थान वाले पिता को । जो सूक्त पाता है और जिसे हवि मिलता है, वह यही (पार्थिव) अग्नि वैश्वानर है। इस नाम से ऊपर के ज्योति पुञ्ज कभी कभी ही [सूक्त और हवि] पाते है ॥

विशेष—विरोधियों के तर्कों का निराकरण करने के बाद यास्क इस निर्णय पर पहुँचते है कि 'वैश्वानर' तीनो अग्नि को कहते हैं—पार्थिव अग्नि बिजली तथा सूर्य । किन्तु सूक्त और हवि पाने वाला अग्नि ही वैश्वानर है ॥ ३१ ॥

इति निरुक्ते सप्तमोऽध्याय ॥

जिसे विचारो शुचि, अप्रमादी; मेधा लिये हो वह ब्रह्मचारी।
द्रोही कभी भी न हुआ तुम्हारा; वह्मन ! मुझे दो निधिपाल को ही ॥

पृ० ४४–ता वां वास्तू०

इच्छा है तेरे उस घर पर जाने की,
किरणें चमकीली बहुत, जहाँ गतिधारी।
हाँ, वही विष्णु जो बड़े चरणवाला है,
उसका उत्तम पद अच्छा चमक रहा है ॥

पृ० ४६–य ईम०

उसके कर्ता ने नहीं उसे है जाना,
उससे छिपने पर भी परन्तु है माना।
वह मातृयोनि में घिरा हुआ अन्दर से,
बहु सन्तानों से युक्त मिला धरती से ॥

पृ० ४७–अयं स०

उसकी ध्वनि है जिससे ढँककर यह वाणी,
होकर के मेघारूढ, घोर-रव करती।
निज गर्जन से तो मुका दिया है नर को,
बिजली बनकर के खींच लिया निज छवि को ॥

पृ० ४९–आर्ष्टिषेणो०

ऋष्टिषेण के पुत्र महात्मा होता के पद पर आये,
नाम दिव्य देवापि देवता-भक्तिज्ञान रखनेवाले।
ऊपर से नीचे को उनने सागर अहा ! उँडेल दिया,
स्वर्गलोक से वर्षावाले जल को मानो ठेल दिया ॥

पृ० ५०–यद्देवापिः०

शन्तनु पर कर कृपा पुरोहित वे देवापि बने होता
चुने गये जब, तब तो उनने ध्यान किया कुछ मन्त्रों का।
तभी बृहस्पति दानविशारद, देवों के सुनने लायक,
वर्षा करनेवाली स्तुति के उनके लिए बने दायक ॥

पृ० ५४–अतिष्ठन्ती०

जो अस्थिर है, जिसका न रोध होना है,
ऐसे जल के ही बीच शरीर पड़ा है।
जल वृत्रदस्यु की छिपी जगह पर बहता,
वह इन्द्रशत्रु बहु अन्धकार में सोता ॥

पृ० ३०–स्थाणुरयं०

वह शुष्क वृक्ष-सा भार वहन करता है,
पढकर वेदो को अर्थ न जान सका है।
अर्थों का ज्ञाता सभी सुफल है पाता,
धो पाप, ज्ञानसे, स्वर्गलोक वह जाता ॥

पृ० ३०–यद् गृहीत०

याद किया पर सका न जान, शब्दो तक ही होना पाठ।
नही कही है जलता आज, आग बिना ज्यो सूखा काठ ॥

पृ० ३१–उत त्वा०

वाणी को लखकर भी न एक लखता है,
उसको सुनकर भी नही एक सुनता है।
लेकिन कुछ को तो है वह देह दिखाती,
पति को सु-वसन पत्नी ज्यो इच्छा लानी ॥

पृ० ३२–उत त्वं० (प्राचीन अर्थ)

वाणी-सगति मे कुछ अर्पश कहाते,
कोई न कठिन पद मे भी उन्हें हराते
माया से, झूठी गौ-सा यह चलता है
फल फूल हीन वाणी ही यह सुनता है ॥

द्वितीय अध्याय

पृ० ३९–यस्मात्परं० (श्वेताश्वतर० ३।९)

जिससे ऊँची नीची कुछ चीज नही है,
जिससे छोटा या बडा नहीं कोई है।
स्वर्ग मे वृक्ष-सा स्थिर होकर ठहरा है
यह सारा उसी पुरुष से पूर्ण हुआ है।

पृ० ४१–विद्या ह वै० (४ श्लोक)

विद्या कभी ब्राह्मण पास बोली—'रक्षा करो मैं निधि हूँ तुम्हारी।
परापवादी, खल या बुरे को; न दो मुझे वीर्यवती बनूँ मैं ॥
जो सत्य द्वारा सुन कर्ण खोलें; न दुःख पाने, अमरत्व देते।
माता-पिता जो समझो उन्हें ही; द्रोही न होना उनका कदापि ॥
गये पढ़ाये गुरु को न माने; जो विप्र, वाणी मन कर्म से भी।
जैसे बने वे गुरु के अमान्य; न मानती है श्रुति भी उन्हें त्यों ॥

पृ० ६४–इन्द्रो अस्मा०

खोदा हमे वज्रधारी बाहुवाले इन्द्र ने,
मारा वृत्र को जो नदियों को घेर डाले था ।
लाये दिव्यपाणि देव हमें यही सविता,
जिनसे प्रसूत हम चारों ओर जाती हैं ॥

पृ० ६४–आ ते कारो०

हे स्तोत्रकार ! हम सुनें तुम्हारी वाणी,
गाड़ी, रथ से तुम दूर-देश से आये ।
मैं दूध पिलानेवाली स्त्री-सी झुकती,
नर का नारी-सा, आलिंगन तव करती ॥

पृ० ६६ उत स्य० (मूल ऋचा में एक 'क्र' काट दें)

यह घोड़ा चाबुक देख दौड़ने लगता,
जब मुँह, गरदन, उर में लगाम है पड़ता ।
संचित अपने बल को घोड़ा यह करता,
झटपट राहों के मोड़ पार कर जाता ॥

तृतीय-अध्याय

पृ० ६८–परिषद्य०

सम्पत्ति दूसरे कुल की त्याज्य रही है,
स्वामी हों तो हम बनें चिरन्तन धन के ।
हे अग्नि, अन्य का जन्मा पुत्र न होता,
दूषित न करो पथ, मूर्ख भले यह लेता ॥

पृ० ६९–न हि ग्रभाय०

हो अन्य पेट का सुखद किन्तु परकुल का,
लेना न कभी, होवे विचार नहिं मन का ।
वह तो अपने ही घर को लौटा जाता,
दो हमें विजेता वीर सुपुत्र नया-सा ॥

पृ० ७०–शासद्वह्नि०

घोषित करता है वाहक पुत्री से पुत्र उसे होगा,
जान रहा वह, प्रकृति-नियम के सर्व विधान को मान रहा ।
जहाँ पिता अपनी पुत्री के लिए खोजने वर जाता,
अपने मन को तबतक वह भी शान्तिपूर्ण धारण करता ॥

पृ० ५५–दासपत्नी०

दास के कलत्र-स्वरूप, छिपे सर्पों से,
पणि द्वारा गौओं से, जल रुके हुए थे।
जल के इस रोके गये नये सोने को,
खोला है उसने, मार वृत्र योद्धा को॥

पृ० ५७–इदं श्रेष्ठं०

ज्योतियों बीच यह श्रेष्ठ ज्योति है आयी,
बहुरंगी, चमकीली, विशाल यह छायी।
सविता से ही प्रसवार्थ प्रसून हुई थी,
रजनी ने उषा-हेतु योनि खाली की॥

पृ० ५७–रुशद्वत्सा०

श्वेतमयी, चमचम करती शोभित पुत्रोंवाली आयी।
कृष्णमयी इसलिए जगह सचमुच खाली करके लायी।
एक तरह का बन्धन वाले अमर बने, आगे पीछे,
आपस में तो रंग बदलते अहोरात्र चलते जाते॥

पृ० ५९–अहश्च कृष्णं०

उजला दिन काली रात अखंड नियम से,
दोनो संसारों में आते क्रम-क्रम से।
वैश्वानर नामक अग्नि जन्म लेते ही,
अपने प्रकाश से हैं तम को हरते ही॥

पृ० ५६–देवानां माने०

देवों के बनने समय प्रथम घन छाये,
इनके छेदों से निकल सभी जल आये।
तीनों मिल क्रम से महि को उष्ण बनाते,
दोनों प्रसन्न करने वाला जल लाते॥

पृ० ६१–इयं शुष्मेभिः०

यह तो अपने बल से, बलशाली लहरों से तोड़ रही,
पर्वत की चोटी को, मानों कमल-मूल हो खोद रही।
रक्षा के ही हेतु सुनिर्मित स्तुतियों के द्वारा हम सब,
सरस्वती की पूजा कर ले, उभय तटों की जो नाशक॥

पृ० ६३–रमध्वं०

मम सोम-सदृश वचनों को सुनो रुको तुम,
हे मग्रवाहिनी, निज गतियों से क्षण तुम।
स्तावक बड़ी ले सिन्धु पास आया हूँ,
मैं कुशिक पुत्र रक्षा को बुला रहा हूँ॥

पृ० ८६–कुह स्वित्०

हे अश्विन् ! तुम रात कहाँ थे ? दिन भर भी तुम कहाँ रहे ?
कहाँ नहाया-खाया तुमने, और कहाँ पर थे ठहरे ?
कौन तुम्हें अपने वासस्थल में शय्या पर ले जाता ?
जैसे देवर को विधवा या ले जाती पति को महिला ।

पृ० ९१–चतुर०

जब तक न रखे वह चारों पासों को, तब तक डरते ।
त्यों ही सज्जन कटुवचनों को इच्छा कभी न करते ॥

पृ० १००–कतरा०

इनमें है पहली कौन, कौन है पीछे ?
हे ऋषियो ! जाने कौन, हुई ये कैसे ?
धारण करती सारी चीजें अपने से,
दोनों दिन मानो घूम रहे पहिये-से ॥

चतुर्थ-अध्याय

पृ० १०१–को नु मर्या०

भाइयो, 'मित्र को मैंने; होकर अलिप्त ही मारा' ।
हैं कौन मित्र यह कहते, अब भाग रहे क्यों हमसे ?

पृ० १०२–वयः सुपर्णा०

सुन्दर पंखोंवाले पक्षी-भाँति यज्ञ में प्रेम रखे,
ऋषिगण करते हुए प्रार्थना इन्द्रदेव के पास गये ।
देव, खोल दो ढँकी जगह को, हम सब की आँखें भर दो,
बँधे जाल में मानों हम सब, देव, जरा बन्धन हर लो ।

पृ० १०४–यदिन्द्र०

हे इन्द्र, चयन के योग्य प्रशंसाप्रद जो,
धन रखा, वज्रधारिन् ! वह सब तुम दे दो ।
तुम भण्डारों का ज्ञान रखे हो, धन को
दोनों हाथों से देव, दिये हो भाओ ॥

पृ० १०५–जुष्टो दमूना०

इधर प्यार से सेवित होकर अतिथि बनो घर में आयो,
अग्निदेव, तुम जानकार हो, इस यज्ञस्थल में आओ ।
सभी शत्रुसेनाओं का करके विनाश डट जाओ,
बने हुए जो शत्रु हमारे, उनका वैभव हर लाओ ॥

पृ० ७३–अभ्रातेव०

जैसे भाई से हीना नारी मनुष्य की ओर चली,
धन पाने के लिए या कि कोई खम्भे पर चढी हुई।
पति की करती हुई कामना सुन्दरवसना नारी-सी,
हँसती सी ऊषा भी मानो रूप मनोरम फैलाती॥

पृ० ७६–न जामये०

तन से निकले हुए तनय ने दिया बहन को भाग नहीं,
किन्तु गर्भ को उसके पति का बना दिया भंडार सही।
जब मातायें सुकृती सन्तानों को करती हैं उत्पन्न,
एक काम उनमें करती है, एक लाभ से है सम्पन्न॥

पृ० ७७–तदद्य वाचं०

तो आज सोच लेता उपाय हूँ पहले,
हम देव लोग असुरों को जीतें जिससे।
हे पंचलोक, तुम यज्ञशेष को खाते,
याज्ञिक हो तुम, मेरा भी यज्ञ रचाते॥

पृ० ७९–दशावनिभ्यो०

दस रक्षक से युक्त और दस कमरबन्द रखनेवाले,
दस जोती रस्सी वाले हैं जो दस ही बन्धनवाले।
दस लगामवाले अमरों की पूजा झटपट ही कर लो,
दस धुरियों को धारण करते, जोते जाने पर दस जो॥

पृ० ८१–अभीदमेको०

मैं हूँ अजेय, इसपर पर्याप्त अकेला,
दो और तीन भी क्या कर सकते मेरा?
मैं तृण की तरह उसे पीसूँ समर में,
क्या इन्द्रहीन रिपु मुझे दोष डालेंगे?

पृ० ८४–त्वया वयं०

हे स्तोत्रनाथ, तुम वृद्धि करो, तुमसे हम,
मानवगण ईप्सित धन-समूह पा जायें।
जो दूर या कि हैं निकट शत्रुगण मेरे,
उन छिपे जनों को करो दीन मैं चीरें॥

पृ० ८४–यत्रा सुपर्णा०

जब अमृत-खण्ड को सुन्दर पर्णों वाले,
अपनी स्तुतियों से लगातार बुलवाते।
मेरे समीप जो नाथ भुवन का पालक,
आया अपक्व-सी बुद्धि लिये वह नायक॥

पृ० ११३–कीयमानो०

चाहते हुए तुम ईन्धन, जलमातृ-निकट हो जाते।
हे अग्नि, तुम्हारा आना, हम भूल नहीं हो सकते।
जिससे कि दूर होकर भी, तुम यहाँ चले हो आते॥

पृ० ११४–कनीनकेव०

जब नये और छेदोंवाले, छोटे आसनपर लकड़ी के।
बैठी गुड़ियों से वे भूरे, घोड़े राहो मे शोभ रहे॥

पृ० ११५–उपो अदर्शि०

उषा शुद्ध करने वाले आदित्य वक्ष-सी दीख पड़ी,
स्तुतिकर्त्ता की भाँति वस्तुएँ प्रिय उसने सामने रखी।
अन्नदायिका माता-सी सोये बच्चो को जगा रही,
आयी, आनेवाली देवीगण मे नियम बहुत रखती॥

पृ० ११७–इमे सुता०

ये गये चुलाये सोम, इन्हे तो पी लो,
हे अश्विन्, प्रातः मे आ, सम बल वाले।
यह तव रक्षा–वन्दन के लिए रखा है,
प्रातः उड़ते कौए ने जगा दिया है॥

पृ० १२०–त्यामिन्द्र०

हे इन्द्र, ध्यान से पीना; यह सोम, प्रार्थना करते।
धन के इच्छुक लोगो ने; तेरी स्तुति की वाणी से॥

पृ० १२१–आ घा ता०

निश्चय ही वे आगामी युग आवेंगे,
जब स्वकुल लोग परकुल की भाँति बनेंगे।
अपनी बाँहों को पति के लिए बिछा दो,
सुभगे, पर, कोई मुझे छोड़ पति माँगो॥

पृ० १२२ द्यौर्मे पिता०

स्वर्गलोक है पिता हमारा, सोदर बन्धु यहाँ रहते,
यह विशाल है माता मेरी पृथ्वी लोग जिसे कहते।
फैले हुए कटोरों के ही बीच पड़ा है गर्भाशय,
यहाँ पिता ने दुहिता को हो धारण गर्भ कराया है॥

पृ० १२३–अदिति०

अदिति स्वर्ग है, अन्तरिक्ष भी, माता, पिता, वहीं नन्दन।
सभी देवता पाँच निवासी, अदिति भूत-भावी है जन॥

पृ० १०६–सं मा०

चारों ओर दे रही हैं कष्ट मुझे ईंटें ये,
मानो हो सपत्नी; इन्द्र, शतशक्तिवाले हो।
चूहा सूत खाता ज्यों ही खातीं मुझे व्याधियाँ
तेरे स्तुतिकर्त्ता को; विचारो स्वर्ग-पृथिवी!

पृ० १०७–इषिरेण०

गतिशील बुद्धि से तुमने जिसे चुलाया,
पैतृक धन-सा ही भोग करें हम सारा।
हे राजन्, सोम, हमारी आयु बढ़ाओ,
ज्यों ग्रीष्मकाल के दिन को सूर्य बढ़ाता॥

पृ० १०८–मरुत्वाँ०

मरुतों के साथी, वर्षा करने वाले, तुम रण रचते,
इन्द्र, पियो तुम सोम, मोद के लिए, बाद मे भोजन के।
मधु की सुन्दर ऊर्मि बहा दो, जरा हमारे उदरो मे,
सोमों के तुम राजा, जिन्हें चुलाया पहले के दिन मे॥

पृ० १०९–सक्तुमिव०

सत्तू को चलनी से पवित्र हैं करते,
त्यो बुद्धिमान मन से वाणी को करते।
है, मित्रो की मित्रता यहाँ दिख जाती,
इनकी वाणी मे शुभ लक्ष्मी बस जाती॥

पृ० ११०–तत्सूर्यस्य०

यही सूर्य का देवभाव है, यही आपकी है महिमा,
जिसने फैले अन्धकार को बीच राह मे हर डाला।
जभी अस्तवल से उसने अपने घोड़ो को जोत लिया,
तभी रात्रि का वस्त्र सभी के लिये वहाँ था फैल रहा॥

पृ० १११–इन्द्रेण०

निर्भय के सँग मे जाते, तुम इन्द्र साथ दिखलाते।
तुम दोनों मोद मनाते, सचमुच समान बलवाले॥

पृ० ११२–ईर्मान्तासः०

जिनके नितम्ब सुविशाल, कमर पतली है,
जो दिव्य शक्ति-सम्पन्न वीर दौड़ाहे।
चढ़तै हैं श्रेणीबद्ध हस-से वे सब,
घोडे पा लेते दिव्य मार्ग को हैं जब॥

प्रमाण-ग्रन्थावली

संस्कृत

१. वैदिक संहिताः (पूना, बम्बई)।
२. निरुक्तम् (दुर्गवृत्तिसमेतम्—बम्बई खेमराजप्रकाशितम्)
३. ,, ,, ,, भदकमकरसम्पादितम्।
४. निरुक्तालोचनम्—सत्यव्रतसामश्रमीप्रणीतम्।
५ पाणिनीया शिक्षा ।
६ निरुक्तस्य स्कन्दमहेश्वरप्रणीते टीके (डा० लक्ष्मणसरूपप्रकाशिते)
७. महाभाष्यम् (पूना), वाराणसी (चौखम्बा)।
८ चतुर्वेदभाष्यभूमिकासंग्रहः (बलदेव उपाध्यायः)। चौखम्बा
९. ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम् (निर्णयसागरीयम्)।
१० काशिका (चौखम्बाप्रकाशिता)।
११. सिद्धान्तकौमुदी (,, ,,)
१२. मीमांसासूत्रम् (शबरभाष्ययुतम्—आनन्दाश्रमीयम्)

हिन्दी

१. वैदिक साहित्य और संस्कृति—प० बलदेव उपाध्याय ।
२. वैदिक साहित्य—प० रामगोविन्द त्रिवेदी ।
३. हिन्दी निरुक्त—पं० सीताराम शास्त्री।
४. संस्कृत का भाषाशास्त्रीय अध्ययन—डा० भोलाशंकर व्यास।
५ भाषाविज्ञान—भोलानाथ तिवारी ।
६ व्याकरणशास्त्र का इतिहास—युधिष्ठिर मीमांसक।

अँगरेजी

1 L Sarup—Introduction to the Nirukta (1920)
2. ,, —The Nirukta, Eng Trans. (1921)
3 , —The Nighantu and the Nirukta.
4 Skold —The Nirukta, Lund, 1926.
5. Siddhesvar Varma—Etymologies of Yaska.
6. ,, ,, *Phonetic Observations of Ancient Hindus.*

पृ० २४-अपामुपस्थे०

जल के सदंक में पकड़ा बड़े सुरों ने,
ये लोग गये सम्मान्य नृपति के आगे।
अग्नि को दूत है सूर्य पास से लाया,
दूर से मातरिश्वा भी वैश्वानर को॥

पृ० ४-मूर्धा भुवो०

पृथ्वी का मस्तक अग्नि, निशा में बनता,
होकर प्रभात में सूर्य वही उग आता।
यह तो पवित्र लोगों की सुन्दर माया,
रख ज्ञान शीघ्र वे सभी कार्य कर पाते॥

पृ० २५-स्तोमेन०

अग्नि को स्वर्ग में देवों ने स्तुतियों से,
उपजाया स्वर्गावनि जो बल से भरते।
रहने को तीन तरह से उसे बनाया,
वह सभी तरह के पौधों को उपजाता॥

पृ० २६-यदेदेन०

जब धारण किया इसे पवित्र देवों ने,
स्वर्ग में अदिति के पुत्र, सूर्य को मानो।
जब गमनशील जोड़े उत्पन्न हुए हैं,
ये सभी लोक को सदा देखते ही हैं॥

पृ० २७-यत्रा वदेते०

करते हैं जहाँ विवाद बड़े औ' छोटे,
जानता कौन है हम याज्ञिक लोगों में।
वे ही समर्थ हैं मित्र, मोद पूर्वक ही,
करते जो यज्ञ, बता सकता क्या कोई?॥

पृ० २७-यावन्मात्र०

जब तक उषा के सुप्रकाश को पहने,
हे मातरिश्व! सुन्दर पंखोंवाला है।
जब तक रखता है, यज्ञ पास में आकर,
ब्राह्मण, होता से निम्न भाग में रहकर॥

7 Rajwade—Yāska's Nirukta, Poona, (1940)

8. Ganganatha Jha Commemoration Volume

9 Encyclopaedia Britannica, Vol 8.

10 Collier's Encyclopaedia, Vol. 7

11 Taraporewala—Elements of the Science of Language

12 P D Gune, Introduction to Comparative Philology Poona, 1950.

13 Bata Krishna Ghosh, Linguistic Introduction to Sanskrit.

14 Skeat, Principles of English Etymology

15 Bloomfield—Vedic Concordance

16 „ —Languge 1933

17 Louis Gray, Foundations of Language 1937.

18 P C. Chakravarty—Linguistic Speculations of the Hindus

19 „ , —Philosophy of Sanskrit Grammar

20 Otto Jesperson—Origin and Development of Language

21 , „ —Philosophy of Grammar.

22. S K Belvalkar—Systems of Sanskrit Grammar

23 R G Bhandarkar—Wilson Philological Lectures

24 S K Chatterjee, Indo Aryan and Hindi

25 K C Chatterjee-Technical Terms of Sanskrit Grammar

26 Max Muller—History of Ancient Sanskrit Literature

27 Macdonell—History of Sanskrit literature

28 , —Vedic Mythology

29 M Winternitz—History of Indian Literature, Vol I (Eng Trans)

30. Bishnupada Bhattacharya—Yaska's Nirukta, 1958

31 Monier Williams—A Sanskrit Dictionary.

32 Macdonell & Keith—Vedic Index

33 R. N Dandekar—Vedic Bibliography